हिन्दी समिति के कुछ अन्य प्रकाशन

स्पिनोजा नीति	४ ००
तत्त्व ज्ञान	४ ००
दर्शन सग्रह	४ ५०
भारतीय दर्शन	८ ००
पश्चिमी दर्शन	४ ००
योग दर्शन	६ ००
मानव बुद्धि सबधी विवेचन	३ ५०
मानवी ज्ञान के सिद्धान्त	८ ००
शुद्ध बुद्धि मीमासा	६ ००
आभास और सत्	११'००
भारतीय सस्कृति	४ ००
सस्कृति का दार्शनिक विवेचन	६ ००
भारतीय नीति शास्त्र	२० ००
धमशास्त्र का इतिहास	
भाग—१	२१ ००
भाग—२	१३ ००
भाग—३	२० ००
बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास	१२ ००
उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास	६ ००
प्रमुख स्मृतियो का अध्ययन	६ ५०
हरिवश पुराण का दार्शनिक विवेचन	४ ५०
ईशावास्य रहस्य	२ ५०
पदार्थ शास्त्र	८ ००

लाइबनित्स

चिद्बिन्दु विद्या, आदि

लैटा

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला—१२७

लाइबनित्स :

चिद्‌बिन्दु विद्या

तथा

अन्य दार्शनिक कृतियाँ

अंग्रेजी अनुवाद

[भूमिका एवं टिप्पणियाँ]

राबर्ट लैटा, एम० ए०, डी० फिल० (एडिन्बर्ग)

हिन्दी अनुवाद

[संक्षिप्त परिचय सहित]

शिवानन्द शर्मा, एम० ए०

अध्यक्ष, दर्शन विभाग, सेंट एँड्रयूज कालेज

गोरखपुर

हिन्दी समिति

सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश

लखनऊ

प्रकाशकीय

जर्मन दार्शनिक लाइबनित्स की गणना आधुनिक काल के उन दार्शनिको में की जाती है, जिन्होने दर्शन को प्राकृतिक विज्ञान के आधार पर समझने की आवश्यकता पर बल दिया। काण्ट आदि परवर्ती विचारको को उनके दर्शन से प्रेरणा मिली। लाइबनित्स ने अपने विचारो को सूत्ररूप में व्यक्त किया है जिनकी व्याख्या राबर्ट लैटा द्वारा की गयी है।

लैटा द्वारा सकलित सामग्री में से इस पुस्तक में लाइबनित्स के वे ही लेख हिन्दी में रूपान्तरित हुए है, जिनका 'चिद्बिन्दु' विद्या से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनकी टिप्पणियो तथा परिशिष्टो के विषयोपयोगी अश भी ले लिये गये हैं और दुरूह विषय को सरल बनाने का सफल प्रयास किया गया है। लैटा की भूमिका के भाग १ और २ के आधार पर हिन्दी अनुवादक ने लाइबनित्स का सक्षिप्त परिचय अपने शब्दो में दिया है जो वस्तुत उनका मौलिक प्रयत्न है। इससे प्रबन्ध में रोचकता आ गयी है। लैटा ने अपनी भूमिका के भाग ३ में कुछ ऐसी गणितीय जटिलताओं का समावेश किया है, जिनका दर्शन के विद्यार्थियो से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है। ऐसी उलझनो को छोड कर अनुवाद में वे ही बातें ग्रहण की गयी हैं जिनका विषय से सीधा सम्बन्ध है।

लाइबनित्स के ग्रन्थ का यह हिन्दी रूपान्तर श्री शिवानन्द शर्मा का एक श्रेयस्कर कार्य है, जिसे उन्होने श्रमपूर्वक सम्पन्न किया है। आशा है, इसके अध्ययन से पाश्चात्य दर्शन के विद्यार्थियो को अपेक्षित ज्ञान लाभ होगा।

शशिकान्त भटनागर
सचिव,
हिन्दी समिति

विषय-सूची

संक्षिप्त परिचय

जीवन तथा कृतित्व — १
मूल स्थापनाएं — ३३
अन्य दार्शनिकों से सम्बन्ध — ८७

चिद्‌बिन्दु विद्या — १२९
वस्तुओं का प्रथम आरम्भण — २१३
प्रकृति और महिमा के नियम — २३१

परिशिष्ट—१ — २५६
परिशिष्ट—२ — २६१
परिशिष्ट—३ — २६५

संक्षिप्त परिचय

जीवन तथा कृतित्व

२१ नवम्बर, १६४६ को लीपूज़िग में गॉटफ्रीड विल्हेल्म लाइबनित्स का जन्म हुआ था। उस समय जर्मनी का जन-जीवन अशान्ति तथा अभावो एव अनिश्चितताओ से आक्रान्त था। तीस वर्षीय युद्ध (१६१८-४८) अभी समाप्त नही हुआ था। जन-मन पुराने तथा नये विश्वासो के द्वन्द्व में फँसा था। छोटे-छोटे राज्यो में बँटे हुए जर्मनी की ये सब परिस्थितियाँ बौद्धिक जागरण के लिए अनुकूल न थी। इसीलिए जर्मनी में अभी तक किसी चिन्तक ने उस विचारधारा का प्रवर्तन नही किया था, जिसे आगे बढ़ाने के लिए क्यूज़ा के निकोलस (१४०१-६४), बर्नार्दिनो तेलेसिओ (मृत्यु १५८८), गिआॅर्दिनो ब्रूनो (१५४८-१६००), गैलीलिओ गैलीलिआइ (१५६४-१६४२), कैम्पानेल्ला (१५६८-१६३९) आदि ने बडे-बडे सकटो का सामना किया था। इन सबने दर्शन की समस्याओ को सुलझाने के लिए प्रकृति के नियमो की खोज का समर्थन किया था।

नवीन बौद्धिक चेतना की लहर पडोसी देशो तक पहुँच चुकी थी। फ्रासीसी विचारक रीने देकात (१५९६-१६५०) के दार्शनिक निबन्ध १६३७ मे लीडेन (हॉलैण्ड) से छप चुके थे। टॉमस हाब्ज इग्लैण्ड से भागकर (१६४०) फ्रास चला गया था और वहाँ वह 'लेवियाथन' पर काम कर रहा था, जिसे १६५१ में प्रकाशित होना था। अनुभववाद के सस्थापक जॉन लॉक (जन्म २९ अप्रैल, १६३२) तथा बुद्धिवाद एव अनुभववाद का समन्वय करने वाले स्पिनोज़ा (जन्म २४ नवम्बर, १६३२) की आयु उस समय १४ वर्ष थी। जर्मनी का दार्शनिक, जिसे जागरण की सर्वात्मवादी प्रवृत्ति को वैज्ञानिक युक्तियो पर आधारित करना था, पैदा हुआ था।

लाइबनित्स को सामाजिक सुविधाओ की कमी थी, किन्तु अपनी निकट परिस्थितियो में कुछ बहुत बडी सुविधाएँ उपलब्ध थी। उसके पिता लीपूज़िग

संक्षिप्त परिचय

जीवन तथा कृतित्व

२१ नवम्बर, १६४६ को लीपृजिग में गॉटफ्रीड विल्हेल्म लाइबनित्स का जन्म हुआ था। उस समय जर्मनी का जन-जीवन अशान्ति तथा अभावो एव अनिश्चितताओं से आक्रान्त था। तीस वर्षीय युद्ध (१६१८–४८) अभी समाप्त नही हुआ था। जन-मन पुराने तथा नये विश्वासो के द्वन्द्व में फँसा था। छोटे-छोटे राज्यो में बँटे हुए जर्मनी की ये सब परिस्थितियाँ बौद्धिक जागरण के लिए अनुकूल न थी। इसीलिए जर्मनी में अभी तक किसी चिन्तक ने उस विचारधारा का प्रवर्तन नही किया था, जिसे आगे बढाने के लिए क्यूज़ा के निकोलस (१४०१–६४), बर्नादिनो तेलेसिओ (मृत्यु १५८८), गिऑर्दानो ब्रूनो (१५४८–१६००), गैलीलिओ गैलीलिआइ (१५६४–१६४२), कैम्पानेल्ला (१५६८–१६३९) आदि ने बडे-बडे सकटो का सामना किया था। इन सबने दर्शन की समस्याओ को सुलझाने के लिए प्रकृति के नियमो की खोज का समर्थन किया था।

नवीन बौद्धिक चेतना की लहर पडोसी देशो तक पहुँच चुकी थी। फ्रासीसी विचारक रेने देकार्त (१५९६–१६५०) के दार्शनिक निबन्ध १६३७ में लीडेन (हॉलैण्ड) से छप चुके थे। टॉमस हॉब्ज इग्लैण्ड से भागकर (१६४०) फ्रास चला गया था और वहाँ वह 'लेवियायन' पर काम कर रहा था, जिसे १६५१ में प्रकाशित होना था। अनुभववाद के सस्थापक जॉन लॉक (जन्म २९ अप्रैल, १६३२) तथा बुद्धिवाद एव अनुभववाद का समन्वय करने वाले स्पिनोज़ा (जन्म २४ नवम्बर, १६३२) की आयु उस समय १४ वर्ष थी। जर्मनी का दार्शनिक, जिसे जागरण की सर्वात्मवादी प्रवृत्ति को वैज्ञानिक युक्तियो पर आधारित करना था, पैदा हुआ था।

लाइबनित्स को सामाजिक सुविधाओ की कमी थी, किन्तु अपनी निकट परिस्थितियो में कुछ बहुत बडी सुविधाएँ उपलब्ध थी। उसके पिता लीपृजिग

के विश्वविद्यालय में दर्शन के अध्यापक तथा स्थानीय न्यायालय मे प्रतिष्ठित विधि-शास्त्री थे । लाइबनित्स की ६ वर्ष की आयु मे ही उनका देहान्त हो गया था, किन्तु वे अपने होनहार पुत्र के लिए एक अच्छा-सा पुस्तकालय छोड गये थे, जिसमें हेरोदोतस, जेनोफोन, प्लिनी आदि प्राचीन तथा रोमनकालीन इतिहासकारो के ग्रन्थो के अतिरिक्त इतालवी आचार्यों के धर्मशास्त्र तथा प्लेटो से लेकर सम्प्रदाय-वादियो तक के दर्शन-ग्रन्थ सुरक्षित थे । लाइवनित्स की माता पर नवीन धार्मिक अनुभूतियो का, जिनमें विश्वास के औपचारिक रूप की अपेक्षा आध्यात्मिक रूप पर बल दिया जा रहा था, गहरा प्रभाव पडा था । लाइवनित्स ने अपनी माता से नवीन धार्मिक प्रवृत्तियो को अर्जित कर लिया था । प्राचीन इतिहास में उसकी स्वाभाविक रुचि थी । माता ने उसकी अभिरुचि देखकर उसके पिता के पुस्तकालय का पट उसके लिए खोल दिया था ।

अपने प्रारम्भिक अध्ययन के विषय में उसने स्वय लिखा है 'स्कूल की उस कक्षा में पहुँचने से पहले जिसमें तर्क-विद्या पढायी जाती थी, मै इतिहासकारो एव कवियो में गहराई तक प्रवेश कर चुका था, क्योकि इतिहासकारो को मै तव से पढ रहा था जव मै कुछ भी पढने के योग्य हुआ था, और कविता में मुझे वहुत सरसता एव सरलता मिली । किन्तु ज्योही मैने तर्क-विद्या सीखना आरम्भ किया, उसमें विचारो का विभाजन और क्रम पाकर, मै वहुत उत्साहित हुआ । मै तुरन्त ध्यान देने लगा, जहाँ तक तेरह वर्ष के वालक के लिए सम्भव था, कि उसमें वहुत काम की चीजें होगी । मुझे तार्किक वर्गों में, जो ससार की सभी वस्तुओ के उपस्थिति-विवरण के रूप में मेरे सामने आये, वहुत आनन्द प्राप्त हुआ और मै, इस सूची का सर्वोत्तम तथा सर्वाधिक विकसित रूप पाने के लिए सभी प्रकार की तर्क-विद्याओ की ओर मुडा । मै स्वय अपने से और अपने सहपाठियो से पूछा करता था कि अमुक वस्तु किस वर्ग में आयेगी ।'

तर्क-विद्या जैसे गहन विषय का अध्ययन, अपने-आप विना किसी निर्देशन के, और इतनी कम आयु में, अपने इस काल के स्वाध्याय के विषय में एक सन्दभ में उसने लिखा है—'जो कला नही जानता वह उस व्यक्ति की अपेक्षा जो स्वशिक्षित है और कला जानता है शीघ्रता और सरलता से कुछ नया खोज लेगा, क्योकि वह एक ऐसे रास्ते और दरवाजे से प्रवेश करता है जो दूमरो को मालूम नही, और

वस्तुओ की एक भिन्न दृष्टि प्राप्त करता है। वह उमसे प्रभावित होता है जो नवीन है, जब कि दूसरे लोग, उसी को खूब जाना-पहचाना समझ कर पास से निकले चले जाते है।' सतर्क पाठक को लाइबनित्स की सभी स्थापनाओ में स्वतन्त्र अध्ययन की मौलिकता दिखाई देती है। वह अपने चिन्तन एव कथन में स्पष्टता लाने का प्रयत्न आजीवन करता रहा। तर्कशास्त्र से ही उसने अपना अध्ययन प्रारम्भ किया था। इसलिए तार्किक शैली उसके चिन्तन में इस प्रकार समा गयी थी कि वह अपने विचारो की अभिव्यक्ति के लिए 'तार्किक कलन' और 'प्रत्ययो की वर्णमाला' की आवश्यकता का अनुभव करने लगा था।

विश्वविद्यालय मे

पन्द्रह वर्ष की आयु में वह लीप्ज़िग विश्वविद्यालय गया। वहाँ इस समय जैकब थोमैसियस दर्शन का अध्यापक था, जो प्राचीन तथा मध्यकालीन दर्शनो के अध्ययन के लिए प्रसिद्ध था। लाइबनित्स ने अपना स्वाध्याय जारी रखा था। विश्वविद्यालय में पहुँच कर उसने कार्दन और कैम्पानेल्ला के ग्रन्थो तथा आधुनिक दर्शनकारो को पढा। उसके सामने एक समस्या थी कि वह अपने दर्शन में सम्प्रदाय-वादियो के 'द्रव्यात्मक आकारो' को स्थान दे, अथवा केप्लर, गैलीलियो तथा देकार्त के सकेतो के अनुसार जगत् की यान्त्रिक व्याख्या प्रस्तुत करे। प्रश्न इस व्याख्या या उस व्याख्या के चुनाव का नही, वल्कि उपयुक्त व्याख्या की खोज का था। वह सम्प्रदायवादी तथा आधुनिक, दोनो दर्शनो का अध्ययन करता था और लीप्ज़िग के समीपवर्ती रोज़ेन्थाल के वन में जाकर घण्टो तक एकान्त में विचार-विमर्श किया करता था। काफी सोच-विचार के बाद, उसने यान्त्रिकी और गणित का अध्ययन प्रारम्भ किया। साम्प्रदायिक दर्शन का उसने एकदम तिरस्कार नही कर दिया था। फलत, १६६२ में 'व्यक्तीकरण के नियमो पर' उसने अपना स्नातकीय शोध-प्रवन्ध प्रस्तुत किया, जिसमें उसने 'नामवादी' मत की पुष्टि की थी।

स्नातकीय अध्ययन समाप्त कर, वह विधि-शास्त्र का अध्ययन करने के विचार से एक वर्ष के लिए जेना चला गया, जहाँ गणित का प्रसिद्ध विद्वान् एर्हार्ड वीगेल 'प्राकृतिक विधान' पर व्याख्यान दे रहा था। वीगेल के प्रभाव से गणित में लाइब-नित्स की रुचि और बढ गयी, किन्तु उसने इतिहास का अध्ययन स्थगित नही किया।

के विश्वविद्यालय में दर्शन के अध्यापक तथा स्थानीय न्यायालय में प्रतिष्ठित विधि-शास्त्री थे । लाइवनित्स की ६ वर्ष की आयु में ही उनका देहान्त हो गया था, किन्तु वे अपने होनहार पुत्र के लिए एक अच्छा-सा पुस्तकालय छोड गये थे, जिसमें हेरोदोतस, जेनोफोन, प्लिनी आदि प्राचीन तथा रोमनकालीन इतिहासकारो के ग्रन्थो के अतिरिक्त इतालवी आचार्यों के धर्मशास्त्र तथा प्लेटो से लेकर सम्प्रदाय-वादियो तक के दर्शन-गन्थ सुरक्षित थे । लाइवनित्स की माता पर नवीन धार्मिक अनुभूतियो का, जिनमें विश्वास के औपचारिक रूप की अपेक्षा आध्यात्मिक रूप पर वल दिया जा रहा था, गहरा प्रभाव पडा था । लाइवनित्स ने अपनी माता से नवीन धार्मिक प्रवृत्तियो को अर्जित कर लिया था । प्राचीन इतिहास में उसकी स्वाभाविक रुचि थी । माता ने उसकी अभिरुचि देखकर उसके पिता के पुस्तकालय का पट उसके लिए खोल दिया था ।

अपने प्रारम्भिक अध्ययन के विषय में उसने स्वय लिखा है 'स्कूल की उस कक्षा में पहुँचने से पहले जिसमें तर्क-विद्या पढायी जाती थी, मैं इतिहासकारो एव कवियो में गहराई तक प्रवेश कर चुका था, क्योकि इतिहासकारो को मैं तव से पढ रहा था जव मैं कुछ भी पढने के योग्य हुआ था, और कविता में मुझे वहुत सरसता एव सरलता मिली । किन्तु ज्योही मैंने तर्क-विद्या सीखना आरम्भ किया, उसमें विचारो का विभाजन और क्रम पाकर, मैं वहुत उत्साहित हुआ । मैं तुरन्त ध्यान देने लगा, जहाँ तक तेरह वर्ष के वालक के लिए सम्भव था, कि उसमें वहुत काम की चीजें होगी । मुझे तार्किक वर्गो में, जो ससार की सभी वस्तुओ के उपस्थिति-विवरण के रूप में मेरे सामने आये, वहुत आनन्द प्राप्त हुआ और मैं, इस सूची का सर्वोत्तम तथा सर्वाधिक विकसित रूप पाने के लिए सभी प्रकार की तर्क-विद्याओ की ओर मुडा । मैं स्वय अपने से और अपने सहपाठियो से पूछा करता था कि अमुक वस्तु किस वर्ग में आयेगी ।'

तर्क-विद्या जैसे गहन विषय का अध्ययन, अपने-आप विना किसी निर्देशन के, और इतनी कम आयु में, अपने इस काल के स्वाध्याय के विषय में एक सन्दभ में उसने लिखा है—'जो कला नही जानता वह उस व्यक्ति की अपेक्षा जो स्वशिक्षित है और कला जानता है शीघ्रता और सरलता से कुछ नया खोज लेगा, क्योकि वह एक ऐसे रास्ते और दरवाजे से प्रवेश करता है जो दूसरो को मालूम नही, और

वस्तुओ की एक भिन्न दृष्टि प्राप्त करता है। वह उमस प्रभावित होता है जो नवीन है, जब कि दूसरे लोग, उसी को खूब जाना-पहचाना समझ कर पास से निकले चले जाते हैं।' सतर्क पाठक को लाइबनित्स की सभी स्थापनाओ में स्वतन्त्र अध्ययन की मौलिकता दिखाई देती है। वह अपने चिन्तन एव कथन में स्पष्टता लाने का प्रयत्न आजीवन करता रहा। तर्कशास्त्र से ही उसने अपना अध्ययन प्रारम्भ किया था। इसलिए तार्किक शैली उसके चिन्तन में इस प्रकार रमा गयी थी कि वह अपने विचारो की अभिव्यक्ति के लिए 'तार्किक कलन' और 'प्रत्ययो की वर्णमाला' की आवश्यकता का अनुभव करने लगा था।

विश्वविद्यालय में

पन्द्रह वर्ष की आयु में वह लीप्जिग विश्वविद्यालय गया। वहाँ इस समय जैकब थोमेसियस दर्शन का अध्यापक था, जो प्राचीन तथा मध्यकालीन दर्शनो के अध्ययन के लिए प्रसिद्ध था। लाइबनित्स ने अपना स्वाध्याय जारी रखा था। विश्वविद्यालय में पहुँच कर उसने कार्दन और कैम्पानेल्ला के ग्रन्थो तथा आधुनिक दर्शनकारो को पढा। उसके सामने एक समस्या थी कि वह अपने दर्शन में सम्प्रदायवादियो के 'द्रव्यात्मक आकारो' को स्थान दे, अथवा केप्लर, गैलीलियो तथा देकार्त के सकेतो के अनुसार जगत् की यान्त्रिक व्याख्या प्रस्तुत करे। प्रश्न इस व्याख्या या उस व्याख्या के चुनाव का नही, बल्कि उपयुक्त व्याख्या की खोज का था। वह सम्प्रदायवादी तथा आधुनिक, दोनो दर्शनो का अध्ययन करता था और लीप्जिग के समीपवर्ती रोजेन्थाल के वन में जाकर घण्टो तक एकान्त में विचार-विमर्श किया करता था। काफी सोच-विचार के बाद, उसने यान्त्रिकी और गणित का अध्ययन प्रारम्भ किया। साम्प्रदायिक दर्शन का उसने एकदम तिरस्कार नही कर दिया था। फलत, १६६२ में 'व्यक्तीकरण के नियमो पर' उसने अपना स्नातकीय शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया, जिसमें उसने 'नामवादी' मत की पुष्टि की थी।

स्नातकीय अध्ययन समाप्त कर, वह विधि शास्त्र का अध्ययन करने के विचार से एक वर्ष के लिए जेना चला गया, जहाँ गणित का प्रसिद्ध विद्वान् एर्हार्ड वीगेल 'प्राकृतिक विधान' पर व्याख्यान दे रहा था। वीगेल के प्रभाव से गणित में लाइबनित्स की रुचि और बढ गयी, किन्तु उसने इतिहास का अध्ययन स्थगित नही किया।

की ओर जा चुका था । फ्रास मे लुई चौदहवे ने "ऑर्डोनेन्स सिविल" के नाम से एक नवीन वैधानिक व्यवस्था प्रचलित की थी । जर्मनी में भी देश की गतिविधि के अनुकूल विधान की आवश्यकता अपेक्षित थी । नूर्नवर्ग से फ्रैंकफर्ट जाते समय, लाइवनित्स ने वैधिक शिक्षा के सम्वन्ध में अपने कुछ विचार लेखवद्ध किये थे, जिन्हें उसने वॉइनवर्ग को दिखाया था । वॉइनवर्ग ने उसे उस लेख को बिना अपना नाम दिये हुए प्रकाशित करने और शोनवर्न को समर्पित करने की सलाह दी । इस प्रकाशन और समर्पण के उपलक्ष्य में आर्कविशप ने उसे डा० लासर की सहायता करने के लिए नियुक्त किया ।

अपनी नियुक्ति के कार्यकाल में, वॉइनवर्ग की सम्मति से, लाइवनित्स ने एक पत्र एव लेख-माला प्रकाशित की, जिमका उद्देश्य तत्कालीन धार्मिक एव दार्शनिक विवादो को शान्त करना था । इन लेखो में लाइवनित्स के दर्शन के प्रारम्भिक सकेत मिलते हैं । बेकन और देकार्त की भाँति, वह प्रकृति की सामान्य यान्त्रिक व्याख्या का अनुमोदन करता है, किन्तु वह अन्तिम व्याख्या की दृष्टि से पदार्थमय तत्त्वो की परिकल्पना को अपर्याप्त दिखाता है । उसके विचार से प्रकृति के विविध उपादानो में सगति दिखाना आवश्यक है और यान्त्रिक व्याख्याएँ इसके लिए अनुपयुक्त है । यह किसी एक अपदार्थ तत्त्व की स्थापना से ही सम्भव है । लाइवनित्स के इस काल के लेखो से पता चलता है कि उसने अरस्तू का अच्छा अध्ययन किया था और उसके प्रकृति की सोद्देश्यता के विचार से सहमत था ।

इसी काल में उसने मारियस निज़ोलियस नामक इतालवी भाषा-वैज्ञानिक के १५५३ में प्रकाशित ग्रन्थ 'एन्तीव्रार्वेरस, इत्यादि' का पुन सपादन किया था । भूमिका में लाइवनित्स ने दार्शनिक अध्ययन के विकास एव प्रसार के निमित्त कुछ वहुत ही उपयोगी सुझाव दिये है । दार्शनिक विचारो को उचित रूप में प्रस्तुत करने के लिए वह अच्छी शैली के प्रयोग का अनुमोदन करता है । पारिभाषिक पदावली का वह समर्थन नही करता । उसके विचार से अपने चिन्तन को दूसरो तक पहुँचाने के लिए प्रचलित शब्द अधिक उपयुक्त होते हैं । जर्मनी में इस समय तक लैटिन ही दर्शन की भाषा थी । लाइवनित्स ने इग्लैण्ड और फ्रास की वौद्धिक प्रगति की ओर सकेत करते हुए, अपने देश में जर्मन भाषा के प्रयोग की अपील की ।

उसने स्वय अपनी मातृभाषा में कई लम्बे निबन्ध लिखे, जिनका सम्बन्ध तत्कालीन राजनीतिक घटनाओ से था।

जर्मनी को लुई चौदहवें की ओर से १६६८ से ही काफी भय था। उस वर्ष उसकी सेनाएँ स्पेन, जर्मनी और नीदरलैण्ड्स पर आक्रमण करने के लिए बिलकुल तैयार हो चुकी थी, किन्तु अकस्मात् इग्लैण्ड, हालैण्ड और स्वीडेन के बीच 'त्रिसत्तात्मक सन्धि' हो जाने से लुई को भी 'एक्स-लॉ-चैपेल' की सन्धि कर अपना कार्यक्रम स्थगित करना पडा। १६७० की गर्मियो में फिर बुरे आसार दिखाई दिये। अग्रेज शासक चार्ल्स द्वितीय से लुई ने डोवर की गुप्त सन्धि कर ली थी और स्वीडेन से भी वार्ता प्रारम्भ हो चुकी थी। मेन्ज़ का निर्वाचक इस स्थिति से बहुत चिन्तित था और इसलिए उसके सहायक बॉयनबर्ग और लाइबनित्स भी सोच-विचार में फँसे हुए थे। नवम्बर के महीने तक लुई ने लोरेन के ड्यूक को अपदस्थ कर दिया और अब लुई की गति-विधि की दिशा बदलने का उपाय निकालने का भार पूरी तरह लाइबनित्स पर आ पडा।

उसने लुई को सम्बोधित करते हुए एक विस्तृत पत्र लिखा, जिसमें यह सुझाने का प्रयत्न किया कि एक ईसाई सम्राट् के लिए मिस्र और तुर्किस्तान विजय करना कितना गौरवपूर्ण हो सकता है। मारिनो सानूतो ने चौदहवी शताब्दी के प्रारम्भ में पोप को इसी प्रकार का एक पत्र लिखा था। लाइबनित्स ने मारिनो के विचारो का उपयोग कर लुई को मिस्र और तुर्किस्तान को अपने साम्राज्य में मिला लेने से प्राप्त होने वाले लाभो का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया था। मेन्ज़ के राजनीतिज्ञो को आशा थी कि लुई इस सुझाव को पसन्द कर लेगा क्योंकि वह उसकी साम्राज्य-लिप्सा के बहुत अनुकूल था। उक्त पत्र तत्काल भेजा नही जा सका। दो वर्ष तक योजना की रूपरेखा में काट-छाँट होती रही और लुई को सूचना दी जाती रही कि उसकी मिस्र-विजय की योजना तैयार की जा रही थी।

अन्त में, २० जनवरी १६७२ को बॉइनबर्ग ने सम्राट् लुई चौदहवें को व्यक्तिगत पत्र द्वारा सूचित किया कि लिखित योजना उसके निर्माता के ही हाथ भेजी जा रही है, जिससे वह सम्राट् को जहाँ कही शका हो अपना समाधान दे सके। १२ फरवरी को सम्राट् लुई ने सेंट जर्मेन से अपने मन्त्री आर्नाड द्वारा अनुकलता

सूचक उत्तर भिजवाया और ४ मार्च, १६७२ को लाइवनित्स मिस्र-विजय की योजना के साथ पेरिस रवाना हो गया ।

पेरिस मे

लाइवनित्स का पेरिस जाना उसके दर्शन के विकास की दृष्टि से वहुत महत्त्व-पूर्ण रहा । वहाँ जाकर देकार्त के दो वडे अनुयायियो, आर्नाड और मैलेब्राक से उसकी भेंट हुई । आर्नाड से वह पेरिस आने से पूर्व परिचित हो चुका था । मेन्ज में रहते हुए, १६७१ में उसने 'नवीन भौतिक शास्त्र की परिकल्पना' शीर्षक पुस्तक प्रकाशित की थी । उसने इस पुस्तक का पहला भाग ब्रिटेन की रॉयल सोसाइटी को और दूसरा आर्नाड को समर्पित किया था । आर्नाड को उसने मेन्ज से एक पत्र भी लिखा था ।

अभी तक वह देकार्त के दर्शन की मूलभूत कठिनाई से, जो मन और पदार्थ के वीच द्वन्द्व की स्थापना से उत्पन्न हो गयी थी, परिचित था । किन्तु उसे यह पता न था कि देकार्त ने ज्यामिति में असीमता के विचार का किस प्रकार समावेश किया था । पेरिस आकर उसने वडे-वडे भौतिकशास्त्रियो एव गणित के विद्वानो से व्यक्तिगत परिचय प्राप्त किया । वहाँ जाने से पहले उसके मन में यह विचार उत्पन्न हो चुका था कि प्रकृति का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति से ही सम्भव था, किन्तु विज्ञान अपनी विश्लेषण पद्धति से अध्ययन की वस्तु को पृथक्-पृथक् अवयवो में विभाजित कर देता है और मन इस प्रकार से टुकडो में वँटे हुए ससार से सन्तुष्ट नही हो सकता । उसे वाह्य सत्ताओ के वीच सम्वन्ध स्थापित करने के लिए उपयुक्त चिन्तन-शैली की तलाश थी । गणितज्ञो के सम्पर्क से उसे लगा कि गणित के अध्ययन से वाछित चिन्तन-शैली प्राप्त की जा सकती थी और वह अपने राजनीतिक उद्देश्य की ओर अधिक ध्यान न देकर गणित के अध्ययन में लग गया ।

पेरिस में ह्यूगेन्स नामक गणितज्ञ से उसका परिचय हुआ था और उसी की सहायता से उसने गणित की नवीन समस्याओ से परिचय प्राप्त करना आरम्भ किया था । कैवेलिएरी की पुस्तक से, जिसमें उसने रेखाओ को विन्दुओ की असीम सख्या से निर्मित, तलो को असीम रेखाओ से और घनो को असीम तलो से निर्मित दिखाया था, वह परिचित हुआ । ओल्डेनवर्ग के माध्यम से, जो ब्रिटेन

की रॉयल सोसाइटी का सचिव था, वह १६७० से ही ब्रिटेन के गणितज्ञों के अनु-सन्धानो का पता लगाने का प्रयत्न कर रहा था। किन्तु गणित-जैसे अमूर्त विषय में किसी उल्लेखनीय सफलता के लिए काफी परिश्रम की आवश्यकता थी।

लाइबनित्स बहुत महत्त्वाकाक्षी व्यक्ति था। वह किसी विषय का अल्पज्ञ नही बनना चाहता था। सम्भवत किसी आख्येय आविष्कार का श्रेय प्राप्त करने तक वह अज्ञात भी नही रहना चाहता था। इसलिए उसने पैस्कल का अध्ययन कर उसके अनुकलन-यन्त्र में सुधार करने का प्रयत्न किया। लगभग एक वर्ष उसे इसी कार्य में लगा रहना पडा। १६७३ के आरम्भ में वह एक ऐसा यन्त्र बनाने में सफल हुआ जो जोडने और घटाने के अतिरिक्त गुणा-भाग करता था और वर्गमूल निकालता था।

इसी बीच उसके मित्र एव सरक्षक बैरन बॉइनबर्ग की मृत्यु हो गयी और उसे अपने राजनीतिक उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक होने की आवश्यकता प्रतीत हुई। जर्मन राज्यो की ओर से एक प्रतिनिधि-समिति लुई से मिलने गयी थी। मेन्ज़ के निर्वाचक ने लाइबनित्स को आदेश भेजा था कि यदि इस समिति को पेरिस में सफलता न मिलने के कारण ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के प्रतिनिधियो से मिलने लदन जाना पडे, तो वह भी उसका साथ दे। अत लाइबनित्स को भी लदन जाना पडा। लगभग सात हफ्ते लन्दन में रहने के बाद उसे मेन्ज़ के निर्वाचक की मृत्यु की सूचना पाप्त हुई और वह पेरिस लौट गया। अब उसका कोई वैतनिक उत्तरदायित्व नही रह गया था। इसलिए उसने और गम्भीरतापूर्वक गणित का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया।

लन्दन में ओल्डेनबर्ग की सहायता से वह राबर्ट ब्वाइल से मिला था। उसी के यहाँ पेल् नामक गणितज्ञ से उसकी भेंट हुई थी। लाइबनित्स ने बातचीत के सिलसिले में पेल् से बताया था कि उसने ससीम सख्याओ के जोडने की कुछ विधियाँ निकाली थी और उत्तर में पेल् ने उसे मोटन तथा मर्कॅटर की पुस्तको की सूचना दी थी। पेरिस आकर उसने उन सब पुस्तको का अध्ययन किया। ओल्डेनबर्ग के माध्यम से न्यूटन के कार्य का पता लगाने का प्रयत्न करता रहा और अन्त में (१६७५) उसने अपने 'भेदीय कलन' की लिपि का आविष्कार कर लिया।

इस आविष्कार को लेकर, लाइबनित्स के अध्येताओ में बडा मतभेद रहा है।

सूचक उत्तर भिजवाया और ४ मार्च, १६७२ को लाइबनित्स मिस्र-विजय की योजना के साथ पेरिस रवाना हो गया।

पेरिस में

लाइबनित्स का पेरिस जाना उसके दर्शन के विकास की दृष्टि से बहुत महत्त्व-पूर्ण रहा। वहा जाकर देकार्त के दो बडे अनुयायियो, आर्नाड और मैलेब्राक से उसकी भेंट हुई। आर्नाड से वह पेरिस आने से पूर्व परिचित हो चुका था। मेन्ज में रहते हुए, १६७१ में उसने 'नवीन भौतिक शास्त्र की परिकल्पना' शीर्षक पुस्तक प्रकाशित की थी। उसने इस पुस्तक का पहला भाग ब्रिटेन की रॉयल सोसाइटी को और दूसरा आर्नाड को समर्पित किया था। आर्नाड को उसने मेन्ज से एक पत्र भी लिखा था।

अभी तक वह देकार्त के दर्शन की मूलभूत कठिनाई से, जो मन और पदार्थ के बीच द्वन्द्व की स्थापना से उत्पन्न हो गयी थी, परिचित था। किन्तु उसे यह पता न था कि देकार्त ने ज्यामिति में असीमता के विचार का किस प्रकार समावेश किया था। पेरिस आकर उसने बडे-बडे भौतिकशास्त्रियो एव गणित के विद्वानो से व्यक्तिगत परिचय प्राप्त किया। वहा जाने से पहले उसके मन में यह विचार उत्पन्न हो चुका था कि प्रकृति का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति से ही सम्भव था, किन्तु विज्ञान अपनी विश्लेषण पद्धति से अध्ययन की वस्तु को पृथक्-पृथक् अवयवो में विभाजित कर देता है और मन इस प्रकार से टुकडों में बँटे हुए ससार से सन्तुष्ट नही हो सकता। उसे वाह्य सत्ताओ के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उपयुक्त चिन्तन-शैली की तलाश थी। गणितज्ञो के सम्पर्क से उसे लगा कि गणित के अध्ययन से वाछित चिन्तन-शैली प्राप्त की जा सकती थी और वह अपने राजनीतिक उद्देश्य की ओर अधिक ध्यान न देकर गणित के अध्ययन में लग गया।

पेरिस में ह्यूगेन्स नामक गणितज्ञ से उसका परिचय हुआ था और उसी की सहायता से उसने गणित की नवीन समस्याओ से परिचय प्राप्त करना आरम्भ किया था। कैवेलिएरी की पुस्तक से, जिसमें उसने रेखाओ को विन्दुओ की असीम सख्या से निर्मित, तलो को असीम रेखाओ से और घनो को असीम तलो से निर्मित दिखाया था, वह परिचित हुआ। ओल्डेनवर्ग के माध्यम से, जो ब्रिटेन

की रॉयल सोसाइटी का सचिव था, वह १६७० से ही ब्रिटेन के गणितज्ञों के अनु-सन्धानों का पता लगाने का प्रयत्न कर रहा था। किन्तु गणित-जैसे अमूर्त विषय में किसी उल्लेखनीय सफलता के लिए काफी परिश्रम की आवश्यकता थी।

लाइबनित्स बहुत महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था। वह किसी विषय का अल्पज्ञ नहीं बनना चाहता था। सम्भवत किसी आख्येय आविष्कार का श्रेय प्राप्त करने तक वह अज्ञात भी नहीं रहना चाहता था। इसलिए उसने पैस्कल का अध्ययन कर उसके अनुकलन-यन्त्र में सुधार करने का प्रयत्न किया। लगभग एक वर्ष उसे इसी कार्य में लगा रहना पडा। १६७३ के आरम्भ में वह एक ऐसा यन्त्र बनाने में सफल हुआ जो जोडने और घटाने के अतिरिक्त गुणा-भाग करता था और वर्गमूल निकालता था।

इसी बीच उसके मित्र एव सरक्षक बैरन बॉइनबर्ग की मृत्यु हो गयी और उसे अपने राजनीतिक उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक होने की आवश्यकता प्रतीत हुई। जर्मन राज्यो की ओर से एक प्रतिनिधि-समिति लुई से मिलने गयी थी। मेन्ज के निर्वाचक ने लाइबनित्स को आदेश भेजा था कि यदि इस समिति को पेरिस में सफलता न मिलने के कारण ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के प्रतिनिधियो से मिलने लदन जाना पडे, तो वह भी उसका साथ दे। अत लाइबनित्स को भी लदन जाना पडा। लगभग सात हफ्ते लन्दन में रहने के बाद उसे मेन्ज के निर्वाचक की मृत्यु की सूचना प्राप्त हुई और वह पेरिस लौट गया। अब उसका कोई वैतनिक उत्तरदायित्व नहीं रह गया था। इसलिए उसने और गम्भीरतापूर्वक गणित का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया।

लन्दन में ओल्डेनबर्ग की सहायता से वह राबर्ट ब्वाइल से मिला था। उसी के यहाँ पेल् नामक गणितज्ञ से उसकी भेंट हुई थी। लाइबनित्स ने बातचीत के सिलसिले में पेल् से बताया था कि उसने ससीम सख्याओ के जोडने की कुछ विधियाँ निकाली थी और उत्तर में पेल् ने उसे मोटन तथा मर्केटर की पुस्तको की सूचना दी थी। पेरिस आकर उसने उन सब पुस्तको का अध्ययन किया। ओल्डेनबर्ग के माध्यम से न्यूटन के कार्य का पता लगाने का प्रयत्न करता रहा और अन्त में (१६७५) उसने अपने 'भेदीय कलन' की लिपि का आविष्कार कर लिया।

इस आविष्कार को लेकर, लाइबनित्स के अध्येताओ में बडा मतभेद रहा है।

कुछ के विचार से सर आइज़ेक न्यूटन ने १६६५ मे ही 'भेदीय कलन' का आविष्कार कर लिया था, केवल प्रकाशित नही किया था। और लाइबनित्स को ओल्डेनबर्ग द्वारा इसका पता चल गया था। प्राप्त आधारो पर लाइबनित्स को न्यूटन की पद्धति चुराने का दोषी नही बताया जा सकता। १६७० से ही वह गणितीय पद्धतियो में सुधार करने के प्रयत्न में लगा हुआ था। अपने कार्य में सकेत प्राप्त करने के लिए वह दूसरो के अध्ययनो का भी पता लगाता रहता था। ओल्डेनबर्ग ने २६ जुलाई १६७६ को लाइबनित्स के पास न्यूटन का १३ जून १६७६ का पत्र भेजा था, जिसके उत्तर में भेजे हुए २७ अगस्त १६७६ के पत्र में लाइबनित्स ने न्यूटन को उसकी ओर अपनी पद्धतियो का अन्तर समझाने का प्रयत्न किया है। अक्तूबर १६७६ में लाइबनित्स पेरिस से चला गया था। अत उसे न्यूटन का २४ अक्तूबर का पत्र हैनोवर पहुँचने से पूर्व मिला ही न था, जब कि उसने अपने 'कलन' के सकेत आदि पेरिस में ही निश्चित कर लिये थे।

पेरिस से वह एक सप्ताह के लिए लन्दन गया, जहाँ न्यूटन के मित्र कोलिन्स से उसकी मुलाकात हुई। वहाँ से वह ऐम्स्टरडैम गया। १६७५ के अन्त में ही पेरिस में त्शिर्नहाउज़ेन से उसकी भेंट हुई थी। त्शिर्नहाउज़ेन ने स्पिनोज़ा के दर्शन से सम्बन्धित कुछ पत्र प्रकाशित किये थे। सम्भवत, उससे मिल कर लाइबनित्स को स्पिनोज़ा के अप्रकाशित ग्रन्थो से कार्त्तीय दर्शन की कठिनाइयो के हल प्राप्त करने में सहायता मिलने की आशा हो गयी थी। इसलिए वह स्पिनोज़ा के अप्रकाशित ग्रन्थो को पढना चाहता था। ऐम्स्टरडैम में वह शूलर के साथ चार सप्ताह ठहरा और स्पिनोज़ा के उन सभी ग्रन्थो की प्रतियो का अध्ययन किया, जो उसे शूलर के पास प्राप्त हो सकी।, नवम्बर में हेग जाकर वह स्वय स्पिनोज़ा से मिला था। शायद वह वहाँ कुछ समय ठहरा भी। लाइबनित्स ने अपनी कृतियो में इस भेंट को कोई महत्त्व नही दिया है। स्पिनोज़ा के सम्बन्ध में लाइबनित्स का केवल यह एक वाक्य फूकर द्वारा सुरक्षित रखा गया है 'स्पिनोज़ा बहुत स्पष्ट रूप में देकार्त के गति के नियमो के दोषो को नही देख सका था जब मैंने उसे यह सुझाना प्रारम्भ किया कि उनमें कारण और कार्य की समानता से सामजस्य नही है तो वह आश्चर्य में पड गया।'

हेग से वह अपने नये पद का कार्य-भार सँभालने के निमित्त हैनोवर चला

गया। अपनी पुन नियुक्ति की चिन्ता तो उसे मेन्ज के निर्वाचक की मृत्यु के समय, १६७३ से ही थी। किन्तु वह किसी उपयुक्त पद की प्रतीक्षा कर रहा था। हैनोवर के ड्यूक, जॉन फ्रेडरिक ब्रून्सविक-ल्यूनबर्ग से उसका पहले वैज्ञानिक खोजों के सिलसिले में पत्र-व्यवहार हो चुका था। ड्यूक उसे हैनोवर के राजकीय पुस्तकालय की देख-रेख के लिए बार-बार बुला रहा था। लाइबनित्स कुछ समय से आगा-पीछा कर रहा था, किन्तु अन्त में ड्यूक का आमन्त्रण स्वीकार कर वह हेग से हैनोवर के लिए रवाना हो गया। अपने जीवन के शेष चालीस वर्ष उसने अधिकतर वहीं व्यतीत किये।

हैनोवर में

पुस्तकालय के अध्यक्ष के रूप में उसकी नियुक्ति, मुख्यत हैनोवर के राजवंश का इतिहास संकलित करने के लिए हुई थी। लाइबनित्स-जैसे विद्वान् एव प्रतिभाशाली व्यक्ति के लिए एक छोटे-से राजवंश का इतिहासकार होना कोई अधिक गौरव की बात न थी। किन्तु, उसका हाथ लग जाने से यह छोटा-सा इतिहास इतना गौरवपूर्ण बन गया कि प्रसिद्ध इतिहासकार गिब्बन को भी ब्रून्सविक वंश के प्राचीन इतिहास की ओर ध्यान देना पडा। लाइबनित्स की ऐतिहासिक छानबीन का ही प्रभाव था कि दूसरे छोटे-मोटे राजवंशों ने भी अपने इतिहासो की खोज करायी। एस्ट के शासक ने मोदेना के पुस्तकालय में दबी पडी हुई सामग्री को प्रकाश में लाने के लिए मुरातोरी को नियुक्त किया। अपनी इतिहास-सम्बन्धी खोज के सन्दर्भ में लाइबनित्स १६८७ में वियना गया। वहाँ वह नौ महीने ठहरा। फिर वह वेनिस, रोम और नेपुल्स गया। अन्त में फ्लोरेंस, बोलोइयाँ और मोदेना होता हुआ वेनिस पहुँचा, जहाँ से वह १६९० में हैनोवर वापस आया।

इस समय तक हैनोवर परिवार की प्रतिष्ठा काफी बढ चुकी थी। ड्यूक जॉन फ्रेडरिक की १६८० में मृत्यु हो गयी थी और उसके स्थान पर एरनेस्ट आगस्टस, जो पहले ऑस्नाब्रुक का राजकुमार कहा जाता था, ड्यूक हुआ था। आगस्टस ने पैलेटाइन की राजकुमारी सोफिया से विवाह किया था, जो इंग्लैण्ड के जेम्स प्रथम की पुत्री एलिजाबेथ की पुत्री थी। सोफिया की पुत्री सोफिया शॉर्लाट का विवाह, १६८४ में, ब्रैन्डेन्बर्ग के ड्यूक फ्रेडरिक से हुआ, जिसने १८ जनवरी १७०१ को

अपने आप को प्रशा का पहला राजा घोपित किया । सोफिया का पुत्र इग्लैण्ड का उत्तराधिकारी था । वही १७१४ में जार्ज प्रथम के नाम से इग्लैण्ड के राज-सिंहासन पर वैठा । उपर्युक्त दोनो राजमहिलाएँ, सोफिया तथा सोफिया शॉर्लाट, वुद्धिमान् एव सुपठित थी । लाइवनित्स को इन दोनो का सरक्षण प्राप्त था । १६९७ में सोफिया शॉर्लाट से पियरे वेली के शव्द-कोश में व्यक्त विचारो पर सलाप करते हुए लाइवनित्स ने अपना सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक ग्रन्थ 'देवविद्या' लिखने का निश्चय किया । उक्त ग्रन्थ १७१० में पूरा हुआ ।

१६९७ में ही लाइवनित्स ने वर्लिन में एक वैज्ञानिक अकादमी की स्थापना की योजना वनायी । वह वडा राष्ट्रभक्त था । अपने देश में वह व्रिटेन की रॉयल सोसाइटी तथा फ्रास की अकादमी-जैसी सस्था की स्थापना कर वौद्धिक विकास में योग देना चाहता था । सोफिया शॉर्लाट के समर्थन से लाइवनित्स किसी सीमा तक सफल भी हो गया, क्योकि तीन वर्प वाद १२ जुलाई १७०० को सोफिया शॉर्लाट के पति ने उक्त योजना के कार्यान्वित किये जाने की अनुमति प्रदान की । लाइवनित्स को इस अकादमी का अध्यक्ष मनोनीत किया गया, किन्तु इससे अधिक कुछ नही ।

लाइवनित्स का अभिप्राय अकादमी की स्थापना की औपचारिक घोषणा तक ही तो सीमित न था । वह चाहता था कि अकादमी के माध्यम से जर्मनी को मूल्यवान् वैज्ञानिक अनुसन्धानो तथा दार्शनिक अध्ययनो का श्रेय प्राप्त हो । अस्तु, अपनी अकादमी-सम्वन्धी योजना के सन्दर्भ में वह एक के वाद दूसरे स्थान में अन्तर्भूत सम्भावनाओ का उद्‌घाटन करने लगा । उसने ड्रेस्डेन में एक अकादमी की स्थापना का प्रयत्न कया, किन्तु वह पोलैण्ड और स्वीडेन के वीच युद्ध छिड जाने से असफल रहा । उसने वियना में प्रयत्न किया, पीटर महान् के नेतृत्व में एक सस्था चलाने का प्रयत्न किया, पर कुछ भी सफलता न मिली । अपने वियना वाले प्रयत्न के कारण जीवन के अन्तिम वर्पो में उसे असम्मानित भी होना पडा । वियना में अपनी योजना के कार्यान्वयन के प्रयत्न में कई वर्प विता दिये । इस वीच ड्यूक एरनेस्ट आगस्टस (१६९८) तथा प्रशा की रानी सोफिया शॉर्लाट (१७०५) की मृत्यु हो गयी । आगस्टस के पुत्र ने उसकी अनुपस्थिति को हैनोवर के पुस्तकालय के प्रति उदासीनता के रूप में लिया । पर, वह लाइवनित्स के साथ तत्काल कोई

दुर्व्यवहार न कर सका, क्योकि उसकी माता सोफिया अभी जीवित थी। १७१४ में 'डचेज़' की भी मृत्यु हो गयी और उसी वर्ष उसका पुत्र जॉर्ज प्रथम वन कर इग्लैण्ड गया। चलते समय वह अपने पूरे दरवार को तो साथ ले गया, पर लाइवनित्स को वही छोड गया। इग्लैण्ड पहुँचने पर न्यूटन के समर्थको ने उसे और भी भडका दिया। फलत , उसने लाइबनित्स को स्वेच्छा से वियना चले जाने का दोप लगाया और उसका वेतन देना वन्द कर दिया। जीवन के अन्तिम दो वर्प उपेक्षा और अभाव के वातावरण में बिता कर वह इस ससार से चला गया। कहते है १७१६ में, उसके निधन पर, किसी पत्र-पत्रिका में उसे श्रद्धाजलि न अर्पित की गयी, उसके पुराने सहायक एरवार्ट के अतिरिक्त कोई शव के साथ भी न गया।

किन्तु लाइबनित्स अपनी योजनाओ को ही लेकर दौडता नही रह गया था। जिन दिनो वह वियना में अकादमी की स्थापना के प्रयत्न में लगा हुआ था सेवाय के राजकुमार यूगिनी से उसकी भेंट हुई और उसकी दर्शन-सम्वन्धी जिज्ञासा शान्त करने के निमित्त उसने 'चिद्‌बिन्दु विद्या' तथा 'प्रकृति और महिमा' के नियमो का प्रणयन किया। वह मात्र सैद्धान्तिक चिन्तक न था। उसके सामने अपने देश और समाज की समस्याएँ थी, जिन्हें वह अपने चिन्तन द्वारा सरल करना चाहता था। उसके समय में 'कैथलिक' और 'प्रोटेस्टैण्ट' धर्मों का विरोध सामाजिक विघटन का कारण बन गया था। रोमन साम्राज्य के बल पर 'कैथलिक' धर्म का प्रचार हुआ था, किन्तु अव वह साम्राज्य केवल नाम के लिए जीवित था। आश्रित राज्य स्वतन्त्र हो चुके थे। औपचारिक रूप से रोमन सम्राट् का निर्वाचन हो जाता था, किन्तु उसमें कोई शक्ति शेप न थी। इसलिए 'प्रोटेस्टैण्ट' मत धीरे-धीरे पनप रहा था। किन्तु अभी तक कुछ छोटे राज्यो के अतिरिक्त लुई १४ वें द्वारा शासित फ्राम 'कैथलिक' था। इसलिए लाइवनित्स के समय में कुछ प्रतिष्ठित कैथलिक धर्मशास्त्री जाते हुए धर्म को रोक रखने का प्रयत्न कर रहे थे। उनका मुख्य प्रयत्न प्रतिभाशाली 'प्रोटेस्टैण्ट साहित्यकारो को अपने घेरे में लाने का था। लाइवनित्स भी इस खीच-तान से वच न सका।

वह जन्म से प्रोटेस्टैण्ट था, किन्तु वॉइनवर्ग तथा सोनवर्न के आश्रित होने से उस पर आन्तरिक तथा वाह्य दोनो प्रकार के दवाव पडे थे। वॉइनवर्ग की सम्मति से उसने दोनो सघो के बीच सन्धि कराने के निमित्त एक लेख-माला प्रकाशित

की थी, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। शोनवर्न की मृत्यु (१६७३) से यह अध्याय वन्द नही हुआ। १६९३ तक लाइवनित्स अपने प्रयत्नो में लगा रहा। कैथलिक धर्मावलम्वी उसके लेखो का अपने पक्ष में अर्थ लगाते रहे। उसकी पाण्डुलिपियो की खोज की जाने पर अनेक लेख मिले है, जिनकी उचित व्याख्या से किसी एक पक्ष का समर्थन नही होता। इस प्रकार के लेखो में से 'धर्मशास्त्र सस्थान' (सिस्टेमा थिओलोजिकम) सर्वाधिक मूल्यवान् है। सवसे पहले, १८१९ में, इसका एक फ्रासीसी सस्करण निकला था। फिर १८५० में, प्रोफेसर सी० डव्ल्यू रसेल ने एक अग्रेजी सस्करण निकाला। वस्तुत, उन्नीसवी शताब्दी के पूर्व विद्वज्जगत् ने लाइवनित्स की प्रतिभा को पहचान ही न पाया।

लाइवनित्स का साहित्य

लाइवनित्स ने अपने दर्शन-सम्वन्धी सभी विचारो को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न नही किया। उसका ध्यान अनेक दिशाओ में वँटा हुआ था और वह आजीवन विविध समस्याओ पर लेखो, पत्रो एव प्रकरण-ग्रन्थो के माध्यम से अपने विचार व्यक्त करता रहा। उसके निधन के वाद तत्काल उसकी कृतियों की ओर कोई ध्यान नही दिया गया, किन्तु लगभग एक अर्ध-शताव्दी वीत जाने पर, डयूटेन्स नाम के एक सम्पादक ने, जेनेवा (१७६८) से उसके विधि, प्राकृतिक विज्ञान तथा दर्शन-सम्वन्धी लेखो का एक सस्करण प्रकाशित किया। वयासी वर्षो तक फिर चुप्पी रही और १८४० में जव एर्डमैन ने, वर्लिन से लाइवनित्स की कृतियो का सस्करण निकाला तो उसके विविध सस्करणो की धूम मच गयी।

१८४३ में जी एच पर्ज ने एक सीरीज प्रारम्भ की जिसकी पहली किस्त में चार भाग और दूसरी में एक ही भाग प्रकाशित हुआ। दूसरी किस्त में उसके दर्शन-ग्रन्थो के प्रकाशन की योजना वनायी गयी थी। इसके सम्पादक ग्रोटफेन्ड थे और उनका अधूरा सस्करण १८४६ में हैनोवर से प्रकाशित हुआ था।

लाइवनित्स की कृतियो के प्रकाशन में सवसे अधिक परिश्रम गर्हार्ड्ट ने किया। उसने १८५५ से ६३ तक सात भागो में लाइवनित्स की सम्पूर्ण गणित-सम्वन्धी सामग्री का प्रकाशन किया। फिर १८७५ से ८२ तक उसने दर्शन-सम्वन्धी साहित्य पाँच भागो में प्रकाशित किया। इनमें से पहले, दूसरे, चौथे तथा पाँचवें भागो

में कृतियो का सकलन है । तृतीय भाग में अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । लाइव-
नित्स के अध्ययन के लिए गरहार्ड्ट का सस्करण अत्यधिक उपयोगी माना गया है ।

लाइवनित्स के धर्मशास्त्र तथा अकादमियो की स्थापना से सम्बन्धित सामग्री फूकर द कैरेल के फ्रासीसी सस्करण (१८५९-७५) में मिलती है । उक्त सस्करण में सात भाग हैं । इसके तीसरे और छठे भाग में राजनीतिक कृतियाँ सकलित हैं ।

इतिहास तथा राजनीति-सम्बन्धी कृतियो का सबसे अच्छा सस्करण ओनो क्लॉप का है । यह हैनोवर से १८६४ और '७७ के बीच दस खण्डो में प्रकाशित हुआ था ।

लाइबनित्स के जीवन-सम्बन्धी तथ्य गुहरावर की भूमिका से प्राप्त किये जाते हैं, जिसने बर्लिन से १८३८ और '४० में दो भागो में लाइबनित्स के जर्मन भाषा के लेख प्रकाशित किये थे ।

भारतीय विश्वविद्यालयो में एक जमाने से रावर्ट लैटा की पुस्तक प्रयुक्त होती रही है । इसके प्रारम्भिक २११ पृष्ठो में लाइवनित्स पर एक विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । दूसरे भाग में प्रतिनिधि कृतियो का सकलन है ।

प्रस्तुत पुस्तक में जिन तीन कृतियो के हिन्दी अनुवाद दिये गये हैं उनके मूल अग्रेजी पाठ रावर्ट लैटा की पुस्तक से ही लिये गये हैं । लाइवनित्स के मुख्य दार्शनिक विचारो को समझने के लिए ये तीनो लेख अपेक्षित हैं ।

लाइवनित्स का परिचय लिखने में रावर्ट लैटा की पुस्तक के अतिरिक्त ब्लैकवुड सीरीज में प्रकाशित जॉन थिओडोर मर्ज की पुस्तक 'लाइवनिज' तथा प्रासगिक यूरोपीय इतिहासो से भी काम लिया गया है ।

दर्शन के मुख्य सिद्धान्त

लाइवनित्स के जीवन का परिचय प्राप्त करने में हम देख चुके है कि वह केवल दर्शन का अध्येता न था । उसने दर्शन के साथ-साथ गणित का गहन अध्ययन किया था । वह रेखाओ को विन्दुओ की गति से, तलो को रेखाओ की गति से तथा पिंडो को तलो की गति से निर्मित समझने का अभ्यस्त हो गया था । उसने उन मात्राओ के आकलन के निमित्त सामान्य नियम बनाये थे जो शनै-शनै , किन्तु इतने लघु अशो के योग से निर्मित होती है कि उन्हें अलग-अलग जानना सम्भव

नही । वह जानता था कि सख्याओ को असीमत वढाया जा सकता है और असीमता को लघु अशो में बाँटा भी जा सकता है । इस प्रकार, उसके चिन्तन में यह विचार वस गया था कि किसी भी पदार्थ को अशो में विभाजित करने की कोई सीमा नही और अशो के योग से किसी समष्टि के निर्माण की भी कोई सीमा नही हो सकती, किन्तु अशो में निरन्तरता मानना आवश्यक है । रेखा के निर्माण में विन्दुओ की निरन्तरता अनिवार्य है ।

इसी दृष्टि से उसने अणुवादियो तथा देकार्त की सत्ता अथवा द्रव्य की कल्पनाओ को देखना प्रारम्भ किया । उसने पाया कि अणुवादी जिन सीमित तथा अविभाज्य इकाइयो से पदार्थ के निर्माण की कल्पना करते है, उनमें न तो किसी पदार्थ को बाँटा ही जा सकता है, न उनसे किसी पदार्थ का निर्माण ही हो सकता है । बाँटा इसलिए नही जा सकता कि यदि किसी पदार्थ का विभाजन करना प्रारम्भ करे तो पदार्थ शेष रहते हुए विभाजन प्रक्रिया को रोका नही जा सकता । पदार्थ की पृथक् इकाइयो से पदार्थ की रचना इसलिए सम्भव नही कि पृथक् होने से उनसे इकाइयो की वहुलता ही उत्पन्न हो सकती है, कोई निरन्तर पूर्ण उत्पन्न नही हो सकता । उसने यह भी पाया कि अणुवाद किसी पूर्ण अथवा समष्टि की सत्यता को भी प्रतिपादित करने की क्षमता नही रखता, क्योकि अणुओ की सत्ता प्राथमिक मान लेने से समष्टि का विचार कल्पित एव प्रतीति-मात्र रह जाता है । अत अणुवाद अग और अगी के सम्वन्ध की उचित व्याख्या नही कर पाता ।

इसके विपरीत देकार्त पूर्ण की सत्ता को प्राथमिक मान कर चलता है । और तव वह भागो की कल्पना को मिथ्या समझने के लिए विवश हो जाता है । इसीलिए सत्य द्रव्य की खोज के लिए वह ऐसे सार की खोज करता है जो निरवयव हो । उसका नियम यह है कि वस्तु का सत्य वह है जो उसकी अवस्थाओ तथा गुणो के सभी भेदो को मिटा देने पर वच जाता है । उसने अपने सारभूत द्रव्य को पाने के लिए निराकरण की विधि का प्रयोग किया और देकार्त का अध्यनन करने-वालो को मालूम है कि इस पद्धति द्वारा उसे कोई द्रव्य नही प्राप्त हुआ, केवल वही 'अहम्' प्राप्त हुआ जिससे वह सभी भेदो का निराकरण कर रहा था । उसने अपने फल की घोषणा यही कह कर की थी कि 'चिन्तन-शील 'मै' का निराकरण नहीं किया जा सकता ।'

लाइबनित्स ने विचार किया कि क्या देकार्त ने सचमुच वस्तुओ का सार खोज लिया था। उसके विचार से देकार्त के द्रव्य अथवा सार-सम्बन्धी मत की त्रुटि का तब पता चलता है जब हम स्पिनोजा के मत पर विचार करते है। देकार्त अपने निषेध-सिद्धान्त का उपयोग उचित रूप में नही कर सका था। यदि सभी गुणो का निषेध करना ही वस्तुओ के सत्य सार तक पहुँचने का मार्ग है तो स्पिनोजा का कथन कि 'निर्धारण का अर्थ निषेध है' बहुत सही है। हमें एक सामान्यता मात्र के अतिरिक्त किसी सत्ता को स्वीकार नही करना चाहिए। किन्तु देकार्त ऐसा नही करता है। वह चिन्तनशील द्रव्य की सत्ता स्वीकार कर लेने पर, उस द्रव्य द्वारा चिन्तित विस्तृत जगत् में से भी सभी कुछ जो ठोस है निकाल कर 'विस्तार' को द्रव्य रूप में स्वीकार करता है।

गुणात्मक द्रव्य

लाइबनित्स ने अणुवादी तथा कार्तीय द्रव्यो की समीक्षा से यह प्राप्त किया कि ये दोनो ही मत गुण-सम्बन्धी भेदो को परिमाण-सम्बन्धी भेदो में घटित कर देते है। अणुवादियो के पदार्थमय अणु गुणात्मक भेदो से रहित हैं। उनमें केवल सख्यात्मक बहुता है, किन्तु पदार्थ-जगत् की उत्पत्ति उन्ही से होती है। अत, मात्र परिमाण से सभी गुणो की उत्पत्ति की असम्भव कल्पना करनी होगी। इतना ही नही, पदार्थ के अविभाज्य एव सरल अश की कल्पना भी कठिनाइयो से मुक्त नही है।

देकार्त के 'विस्तार' के सम्बन्ध में भी उसका यही विचार है कि वह एकमात्र परिमाण है। अपने एक पत्र (१६९८) में उसने लिखा था "विस्तार के अतिरिक्त कोई वस्तु भी होनी चाहिए जो विस्तृत हो, अथवा कहें कि एक द्रव्य होना चाहिए, जिसका आवर्तन या विस्तार हो सके।" उसे यह भी मान्य न था कि मात्र विस्तार में विश्व की इकाई प्राप्त की जा सकती है। अत, वह इस नतीजे पर पहुँचा कि किसी परिमाणात्मक इकाई से जगत् की रचना सम्भव नही। किसी गुणात्मक इकाई की खोज करनी चाहिए।

सत्य एव अविभाज्य इकाई

अब लाइबनित्स ने द्रव्य की एक नवीन इकाई की खोज प्रारम्भ की। उसे वह इकाई अपेक्षित थी जो पूर्ण में सम्मिलित होकर न तो अपना अस्तित्व खो दे,

न इतनी ठोस हो कि पूर्ण की निरतरता नष्ट करे, उसकी सत्यता के आगे पूर्ण की सत्यता फीकी न पडे । वह न तो स्पिनोजावाद से सहमत था जो पूर्ण से भागो को निगमित करता है, न अणुवाद से जो भागो से पूर्ण की रचना करता है । उसके विचार से दोनो का सह-अस्तित्व विना स्थापित किये हुए समस्या का हल नही पाया जा सकता । उसकी उधेड-वुन ऐसी इकाई प्राप्त करने की थी जो पूर्ण में सम्मिलित न होकर, उसे अपने में आत्मसात् करे ।

स्पष्ट है कि लाइवनित्स के चिन्तन में जिस प्रकार की इकाई का विचार उद्भूत हुआ था वह पदार्थमय तथा स्थिर नही हो सकती थी । पदार्थमय इकाई एक ही साथ सत्य और अविभाज्य नही हो सकती । पदार्थमय इकाइयो में वह निरन्तरता नहीं आ सकती । लाइवनित्स के पूर्ण के विचार में कही रिक्त स्थान सम्भव न थे । उसके मस्तिष्क में गणित की रेखा थी, जो एक भी विन्दु के हट जाने से खण्डित हो जाती है । इसीलिए गणितज्ञ विन्दुओ में कोई परिमिति नही मानता, न उनके योग से रेखा की रचना करता है । रेखा विन्दु की गति से उत्पन्न होती है । उसे केवल असीम एव कल्पित विन्दुओ में विभाजित किया जा सकता है । वह इसी प्रकार की गत्यात्मक इकाई की खोज में था, जो गणित के विन्दु की भाँति काल्पनिक न हो, वल्कि सत्य हो और अपने अन्तर से पूर्ण को विकसित कर सके । अन्त में, उसने यह निश्चित किया कि इस प्रकार की इकाई पदार्थ-कण नही, ऊर्जा का कण हो सकती है, जो अपने विस्तार से नही, अपनी गहनता से विश्व के उद्-घाटन की सामर्थ्य रख सके । उसने अपनी इकाई को चिद्विन्दु नाम दिया ।

चिद्विन्दु

पदार्थ न होने से चिद्विन्दु में सरलता अथवा भागो के अभाव की कल्पना सम्भव है । भाग न होने से चिद्विन्दुओ का विभाजन नही किया जा सकता और इसीलिए वे अविनश्वर हैं । इनके सम्वन्ध में हमें यह वरावर समझते रहना चाहिए कि लाइवनित्स इन नवीन इकाइयो द्वारा विश्व की व्याख्या की किन कठिनाइयो को हल करना चाहता था तभी चिद्विन्दुओ की उन समस्त विशेषताओ को हम समझ सकेंगे जिन्हें वह इन पर आरोपित करता है ।

वह देख रहा था कि अणुवादी अपने पदार्थमय अणुओ की सीमाओ के कारण

विश्व के 'रिक्त स्थानों' को भर न सके। विश्व को सम्पूर्णत पूरित स्थान (प्लेनम) न बना पाने के कारण वे गति की समस्या को भी नहीं सुलझा सके थे। इसलिए, लाइबनित्स ने विस्तृत इकाई के स्थान पर गहन इकाई चुनी जिससे विश्व की पूरित स्थान के रूप में कल्पना की जा सके। चिद्विन्दु ऊर्जा के कण हैं, इसलिए विश्व को भरे-पुरे स्थान के रूप में देखने में कठिनाई नहीं होती। पूरित स्थान में एक भाग के परिवर्तनो का प्रभाव दूसरे भागो पर पडना अनिवार्य हो जाता है।

लाइबनित्स की दूसरी समस्या पूर्ण में भागो की वास्तविक सहकारिता दिखाना था। इसे उसने यह मानकर पूरा किया कि चिद्विन्दुओ में विकास की असीम सम्भावनाएँ छिपी हुई हैं। उनमें स्फूर्ति अथवा 'रोचन' है। प्रत्येक चिद्विन्दु अपने अन्तर में उच्चतम विकास की क्षमता सँजोये हुए है और इसे उद्घाटित करने के लिए उसमें स्वत स्फुरण होता रहता है।

चिद्विन्दुओ के माध्यम से विश्व में आन्तरिक एकता लाने के लिए, उसने सभी चिद्विन्दुओ में 'प्रत्यक्ष' का आरोप किया। कोई भी चिद्विन्दु निर्जीव नही, कोई भी 'प्रत्यक्ष'-शक्ति से शून्य नही। वह अपने-अपने विकास-स्तर के अनुसार एक विशिष्ट दृष्टिकोण से सम्पूर्ण विश्व को प्रतिविम्बित करता है।

किन्तु, वह यह नही मानता था कि सभी चिद्विन्दु एक-से हैं। वह ऐसा मान कर चिद्विन्दुओ के निजत्व को और साथ ही विश्व की विविधता को, जो उसकी सम्पत्ति है, नष्ट नही करना चाहता था। इसलिए उसने यह माना कि प्रत्येक चिद्विन्दु का अपना स्वत्व है। प्रत्येक के 'प्रत्यक्ष' और 'रोचन' का स्तर दूसरे से भिन्न है। किन्ही दो वस्तुओ के पूर्ण तादात्म्य का वह समर्थक न था।

यहाँ वहुता में एकता, अथवा भेदो में साम्य प्रदर्शित करने की कठिनाई उत्पन्न होती है। इसे सरल करने के लिए लाइवनित्स भेदो को असीमत लघु मान लेता है। सभी चिद्विन्दुओ में प्रत्यक्ष की क्षमता है, किन्तु निर्जीव समझी जानेवाली वस्तुओ के चिद्विन्दुओ से लेकर आत्मचेतन मानव और उससे भी आगे ईश्वर तक, प्रत्यक्ष के अगणित विकास-स्तर हैं। वीच के अन्तर इतने अल्प हैं कि गणित की रेखा की भाँति एक अटूट विकास-शृखला असीम तक चली जाती है, यद्यपि वह विभिन्न विन्दुओ से होकर जाती है। यही वात चिद्विन्दुओ के 'रोचनों' के लिए

भी सही है। अज्ञात स्वाभाविक स्पदनो से लेकर सुचिंतित सकल्पो तक एक क्रमवद्धता है।

प्राय, यह आपत्ति की जाती है कि वह अपने चिद्‌विन्दु के सिद्धान्त से सभी वस्तुओ को चेतन बना देता है। यह आरोप बहुत सही है। किसी भी विकास-वादी व्याख्या में प्रक्रिया का न आदि-अन्त निर्धारित किया जा सकता है और न उन विन्दुओ को ही स्थिर किया जा सकता है, जिनसे होकर प्रक्रिया आगे बढती है। वह स्वय कहता है "मेरी परिभाषा के लिए यह पर्याप्त है कि ऐसे जीवाणु होने चाहिए, जिनके कण जगत् की नीव से आज तक कभी भी अलग नही हुए।"[१]

लाइवनित्स चिद्‌विन्दुओ को तीन वर्गों में विभाजित करता है—अचेतन, चेतन और आत्म-चेतन चिद्‌विन्दु। किन्तु, यह विभाजन मात्र व्यावहारिक है। सैद्धान्तिक स्तर पर वह सम्पूर्ण विश्व में एक जीव सस्थान व्याप्त मानता था—मनुष्य पशुओ से और पशु वनस्पतियो से, वनस्पतियाँ निर्जीव प्रतीत होने वाले पिण्डो से सम्बद्ध हैं। जो अचेतन प्रतीत होते हैं, उनमें भी चेतना है, किन्तु वह सवेदन और स्मृति की सतह तक नही आती। उनमें चेतना सुपुप्त है, वे विकास-शील हैं और किसी समय ऊँचे स्तरो तक पहुँचेगे।

इस व्याख्या में यह कठिनाई नही है कि अगर निर्जीव पदार्थ प्राथमिक था, तो फिर जीवन का सचार किस प्रकार हुआ, अथवा अचेतन से चेतन की उत्पत्ति कैसे हुई। निम्नतम विकसित चिद्‌विन्दु से उच्चतम विकसित चिद्‌विन्दु तक एक निरन्तरता की कल्पना है। यह भी नही है कि इस व्याख्या में कोई कठिनाई है ही नही।

लाइवनित्स ने सभी वस्तुओ में एकसूत्रता की कल्पना के साथ-साथ भागो को घुल-मिल जाने से बचाने का प्रयत्न किया है। उसकी इकाइयाँ परिमाणात्मक नहीं गुणात्मक हैं। वह उनमें जातिभेद नही, केवल स्तर का भेद मानता है। ये भेद भी इतने अल्प हैं कि व्यावहारिक स्तर पर ही भेद का भान होता है, वौद्धिक स्तर पर सव में असीम सामर्थ्य है। किन्तु, ये गुणात्मक इकाइयाँ सभी स्वतन्त्र हैं,

१ वर्नौलियय को १६९७ में लिखा हुआ पत्र।

सबका अपना जीवन है, अपने-अपने ढग से विश्व को प्रतिबिम्बित करती है, सब में केवल आन्तरिक स्पन्दन होते है। लाइबनित्स कहता है, वे अपने आप में एक विश्व है, चारो ओर से बन्द है, उनमें कोई गवाक्ष नही कि बाहर से कोई भी प्रभाव उनमें प्रवेश कर सके।

पूर्व-स्थापित सामजस्य

अब एक बडी भारी समस्या खडी हो जाती है। सबमें अलग-अलग परिवर्तन होने से विश्व-सस्थान में असगति, अथवा विषमता क्यो नही उत्पन्न हो जाती ? लाइबनित्स का उत्तर है कि यह सामजस्य पूर्व स्थापित है। लाइबनित्स के अध्येताओ ने बराबर इस मत पर आपत्ति की है कि, देकार्त और उसके अनुयायी अवसरवादियो की भाँति, उसे भी भागो में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए नियति की शरण लेनी पडी। यूँ तो जगत् की व्याख्या करने में सभी दार्शनिको की बुद्धि को कही-न-कही हार माननी ही पडती है। पर, देखना यह चाहिए कि उसके मत में पूर्व-स्थापित सामजस्य मानने के लिए जो आधार मिल सकते हैं, वे अन्य मतों के समक्ष कहाँ तक युक्तियुक्त है।

देकार्त तथा अवसरवादियो ने तो जगत् को एकदम निष्क्रिय मान कर सभी परिवर्तनो के लिए ईश्वर पर निर्भर कर दिया था। लाइबनित्स ऐसा नहीं करता। वह चिद्विन्दुओ में एक नियमित स्वभाव की कल्पना करता है। चिद्विन्दुओ में असीम विकास की सम्भावनाएँ है, जो किन्ही नियमो के अनुसार वास्तविकता में निरन्तर परिणत होती रहती हैं। यह स्वाभाविक नियमन ही पूर्व-स्थापित सामजस्य का एक आधार है। यदि विश्व को एक सस्थान के रूप में स्वीकार किया जाय और अगो को नियमित माना जाय तो उस सस्थान की उत्पत्ति के साथ ही सामजस्य की उत्पत्ति माननी पडेगी।

फिर, लाइबनित्स ने यह कल्पना नही की थी कि विश्व-सस्थान समान-स्तरीय चिद्विन्दुओ को लेकर अपना जीवन प्रारम्भ करता है। यह सस्थान विषमताओ के समन्वय से उत्पन्न हुआ है। इसलिए ह्रास और वृद्धि के सन्तुलन के लिए पहले से ही स्थान छूटे हुए हैं। इसका भी अर्थ यही है कि वस्तुओ की सगति पूर्व निश्चित है।

लाइवनित्स के मत के अनुसार, प्रत्येक चिद्‌विन्दु उसी विश्व को प्रतिविम्वित करता है। या यह कहें कि एक व्यवस्थित पूर्ण अपने आपको प्रत्येक चिद्‌विन्दु के माध्यम से व्यक्त करता है। अत, प्रत्येक व्यक्ति में एक ही सामान्य की पृथक्-पृथक् अभिव्यक्तियाँ होती है। यह भी सगति का एक आधार है।

चिद्‌विन्दुओ की चेतनता की ओर ध्यान दें, तो भी सगति की कल्पना स्वाभाविक लगेगी। देकार्त को कठिनाई इसलिए हुई थी कि उसने दो विरुद्ध स्वभाव वाली वस्तुओ को द्रव्य मान लिया था। उसका सस्थान चेतन-अचेतन सस्थान था। लाइवनित्स के चिद्‌विन्दु या तो चेतन है, अथवा चेतनता का वीज छिपाये हुए है। जिस सस्थान के भागो के वीच चेतन अथवा वौद्धिक निरन्तरता है, उसमें वाह्य सन्तुलन की कोई आवश्यकता नही।

अन्त में, लाइवनित्स जगत् को रचित मानता है। यौक्तिक जगत् के साथ-साथ वस्तु-जगत् को वह वास्तविकता में स्थान देता है। उसकी सत्य की परिभाषा में केवल प्राथमिक विचार और उनके विषय ही सम्मिलित नही है। वह समस्त घटना-चक्र को सत्य मानता है, जैसा उसके आकस्मिक सत्यो की स्वीकृति से स्पष्ट होता है। इन सत्यो को कार्य-कारण शृखला के उद्‌घाटन से कभी भी प्रमाणित नही किया जा सकता। इनकी सत्यता का एकमात्र प्रमाण पर्याप्त युक्ति है, जिसका आधार स्वय ईश्वर है। अत ईश्वरकृत घटनाचक्र के अनियमित एव अव्यवस्थित होने की कल्पना ही असगत है। इस प्रकार, उसका पूर्व-स्थापित सगति का विचार उसकी अन्य मान्यताओ से असगत नही है।

दो प्रकार के सत्य

लाइवनित्स ने चिद्‌विन्दुओ की व्यवस्था से ससार की व्याख्या करने में विकसित और अविकसित, पूर्ण और अपूर्ण का भेद वहुत सूक्ष्म प्रत्यक्ष को सभी चिद्‌विन्दुओ का स्वभाव वता कर यह गुजाइश न रखी थी कि ज्ञान में सत्य और असत्य का भेद किया जा सके। सभी प्रत्यक्षो को उसने एक ज्ञानात्मक विकास-क्रम का अग वना दिया था। देकार्त ने स्पष्टता, अथवा स्वत साक्ष्य को सत्यता का प्रमाण माना था। लाइवनित्स इससे असहमत नही है। पर, स्पष्टता विकसित होती है। निचले विकास-स्तरो की ओर चलें तो वह कम होती चली जायेगी,

यहाँ तक कि हम अत्यन्त धूमिल, अथवा गुफित प्रत्यक्षो पर पहुँचेगे। पर, वे गुफित प्रत्यक्ष स्पष्टता की विकास-शृखला के ही अग है। उन्हें असत्य एव अपूर्ण कह कर तिरस्कृत नही किया जा सकता। वे मात्र भ्रम अथवा मिथ्या नही है।

लाइबनित्स कहना चाहता है कि ज्ञान के सस्थान में केवल आत्म-चेतन व्यक्तियो के ज्ञान को ही, जो अपने ज्ञान को ऐसे सरल विचारो में घटा सकते है कि वे स्पष्टतया सत्य प्रतीत हो, स्थान नही मिलना चाहिए। अन्यथा, ज्ञान का वहुत बडा भाग, जो सत्य ज्ञान में विकसित हो सकता है, ज्ञान के क्षेत्र से वाहर हो जायेगा। और वह सत्यो के दो भेद कर देता है—अनिवार्य और आकस्मिक सत्य। यौक्तिक सत्य अनिवार्य है और तथ्यात्मक आकस्मिक है। इन दोनो में विशेष अन्तर यही है कि अनिवार्य सत्य या तो ऐसे प्राथमिक, सरल एव स्पष्ट होते है कि उनकी सत्यता पर कोई सन्देह न किया जा सके,अथवा उन्हें तार्किक विश्लेषण से ऐसे सत्यो में घटित किया जा सकता है। आकस्मिक सत्यो के कारण अथवा आधार खोजने में तथ्यो की इस प्रकार की असीमित शृखला वनती चली जाती है कि कही ठहरने के लिए ईश्वर को ही आधार मानना पडता है। लाइबनित्स के लिए तथ्यात्मक अथवा आकस्मिक सत्यो को स्वीकार करना आवश्यक था। अन्यथा, अल्पविकसित चिद्बिन्दुओ को विश्व के सत्य सस्थान में कोई स्थान न मिल पाता।

तार्किक नियम

उपर्युक्त दो प्रकार के सत्यो की स्वीकृति के कारण लाइबनित्स के लिए आवश्यक हो गया था कि वह दर्शन के चिरपरिचित तार्किक नियम—अविरोध का नियम—के अतिरिक्त किसी अन्य नियम का भी अनुसन्धान करे। अविरोध के नियम के अनुसार वे सभी विचार सत्य है, जो किसी विरोधी विचार की सत्यता से खण्डित न हो। किन्तु, इस अविरोध का ज्ञान आत्म-सगति पर निर्भर करता है। देकार्त ने इसी नियम का प्रयोग करने के निमित्त समस्त ज्ञान को स्थगित कर, ऐसे सरल एव प्राथमिक सत्यो की खोज प्रारम्भ की थी, जिन्हें विना किसी अन्य आधार के मानवीय बुद्धि सत्य मान सके। उसका खयाल था कि इस प्रकार के

आत्म-सगत, अथवा स्वत प्रामाण्य सत्यो से निगमित सत्य भी असन्दिग्ध होगे। और वह केवल उन्ही सत्यो के सहारे अपने दर्शन की पूरी इमारत तैयार करना चाहता था। किन्तु, लाइवनित्स ने अपने चिद्‌विन्दुओ में असीम सम्भावनाओ के विकास की सामर्थ्य भरी देखी थी। स्पष्ट प्रत्यक्षो को ही नही, धूमिल और गुफित प्रत्यक्षो को भी ज्ञान के उच्चतम विकास की सम्भावनाओ से युक्त माना था। यदि वह केवल आत्म-चेतन मानव के ही ज्ञान को सत्य मानता तो उसके दर्शन में असगति उत्पन्न हो जाती। अत, उसने यह सकेत किया कि वे सत्य वहुत थोडे है, जिन्हें स्वय-सिद्ध कथनो में घटित किया जा सके। 'मैं कल बहुत दूर तक घूमने गया था' सर्वथा सत्य होते हुए भी ऐसे सरल एव स्पष्ट वाक्यो में नही व्यक्त किया जा सकता कि विना किसी अन्य सन्दर्भ की ओर सकेत किये हुए इसे सत्य माना जा सके। किन्तु, इन आकस्मिक सत्यो को मिथ्या कह कर टाला नही जा सकता। पर्याप्त युक्ति होने पर इन्हें मानना पडेगा। इस प्रकार, अविरोध के नियम के साथ उसने 'पर्याप्त युक्ति के नियम' की स्थापना की।

पर्याप्त युक्ति का नियम

दैनिक जीवन में इस नियम को सभी जानते हैं। आकस्मिक सत्य सामान्य भौतिक घटनाओ के विचार हैं। लाइवनित्स विचारो और उनसे सहसम्वन्ध रखने वाली घटनाओ में अनिवार्य सम्वन्ध मानता है। समय में जो विचार है वही देश में एक ठोस घटना है। जगत् की वहुता को उसने सत्य स्वीकार किया था। इसलिए, उसके लिए यह आवश्यक हो गया था कि पर्याप्त युक्ति के व्यावहारिक नियम को सैद्धान्तिक दिखा सके।

अविरोध का नियम उसके दर्शन के लिए पर्याप्त न था। यह नियम वस्तुओ, तथ्यो एव घटनाओ को नही उनके सारभूत सिद्धान्तो को ही प्रमाणित कर सकता है। अविरोध के नियम से सरल एव तदात्मक सत्यो की ही स्थापना की जा सकती, क्योकि विना किसी अन्य आधार के उसी विचार की सत्यता जान सकते हैं जो अपने आप, विना किसी अन्य तथ्य को जाने हुए, सगत मालूम हो। किसी भौतिक घटना को जो कितनी ही अन्य घटनाओ के जटिल सस्थान से उत्पन्न हुई है अकेले ही कैसे समझ लेंगे। पर, वह घटना तो घटित ही हुई है। हमें उसे समझने और

सत्य, अथवा असत्य मानने के लिए पर्याप्त युक्ति का सहारा लेना होगा। यह पर्याप्त युक्ति किसी सन्दर्भ में उसकी सगति है। लाइबनित्स इस विचार को 'सम्भव' और 'सहसम्भव' के भेद से व्यक्त करता है। वे सत्य जिन्हे अविरोध से स्थापित किया जा सकता है 'सम्भव' हैं, किन्तु पर्याप्त युक्ति 'सहसम्भव' सत्यों की स्थापना करती है।

लाइबनित्स को पर्याप्त युक्ति की आवश्यकता चिद्विन्दुओ की निरन्तरता, उनकी असीम सामर्थ्य, उनके विकासवान् स्वभाव की स्थापना के लिए तो थी ही, इस सम्पूर्ण विश्व को प्रमाणित करनें तथा इसका आधार खोजने के लिए भी थी। उसके सिद्धान्त के अनुसार, 'सम्भव' वस्तुएँ, जिन्हें अविरोध, अथवा आत्म-सगति के नियम से स्थापित किया जा सकता है अनिवार्यत अस्तित्ववान् नही हो सकती। गणित की प्राथमिक मान्यताओ को अपने आप में सगत होने से स्वीकार किया जा सकता है, उनमें अर्थ भी होता है, किन्तु उन मान्यताओ द्वारा कल्पित वस्तुओं की सत्ता किसी सन्दर्भ में सगत होने पर ही निर्भर है और सदर्भ से सगति का पता पर्याप्त युक्ति से ही चलता है, अर्थात् 'सहसम्भावना' प्रमाणित होने पर।

इसीलिए, लाइबनित्स केवल इस विश्व को नही, अनेक विश्वो को 'सम्भव' मानता है, जिनमें से प्रत्येक 'सहसम्भव' है। और पर्याप्त युक्ति एक आधार की भी माँग करती है। यही विश्व क्यो उत्पन्न हुआ, जब अनेक 'सम्भव' थे। यदि अनेक 'सम्भव' न होते तो यह भी 'सम्भव' न होता। इसके आधार के रूप में वह एक रचयिता की कल्पना करता है, जो ईश्वर है।

उसने अपनी स्वतन्त्र इच्छा से इस विश्व की रचना की यद्यपि उसके बोध में कितने ही विश्व सम्भव थे। उसने उन 'सहसम्भव' तत्त्वो का चुनाव किया है, जिनमें सबसे अधिक सत्यता एव पूर्णता थी। इस प्रकार, यह विश्व सभी 'सम्भव' विश्वो में से सर्वश्रेष्ठ है और जगत् की अन्तिम पर्याप्त युक्ति ईश्वरीय स्वभाव में है। ऐसा न मानें तो एक घटना को दूसरी घटना की सहायता से समझने के प्रयत्न करने में हम एक ऐसी असीम घटना-शृखला में उलझ जा सकते हैं जिसका कभी पार न मिले। अत, पर्याप्त युक्ति उसे उस अन्तिम कारण तक पहुँचा देती है, जहाँ अविरोध का तार्किक नियम नही ल जा सकता।

प्रमुख समस्याओ की व्याख्या

लाइबनित्स के दर्शन के आधारभूत सिद्धान्तो को प्रस्तुत किया जा चुका है। उन्ही के सहारे वह उन तमाम समस्याओ की व्याख्या करता है, जो पूर्ववर्ती तथा समसामयिक दर्शन में ज्यो की त्यो पडी रह गयी थी। यहाँ हम कुछ प्रमुख समस्याओ पर लाइबनित्स के विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। शेष के लिए, आगे लाइबनित्स की प्रतिनिधि कृतियो के अनुवाद प्रस्तुत हैं।

मन और पदार्थ

देकार्त के द्वैतवाद ने मन और पदार्थ के बीच बहुत गहरी खाई खोद दी थी। उसने दोनो को दो पृथक् द्रव्य मानकर उनके सम्बन्ध की समस्या को दुरूह बना दिया था। स्पिनोजा का निर्गुण द्रव्य का विचार भी इसे हल करने में समर्थ न हो सका, क्योकि तब उसे वही द्वैत निर्गुण द्रव्य के दो गुणो के बीच मानना पडा। स्पिनोजा के दर्शन में जिन्हें वह गुण कहता है परस्पर समानान्तर रहते हैं तथा गुण होने के कारण आधारभूत द्रव्य से जो निर्गुण, अथवा परिमाण है असगत हो जाते हैं।

लाइबनित्स के दर्शन में यह कठिनाई नही रह जाती। वह अविरोध के नियम को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार नही करता, इसलिए उसे मन और पदार्थ का पृथक्-पृथक् तादात्म्य मानने की आवश्यकता नही रह जाती। अथवा यह कहें कि उसके दर्शन में मन और पदार्थ के बीच कोई निरपेक्ष भेद नही रहता। चिद्‌विन्दुओ के भिन्न विकासस्तर होने से, गति और विराम में कोई जातिभेद नही। विराम का अर्थ अल्पतम गति, अथवा तीव्र गति की सामर्थ्य हो जाता है। विराम में गतिहीनता नही। ये दोनो सापेक्ष पद हैं। इसी प्रकार, चेतन और अचेतन का अन्तर सापेक्ष हो जाता है। सक्षेपत, यह कहा जा सकता है कि मन पदार्थ का व्यक्त रूप है और पदार्थ मन के विकास की सम्भावना है। फिर, चिद्‌विन्दुओ में निरन्तर 'रोचन' होता रहता है, जिसका अर्थ है कि विकास की प्रवृत्ति निरन्तर काम करती रहती है। विकास की 'सम्भावना' की कोई सीमा नही। इसलिए, सभी चिद्‌विन्दुओ में मन और पदार्थ साथ-साथ पाया जाता है। शुद्ध मन केवल ईश्वर है, जो सर्वोच्च चिद्‌विन्दु है। शेप चिद्‌विन्दुओ में प्रत्यक्ष की स्पष्टता की

कोई न कोई कोटि मिलेगी। फलत, धुंधलेपन या गुफन को भी कोई न कोई कोटि होगी। उसी अनुपात में पदार्थत्व होगा।

आत्मा और शरीर

लाइबनित्स अपनी इस समस्या को भी उन्ही मूल सिद्धान्तो के सहारे हल कर लेता है, जिनसे वह मन और शरीर की समस्या हल करता है। उसके चिन्तन में गति और विराम के लिए अलग-अलग स्थान तो है ही नही। वह कही भी केवल अविरोध या तादात्म्य के नियम का प्रयोग नही करता। प्राकृतिक घटनाओ को समझने में अविरोध और पर्याप्त युक्ति की साथ-साथ आवश्यकता है, अर्थात् प्रत्येक घटना को अपने आपमें और एक सस्थापन के अग के रूप में देखना है।

पिण्डो की रचना चिद्‌विन्दुओ की व्यवस्था से हुई है। जीवित शरीरो में एक केन्द्रीय चिद्‌बिन्दु रहता है, जो अपने चारो ओर के सभी चिद्‌विन्दुओ से अधिक जागरूक होता है। पर, निष्क्रियता और सक्रियता विभिन्न अनुपातो में सभी चिद्‌विन्दुओ में रहती है। इसलिए आत्मा और शरीर का सम्वन्ध भी सापेक्ष ही है। शरीर और आत्मा, दोनो ही, पूर्ण विकसित नही, केवल विकासावस्था में रहते है। एक चेतन प्रयोजन की व्याप्ति मान कर हम शरीर को आत्मा का पदार्थ और आत्मा को शरीर का आदर्श मान सकते है। जहाँ तक हम शरीर को द्रव्य के विकास की सामर्थ्य या सम्भावना मानेंगे, अविरोध के नियम से उसकी व्याख्या कर सकते है, यानी स्थिर मान कर भौतिक नियमो से। इसके विपरीत आत्मा को द्रव्य की गति अथवा विकसित फल मान कर, हमें उसे अन्तिम कारण की दृष्टि से देखना होगा।

जन्म और मरण

लाइवनित्स जन्म और मरण के विचारो से भी सहमत नही है। उसके चिद्‌विन्दु तो सभी एक-जातीय हैं। आज जिसमें वहुत धुमिल प्रत्यक्ष है, वही कल प्रवुद्ध होगा। जीवन के क्षीण स्पन्दनो में कल सकल्प शक्ति होगी। यही चिद्‌विन्दुओ के विकास का क्रम है। इसलिए चिद्‌विन्दुओ के जीवन-मरण की कोई समस्या नही है। समस्या यौगिक द्रव्यो के सघटन और विघटन की हो सकती है। बीजाणु का विकास होते ही पशु का जीवन प्रारम्भ हो जाता है।

उसमें पूर्ण विकसित पशु की सभी सम्भावनाएं रहती है। धीरे-धीरे उसके चारो ओर अपेक्षाकृत कम विकसित चिद्‌विन्दुओ का समूह जुट जाता है। इस प्रकार, एक यौगिक द्रव्य की रचना हो जाती है। अतएव, जन्म की घटना को वृद्धि के प्रत्यय से समझा जा सकता है। मरण को हम विघटन, ह्रास आदि के प्रत्ययो से समझ सकते हैं।

विचारो का स्वभाव

देकार्त ने चूंकि मन और शरीर में, अथवा मन और इन्द्रिय-सघात के बीच कोई स्वभाव-साम्य नही रखा था, उसे विचारो को जन्मजात मानना पडा। दो विरुद्ध स्वभाव वाले द्रव्यो से जीवित प्राणियो की रचना मानने का यह तार्किक निष्कर्ष था। इस द्वैत को मिटाने के प्रयत्न में जॉन लॉक ने मन को कोरी पटिया (टेबुला राजा) बना कर सभी विचारो को अर्जित स्वीकार किया।

लाइबनित्स के चिद्‌विन्दु के स्वभाव के अनुसार सभी विचार जन्मजात हैं, क्योकि उसमें सहज प्रत्यक्ष-शक्ति है। पर, प्रत्यक्ष के क्षेत्र में विकास होता है। अति अस्पष्ट प्रत्यक्षो से लेकर स्पष्ट प्रत्यक्ष तक एक विकासक्रम है। इस प्रकार, प्रारम्भ से ही स्पष्ट प्रत्यक्ष नही हो सकते। लॉक जिसे सवेदना कहता है, वह लाइबनित्स की पदावली में गुफित तथा अस्पष्ट प्रत्यक्ष है। अनुभव से वे स्पष्ट होगे। तभी वे स्वत प्रामाण्य द्वारा सत्य स्वीकार किये जा सकेंगे। अत, लाइबनित्स उन विचारो के लिए जो अनिवार्यत सत्य माने जाते है अनुभव की अपेक्षा करता है। स्पष्ट एव गुफित प्रत्यक्षो को भी वह असत्य नही मानता। उन्हें पर्याप्त युक्ति के आधार पर स्वीकार किया जाता है। ये विचार अनुभव की अपेक्षा नही करते। किन्तु, यह ध्यान रखना पडेगा कि स्पष्ट एव उलझे हुए विचारो के समूह में से ही स्पष्ट विचारो का अनुभव द्वारा विकास होता रहता है। मानवीय ज्ञान में ये दोनो प्रकार के विचार मिलते हैं। विकास-स्तर के अनुसार अनुपात मे अन्तर होगा। इस प्रकार, मानवीय ज्ञान एक साथ प्रागनुभवीय और अनुभवीय है।

कारण-कार्य सम्बन्ध

लाइबनित्स का कारण-कार्य सम्बन्धी विचार बहुत ही बौद्धिक है। उसके चिद्‌विन्दु आत्म-निर्भर द्रव्य है। उनमें से प्रत्येक असीम सम्भावनाएं लिये हुए

एक पूर्णता की ओर बढ रहा है, जिसका स्तर सस्थान मे उसके स्थान द्वारा निर्धारित होता है। सम्पूर्ण सस्थान में गुणात्मक निरन्तरता है, जिसका अथ है कि वे सब ऊर्ध्वगामी विकास के इतने समीपस्थ स्तरो पर हैं कि बीच के अन्तर असीमत लघु हैं। किन्तु, उनमें, सभी में, अपनी श्रेणी के ही अनुसार सहज क्रियाशीलता है। इस प्रकार, सम्पूर्ण जगत् के इन अगणित केन्द्रो में एक साथ विकास के असीमत भिन्न स्तर के स्पन्दन हो रहे हैं। सब में प्रारम्भ से एक स्वाभाविक सगति है, जो न कभी नष्ट हुई है और न आगे होगी। उनमें पूर्व-स्थापित सामजस्य है। अब कल्पना कीजिए कि श्रेणीबद्ध परिवर्तन निरन्तर होते चले जा रहे हैं। अगले स्तरो के परिवर्तन पिछले स्तरो के परिवर्तनो के साथ पूरी सगति रखते हैं। इस प्रकार, पिछले स्तरो पर जो कुछ होता है उसे अगले स्तरो की दृष्टि से कारण समझा जा सकता है, यद्यपि उनमें परस्पर न तो समय में क्रम है और न देश में लगाव है। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसमें कारण और कार्य एक दूसरे के पूर्व और उत्तरवर्ती नही हैं। यह सिद्धान्त कारण और कार्य को क्रमिक नही सहवर्ती मानता है। सभी चिद्‌बिन्दु वैचारिक रूप में 'सम्भव' है, किन्तु वास्तविकता में 'सहसम्भव' है। लाइबनित्स यहाँ भी निरन्तरता, अविरोध और पर्याप्त युक्ति के नियमो की माँगें एक साथ पूरी कर रहा है।

देश और काल

लाइबनित्स देश तथा काल को वास्तविकता नही मानता। उसके लिए इन दोनो की सत्ता मात्र वैचारिक है। उसने चिद्‌बिन्दुओ को सत्ता माना। ये गुणात्मक है। वह इन्हें कोई परिमाणात्मक आधार देना आवश्यक नही समझता। उसका एक तर्क यह है कि ऐसा करने पर सत्ताओ में भागो के बाहर भी कोई भाग मानना पडेगा। देश और काल का वस्तुओ से पृथक् कोई ज्ञान नही होता। देश और काल की कल्पना इसलिए की जाती है कि बिना देश कल्पित किये हुए वस्तुओ के सह-अस्तित्व की कल्पना नही की जा सकती। इसी प्रकार, काल की कल्पना घटनाओ के क्रम की कल्पना के लिए आवश्यक है। देश की कल्पना न करें तो 'सहसम्भव' सत्ताओ की कल्पना कठिन होगी। और काल की कल्पना उन वस्तुओ की कल्पना में सहायक होती है, जिन्हें हम एक साथ असगत पाते है, किन्तु

जिनका अस्तित्व विभिन्न कालखण्डो में मानने पर 'सम्भव' प्रतीत होता है। पर, इतने ही से इनकी सत्ता स्वीकार नही की जा सकती। इनकी स्वतन्त्र सत्ता होती तो वस्तुओ के बिना देश का और घटनाओ के बिना समय का प्रत्यक्ष होता। फिर, ये गुफित प्रत्यक्ष है, अवश्य ही किसी अनिवार्य सत्य के अपूर्ण प्रत्यक्ष हैं। पर्याप्त युक्ति का नियम प्रयुक्त करने पर किसी भी गुफित प्रत्यक्ष का अन्तिम आधार ईश्वर होता है। इस प्रकार, देशकाल की कोई स्वतन्त्र सत्ता नही, ये ईश्वर की विशालता और असीमता की अस्पष्ट और गुफित अभिव्यक्तियाँ हैं।

उपसहार

लाइबनित्स के दर्शन का सम्पूर्ण प्रयास सामान्य अनुभव को बौद्धिक चिन्तन से समन्वित करने का था। दर्शन के विकास की लम्वी परम्परा यूनानी दर्शन-काल से इस प्रयत्न में लगी हुई थी। प्लेटो और अरस्तू को भी इस द्वैत का भान हुआ था। प्लेटो ने विचार-जगत् और वस्तु-जगत् में सत्ता और उसकी अभिव्यक्ति का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया था। किन्तु, वह उनके स्वभाव-भेद को न मिटा सका। अरस्तू ने अपने सामर्थ्य और वास्तविकता के सम्वन्ध से स्पष्ट भेद को सापेक्षता में परिणत करने का अथक प्रयत्न किया था, किन्तु देश और काल को वास्तविक परिवर्तनो की पृष्ठभूमि मान लेने से वह उक्त द्वैत को न मिटा सका। लाइवनित्स अपने शुद्ध सापेक्षतावाद से भेदो को मात्र दृष्टिकोणो में परिणत कर देता है। अन्तिम और निमित्त कारणो का तथा बीच की सभी 'सम्भव' स्थितियो का उसके दर्शन में 'सह-अस्तित्व' है। ईश्वर, जो सर्वोच्च चिद्‌विन्दु है, अपने शुद्ध वोध में विश्व की अन्तिम सम्भावनाओ को देख रहा है और उसके शुद्ध सकल्प में विश्व की अन्तिम अभिव्यक्ति विद्यमान है। रचित चिद्-बिन्दु अपने-अपने दृष्टिकोण से उसी के प्रत्यक्षो और सकल्पो को प्रतिविम्वित करते है। वे सभी प्रतिविम्व उस एक सत्य के अस्पष्ट रूप हैं।

इस दर्शन में अपूर्णता और पूर्णता का कोई वास्तविक भेद नही। ईश्वर के शुद्ध प्रत्यक्ष पूर्ण रूप से स्पष्ट एव विश्लिष्ट है। शेष जगत् के प्रत्यक्षो पर धूप-छाँह के विभिन्न अनुपात हैं। इसलिए, वे न केवल प्रागनुभवीय हो सकते है और न केवल अनुभवीय हो सकते हैं। मानवीय प्रत्यक्ष सश्लिष्ट और विश्लिष्ट दोनो

है। किसी एक नियम से हमारा काम नही चल सकता। हमें विज्ञान और दर्शन दोनो की एक साथ आवश्यकता है। हमारे ज्ञान का थोडा भाग विश्लेषण की सतह तक पहुँचता है, शेष अविश्लिष्ट अथवा सश्लिष्ट रह जाता है। अथवा, यह कहें कि हमें कुछ अनिवार्य सत्यो का पता चल सका है और शेष ज्ञान पर्याप्त युक्ति पर आधारित है।

लाइबनित्स के चिन्तन की व्यापकता का हमें तब पता चलता है, जब हम जर्मनी के भावी चिन्तन में दार्शनिको को किसी-न-किसी रूप में लाइबनित्स की गुत्थियो में ही उलझा हुआ पाते है। इमैनुएल काट को लीजिए शुद्ध सापेक्षता से परेशान, विश्लेषणात्मक और सश्लेषणात्मक निर्णयो की एकता खोजने में लगा हुआ है। ज्ञेय और उसकी अभिव्यक्ति में अन्तत कोई सम्बन्ध नही खोज पाता, शुद्ध बुद्धि को व्यावहारिक बुद्धि की सहकारिता की आवश्यकता होती है। सूक्ष्म विवेचन में यह अविरोध के नियम की पर्याप्त युक्ति के सामने हार है।

हेगल जैसा प्रतिभाशाली दार्शनिक पाता है कि लाइबनित्स के चिद्विन्दु में निरपेक्ष निजत्व न होता तो उसका दर्शन बहुत ही युक्तियुक्त हो जाता। हेगेल चाहता था कि लाइबनित्स अपने रचित चिद्विन्दुओ को पर्याप्त युक्ति के नियम के ही अधीन रहने देता और अविरोध के नियम के अन्तर्गत अपने उच्चतम चिद्विन्दु को ही रखता। हेगेल का द्वन्द्वात्मक विकासवाद अविरोध और पर्याप्त युक्ति के नियमो को आत्म-चेतनता की अभिव्यक्ति मानता है।

दर्शन में ही नही, लाइबनित्स का प्रभाव अन्यत्र भी दिखाई देता है। उसी ने पहले-पहल चेतन और अचेतन का भेद मिटाया। गुफित प्रत्यक्ष, जिसे वह 'लघु प्रत्यक्ष' कहता है, स्पष्ट प्रत्यक्ष का आधार है, अचेतनता से ही चेतनता विकसित होती है। यह विचार-वाद के मनोविज्ञान में बहुत ही आधारभूत हो गया, किन्तु लाइबनित्स के समय तक इन दो स्थितियो को भिन्न माना जाता था। दर्शन के लिए विज्ञान की, उचित विश्लेषण के लिए सश्लिष्ट ज्ञान-सामग्री की, निगमन के लिए आगमन की आवश्यकताओ का उसने बलपूर्वक समर्थन किया था। भले ही उसके पूर्व-स्थापित सामजस्य नियम को हम असगतियो से मुक्त न पा सकें, किन्तु व्यावहारिक दर्शन की दृष्टि से यह कितना आवश्यक विचार था कि यह

ससार एक नियमित व्यवस्था के रूप में उत्पन्न हुआ है और यह व्यवस्था अगण्य परिवर्तनो के बावजूद भी बिगड़ने वाली नही ।

हम आशा करते है कि इन सक्षिप्त चिन्तन-सम्बन्धी सकेतो से लाइबनित्स की तीन छोटी-छोटी कृतिया जो अगले पृष्ठो में प्रस्तुत की जा रही है पाठको को काफी रुचिकर प्रतीत होगी ।

अध्यक्ष, दर्शन-विभाग,
सेंट एँड्रयूज कालेज,
गोरखपुर । शिवानन्द शर्मा

आचार्य श्री विजय...

१. मूल स्थापनाएँ

गति-सिद्धान्त बल[1] का सरक्षण

लाइबनित्स के अनुसार गति मात्र स्थिति में परिवर्तन है। यह कोई भावात्मक गुण नही है, जो गति-काल में गतिमान् वस्तु से सम्बद्ध हो जाता है। गति और विश्राम पूर्णत परस्पर सापेक्ष है। यदि किन्ही दो वस्तुओ की आपेक्षिक स्थिति में परिवर्तन हो, तो हम दोनो में से किसी एक को गतिमान् और दूसरी को स्थिर मान ले सकते है। सामान्य अर्थ में, विश्राम गति की असीमत लघु कोटि है। ससार में ऐसी कोई वस्तु नही जो पूर्णत स्थिर हो। इसलिए, कोई भी पिड पूण विश्राम की अवस्था से नही गति प्रारम्भ करता है, बल्कि उस अवस्था से जिसे गति की ही एक अवस्था मानना चाहिए वह मात्रा में कितनी ही कम क्यो न हो। व्यक्त[2] गति हमेशा स्थितिज[3] गति या किसी बल की पूर्वापेक्षा करती है, जो व्यक्त न होने पर भी व्यक्त गति के रूप में प्रस्तुत होने का प्रयत्न करती है। इस दृष्टि से, देकार्त ने उचित ही व्यक्त गति को स्थिति-परिवर्तन माना था, किन्तु स्थितिज गति की उपेक्षा करना उसकी भूल थी और विश्व की अथवा किसी स्वतन्त्र सस्थान की वास्तविक व्यक्त गति की सम्पूर्ण मात्रा को स्थिर मान लेना भी। उसका यह मानना ठीक था कि प्रत्येक पिड में अपनी अवस्था में बने रहने की प्रवृत्ति होती है, किन्तु यह मानना गलत था कि कोई पिण्ड पूर्ण विश्राम की अवस्था में भी रह सकता है, और यह भी कि एक गति दूसरी गति का विरोध नही कर सकती क्योकि गति का विरोधी विश्राम है। वस्तुत, प्रत्येक वस्तु गति की ओर प्रवृत्त होती है और यदि अन्य वस्तुओ की गति सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ उसका विरोध न करे तो वह गति करेगी।[4] अत, जो सरक्षित होता है वह पदार्थमय द्रव्य का बाह्य गुण या व्यक्त गति नही, बल्कि आतरिक प्रवृत्ति या स्थितिज गति है, जिसे

१ Force   २ Actual   ३ Potential

४ लाइबनित्स 'इस तथ्य की ओर ध्यान देना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु

लाइवनित्स 'वल' कहता है । केवल स्थिति-परिवर्तन से, दो वस्तुओ में से उस एक पर जिसकी स्थिति में परिवर्तन होता है, हम गति का आरोप नही कर सकते, दूसरी पर भी इस प्रकार का आरोप नही कर सकते । हम जिस वस्तु को गतिमान् कहते है वह अपनी गति (स्थिति-परिवर्तन के अर्थ में) के कारण उस वस्तु से जो विश्राम की अवस्था में है भिन्न नही है, वल्कि इसलिए कि उसके भीतर परिवर्तन का कारण वल या क्रियाशीलता है जो गति उत्पन्न करती है । लाइवनित्स कहता है 'वल की धारणा उतनी ही स्पष्ट है जितनी सक्रियता या अक्रियता की क्योकि जब कोई वाधक नही होता तो उसी से क्रिया उत्पन्न होती है । यह प्रेरणा है 'कोनेटस', जव कि गति एक क्रमिक तत्त्व है, परिणामत , वह जिसकी कभी सत्ता नही होती, उसी तरह जैसे समय की, क्योकि उसके सभी भाग एक साथ नही स्थित होते—जव कि मै कहता हूँ,दूसरी ओर वल या प्रेरणा प्रत्येक क्षण में अपनी सम्पूर्ण सत्ता रखती है और अनिवार्यत सत्य होती है । और चूंकि प्रकृति का सरोकार सत्य से है, वनिस्वत उसके जिसकी हमारे मन से वाहर कही सम्पूर्ण सत्ता नही, यह प्रकट होता है कि प्रकृति में वल की वही मात्रा सरक्षित होती है, न कि (जैसा देकार्त ने माना था) गति की वही मात्रा ।"[१]

तव, यह वल जो स्थिर है न केवल एक वास्तविक सत्ता है, वल्कि एक समर्थ

अपने वाहर की वस्तुओ पर क्रिया करने की चेष्टा करती है और वस्तुत भी क्रिया करती यदि वाहरी वस्तुओ के विरोधी प्रयत्न उसे ऐसा करने से रोक न देते । इसकी ओर हमारे आधुनिक विचारको ने यथेष्ट ध्यान नहीं दिया है । वे ` हूं कि कोई वस्तु विना किसी प्रयत्न के पूर्ण विश्राम की अवस्था में रह सकती है । किन्तु, इस प्रकार सोचने का कारण यह न समझ पाना है कि पिण्डीय द्रव्य क्या है, क्योकि मेरी राय में विना क्रिया के द्रव्य नहीं हो सकता ।'

(पेलीसन को पत्र, १६९१)

१ पेलीसन को पत्र (सम्भवत , १६९१) । तुलना कीजिए 'दो पिण्डो का आपेक्षिक वेग, velocity (अथवा, उनकी व्यक्त गति) वही बनी रह सकती है, यद्यपि यथार्थ वेग तथा निरपेक्ष वल असख्य प्रकार से बदलते रह सकते

सत्ता है। यह न गति की मात्र सामर्थ्य है, न अक्रिय गतिशीलता, न वस्तुत व्यक्त गति अथवा सामान्य अर्थ मे क्रियाशीलता। यह दोनो के बीच कुछ है क्रिया की एक अविकसित अथवा निरुद्ध प्रवृत्ति जो उपकारक परिस्थितियो में क्रिया उत्पन्न करती है।[1] यह बल अपने द्वारा उत्पन्न किये हुए परिणाम की मात्रा से मापा जा सकता है। देकार्त ने ठीक ही परिणाम की मात्रा को माप की वस्तु ठहराया था, किन्तु इसे व्यक्त गति (=किसी पिण्ड द्वारा अर्जित सवेग Momentum) मान कर उसने परिणाम का अति सकुचित अर्थ ग्रहण किया था। लाइ-बनित्स इसे कर्म प्रेरणा कहता है बल द्वारा किया हुआ काम उसके द्वारा उत्पन्न की हुई गतिज ऊर्जा। इस कर्म प्रेरणा[2] का सूत्र मा वे न होकर मा वे[2] है। "किसी पिंड की एकाकार गति में—(१) दो घण्टे में दो लीग चलने का कर्म एक घण्टे में एक लीग चलने के कर्म का दुगुना है (क्योकि पहले कर्म में दूसरा दो बार शामिल है), (२) एक घण्टे में एक लीग चलने का कर्म दो घण्टे में एक लीग चलने के कर्म का दुगुना है (अथवा, जो कर्म एक ही परिणाम उत्पन्न करते हैं अपने वेगो के आनुपातिक होते हैं इसलिए (३) दो घण्टे में दो लीग चलने का कर्म दो घण्टे में एक लीग चलने के कर्म का चौगुना है। इस प्रदर्शन से प्रकट होता है कि कोई गतिमान् पिण्ड जो एक ही समय में दुगुना या तिगुना परिणाम उत्पन्न करने के लिए दुगुना या तिगुना वेग प्राप्त कर लेता है, चौगुना या नौगुना

हैं, जिससे मालूम होता है कि आपेक्षिक वेग के सरक्षण का उससे कोई सम्बन्ध नहीं जो पिण्डो में निरपेक्षत स्थित है।' (गति पर लेख, गर्॰ गणित, ६, २१६)।

१ 'किन्तु क्रियात्मक बल में एक दी हुई क्रियाशीलता रहती है और वह क्रिया-शक्ति एव क्रिया के बीच का मध्यमान है। उसमें प्रेरणा सम्मिलित रहती है और इसलिए अपने आप क्रियाशील हो जाता है, जिसके लिए किसी सहायक की नहीं, केवल रुकावट दूर करने की आवश्यकता होती है। इसे किसी भारी लटकने-वाले पिण्ड के उदाहरण से जो रस्सी को ताने रखता है अथवा खिचे हुए धनुष के उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है।' (प्रथम दर्शन में सशोधन, १६६४)

२ Action Motrice (Motive Force)

कर्म प्राप्त करता है। इस प्रकार, कर्म वेगो के वर्गों के आनुपातिक होते हैं। किन्तु वडे हर्ष की वात है कि यह मेरे वल के आकलन से भी मिलता है, जिसे मैंने प्रयोगो एव यह मान कर भी प्राप्त किया है कि यान्त्रिक निरन्तर गति नही होती। क्योकि मेरे आकलन के अनुसार, वल उन ऊँचाइयो के आनुपातिक होते है जिनसे गिर कर भारी पिण्ड अपने वेग प्राप्त कर सकते है, यानी वेगो के वर्ग। और चूँकि उसी ऊँचाई तक चढने के लिए या कोई दूसरा परिणाम उत्पन्न करने के लिए सम्पूर्ण वल का व्यय होता है, यह प्राप्त होता है कि ससार में गतिकारक "वल" (कर्म प्रेरणा) की उतनी ही मात्रा व्यय होती है, अथवा यूं कहें, निश्चित रूप में रखने के लिए, कि किसी एक घण्टे में विश्व में उतनी ही कर्म प्रेरणा रहती है जितनी किसी दूसरे घण्टे में। किन्तु, प्रत्येक क्षण[1] में वल की उतनी ही मात्रा सरक्षित होती है। और वस्तुत कर्म वल की क्रिया के अतिरिक्त कुछ नही, और वह वल एव समय के गुणनफल के वरावर होता है।' इस प्रकार, यह प्रेरक बल, अथवा कर्म प्रेरणा, जिसकी मात्रा स्थिर है अपने में दिशा एव गति की मात्रा भी आत्मसात् कर लेती है। क्योकि इसकी माप ऊँचाई या पृथ्वी के तल से आपेक्षिक स्थिति है। देकार्त की 'गति की मात्रा' (मा वे) उस दिये हुए वल का परिणाम है जिसे किसी दिये हुए समय में क्रियाशील माना जाता है। लाइवनित्स का 'विस् विवा' (मा वे^{2}) किसी दिये हुए वल का परिणाम है जिसे किसी दी हुई दूरी में भी क्रियाशील समझा जाता है। देकार्त ने अपनी गति की व्याख्या में दिशा को स्थान नही दिया था क्योकि उसने जिस दूरी के बीच वल क्रिया करता है उसकी ओर ध्यान नही दिया था।

लाइवनित्स का पदार्थ[2] सिद्धान्त

(१) प्राथमिक पदार्थ लाइवनित्स वल के सरक्षण के सिद्धान्त को जिस

१ 'किसी गतिमान् पिण्ड की क्षणिक अवस्था में गति नहीं हो सकती, क्योकि गति के लिए समय चाहिए, किन्तु फिर भी इसमें वल सम्मिलित रहता है।'
(दे मेजों को पत्र, १७११)

२. Matter

रूप में देखता है उसमें इस मत का पदार्थ मात्र विस्तार[1] है। तिरस्कार छिपा हुआ है। विस्तार गति प्राप्त करने की सामर्थ्य मात्र है, केवल गतिमत्ता, जब कि गति पूर्ण क्रियाशीलता है और उस वस्तु से जो गतिमान् होती है बिल्कुल बाह्य है। दूसरी ओर, बल, जैसा हमने अभी देखा, दोनों के बीच का कुछ है, अर्थात् गति की सामर्थ्य या कर्म की जो किसी दूसरे पिंड की समान प्रवृत्ति से बाधित न होने पर हमेशा व्यक्त कर्म में परिणत होती रहती है। इस प्रकार, यह बल केवल व्यक्त या भावात्मक कर्म में ही नही, बल्कि बाघ या रुकावट में भी प्रकट होता है। और यदि यह बल पदार्थमय पिंडो के स्वभाव का न होता तो पदार्थमय पिण्डो में विरोध-शक्ति न होती और निरन्तर गति की निरर्थकता सत्य होती। क्योंकि यदि पदार्थमय पिण्ड पूरी तरह विस्तार से ही निर्मित होते, तो उनमें से किसी गतिमान् पिण्ड के किसी ठहरे हुए पिण्ड यानी गतिरहित पिण्ड के सम्पर्क में आने पर दूसरा पिण्ड पहले के साथ चला जाता। क्योंकि परिकल्पना के अनुसार, देश के अतिरिक्त गतिमान् वस्तु के बढ़ाव को रोकने वाला और कुछ भी नही, और यदि गति किसी भी रूप में सम्भव है तो वह देश से होकर ही सम्भव है, अर्थात् गति जिसे मात्र देश नही रोक सकता।[2]

१ 'विस्तार एक धर्म है जिससे किसी ठोस वस्तु का निर्माण नहीं हो सकता। हम उससे किसी क्रिया या परिवर्तन की कल्पना नहीं कर सकते। वह केवल वर्तमान अवस्था व्यक्त करता है, भविष्य और भूत बिलकुल नहीं, किन्तु द्रव्य के प्रत्यय को इसे व्यक्त करना चाहिए। जब दो त्रिभुज आपस में जुड़े हुए मिलते हैं, तो हम यह अनुमान नहीं कर पाते कि वे कैसे जुड़ गये थे। क्योंकि यह बहुत तरीको से हो सकता है, किन्तु कोई भी वस्तु, जिसके अनेक कारण हो सकते हैं कोई ठोस वस्तु नहीं हो सकती।

(आर्नाल्ड को एक पत्र की योजना, १६८६)

२ 'यदि देकार्त के अनुयायियों के साथ हम भी यह मान लेते कि संसार में पूरित स्थान Plenum और पदार्थ की निरन्तरता है, केवल गति जोड कर, तो यह प्राप्त होता कि ससार में कभी समानधर्मियों की स्थानापन्नता के सिवा कुछ

तदनुसार, विस्तार के अतिरिक्त प्रत्येक पदार्थमय पिण्ड में विरोध-शक्ति या अभेदकता होनी चाहिए । लाइबनित्स इस अक्रिय विरोध-शक्ति को अनेक अवसरो पर 'एन्तीतीपिया' (यूनानी शब्द) कहता है । यह 'एन्तीतीपिया' किसी पिण्ड की देश की आवश्यकता है—पिण्ड मात्र स्थान नही है किन्तु वह पिण्ड नही हो सकता जब तक उसका निज का कोई स्थान न हो । और उसकी 'एन्तीतीपिया' अपने स्थान में बने रहने में, जहाँ है वही ठहरे रहने में निहित है । अत , विरोध-शक्ति एक अक्रिय बल है । 'पदार्थ अपने आप में लिये जाने पर, यानी मात्र पदार्थ एक साथ एन्तीतीपिया और विस्तार है । एन्तीतीपिया से मेरा मतलब वह धर्म है जिसके कारण पदार्थ देश में स्थित है । विस्तार देश के बीच निरन्तरता है, अथवा पूरे देश में निरन्तर फैलाव ।' 'पदार्थ वह है जिसका मुख्य धर्म एन्तीतीपिया है, या जो भेदन का विरोध करता है, इस प्रकार मात्र पदार्थ केवल अक्रिय है ।' जहाँ तक पदार्थमय पिण्ड विस्तृत है और एक स्थान भरता है जो उसी समय दूसरे पिण्ड द्वारा नही भरा जा सकता (क्योंकि एन्तीतीपिया या अभेदकता का यही अर्थ है) वह मात्र पदार्थ है । इस प्रकार परिभाषित (एन्तीतीपिया + विस्तार) मात्र या अमूर्त पदार्थ को लाइबनित्स प्राय प्राथमिक पदार्थ (मैटीरिया प्राइमा) कहता है ।

(२) द्वितीय पदार्थ प्राथमिक पदार्थ अपने आप में कोई वास्तविक वस्तु

नहीं होगा, गोया कि सम्पूर्ण विश्व अपनी धुरी के चारों ओर घूमने वाले किसी एकाकार चक्र, अथवा पूर्ण रूप में निरवयव पदार्थ के एक-केन्द्रीय वृत्तों की गति में घटित हो जाता । उस दशा में, ससार की किसी एक क्षण की अवस्था को किसी दूसरे क्षण की अवस्था से भिन्न जान लेना किसी देवदूत के लिए भी सम्भव न होता। क्योंकि फिर घटनाचक्र में कोई विविधता न होती । इसीलिए, चित्र, आयाम और गति के अलावा आकारो को भी स्वीकार करना चाहिए, जिनसे पदार्थ में विविधता आती है, और मै नहीं देखता कि इन आकारो को 'चेतन सत्ता' के सिवा हम कहां से पा सकते हैं, यदि उन्हें बोधगम्य होना है । (वॉलेज को पत्र, १६६३)

नही है। जैसे गणित का बिन्दु वास्तविक नही है फिर भी विस्तार की अविभाज्य सीमा है, उसी प्रकार प्राथमिक पदार्थ पदार्थ की अविभाज्य सीमा है। पदार्थ का कोई भी भाग, कोई भी पदार्थमय पिण्ड केवल प्राथमिक पदार्थ से बना हुआ नही है, जैसे विस्तार का कोई भाग मात्र गणितीय बिन्दु नही है। प्राथमिक पदार्थ केवल पिण्ड है जिसे विशुद्ध रूप में अक्रिय मान लिया गया है यह पिण्ड की अमूर्त अक्रियता है। किन्तु, जैसा हम देख चुके हैं, लाइबनित्स के मत में पूर्ण अक्रियता जैसी कोई चीज नही। अक्रिय विरोध, अभेदकता, अवरोध, सब में एक वास्तविक बल, एक कर्मप्रवृत्ति सम्मिलित है, चाहे वह प्रवृत्ति इस या उस विशेष क्षण में विपरीत दिशा में कार्य करने वाले बलो के द्वारा अवरुद्ध होकर अपने आप को व्यक्त न कर सके। अक्रियता क्रियाशीलता की सीमा है, जैसे विश्राम गति की सीमा है। इससे यह प्राप्त होता है कि प्रत्येक पदार्थ-पिण्ड अन्तत एन्तीतीपिया और विस्तार से कुछ अधिक है। वह सारत बल या ऊर्जा है, किसी प्रकार की क्रियाशीलता। चूंकि यह बल एक अविकसित क्रिया, एक ऐसा बल है जो अपने आप को प्रकट करने की चेष्टा करता है, यह स्वय चालित या स्वय स्फूर्त है और अपने आप में भविष्य दशाओ का तत्त्व लिये हुए है, यह एक चेतन सत्ता (एन्तेलेखी) है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ-पिण्ड द्वितीय पदार्थ (मैटीरिया सेकन्डा) है, प्राथमिक पदार्थ जिसमें से अलग किया हुआ अनुचय है।[1] प्रत्येक पूर्ण द्रव्य प्राथमिक पदार्थ + चेतन सत्ता, अथवा अक्रियता + क्रियाशीलता है।

ऊपर देख चुके हैं कि प्राथमिक पदार्थ एक अमूर्त अक्रियता है। अत, इसे वास्तविक द्रव्य नही माना जा सकता। दूसरी ओर, द्वितीय पदार्थ विस्तृत और

१ 'पदार्थ को या तो द्वितीय पदार्थ या प्राथमिक पदार्थ समझा जाता है, वस्तुत द्वितीय पदार्थ पूर्ण द्रव्य है, किन्तु केवल अक्रिय पदार्थ नहीं। प्राथमिक पदार्थ केवल अक्रिय है, किन्तु पूर्ण द्रव्य नहीं है, और इसमें एक आत्मा या आत्मा-जैसा आकार, चेतन सत्ता, अथवा एक प्रेरणा या क्रिया करने की प्राथमिक ऊर्जा जोडने की जरूरत है, जो अन्तर्भूत नियम हो और जिसे दैवी आदेश से अंकित कर दिया गया हो।' (आर० सी० वैगनर को पत्र, १७१०)

असीमत विभाज्य है। इसलिए, वह एक द्रव्य नही हो सकता। द्वितीय पदार्थ में चेतन सत्ता होती है, किन्तु दोनो तदात्मक नही है। तो फिर, द्वितीय पदार्थ वस्तुओ का सकलन है इसे परिमाणात्मक समझना चाहिए, जिसमें भागों के बाहर भाग है। और इस प्रकार यह द्रव्य से, जिसे प्रेरणा-तत्पर बल अर्थात् साधन-साध्य-सम्बन्ध के अन्तर्गत समझना चाहिए, बिलकुल पृथक् है।[१]

सक्षेपत, प्रायमिक पदार्थ अमूर्त अक्रियता, क्रिया की सीमा है, और इस प्रकार, यह चिद्विन्दु की ससीमता अथवा अपूर्णता है। इसी प्रकार, द्वितीय पदार्थ केवल अमूर्त परिमाण, गहराई की सीमा है, और इसलिए यह उसका मात्र आभास है, जो स्वभावत एक और अविभाज्य है यानी आत्मा का जिसे शरीर अपने भीतर रखता है। फलत, प्रत्येक रचित चिद्विन्दु अथवा सरल द्रव्य में, जहाँ तक वह पूरी तरह क्रियाशील नही है, प्रायमिक पदार्थ है, दूसरे शब्दो में, चूंकि क्रियाशीलता और अक्रियता आपेक्षिक पद है, प्रत्येक रचित चिद्विन्दु में प्रायमिक पदार्थ का होना आवश्यक है—क्योकि उसकी क्रियाशीलता पूर्ण विकसित नहीं है, क्योकि वह विशुद्ध क्रिया या अक्रियतारहित क्रियाशीलता नही है। 'प्रायमिक पदार्थ प्रत्येक चेतन सत्ता के लिए आवश्यक है और उसे कभी अलग नही किया जा सकता, चूंकि वह उसे पूरा करता है और सम्पूर्ण द्रव्य की अक्रिय सामर्थ्य है' ईश्वर किसी द्रव्य के प्रायमिक पदार्थ का अपहरण नही कर सकता, क्योकि तब वह उसे शुद्ध क्रियाशीलता बना देगा जो वह खुद है।[२] दूसरी ओर, द्वितीय पदार्थ है, जो

१ 'सयत भाषण में, प्रायमिक पदार्थ द्रव्य नहीं है, बल्कि अपूर्ण कुछ है। और द्वितीय पदार्थ (उदाहरणार्थ, आंगिक पिण्ड) भी द्रव्य नहीं है, किन्तु अन्य कारण से क्योंकि वह अनेक द्रव्यों का सकलन है, मछलियो से भरे तालाब या भेडो के गल्ले की तरह, और फलत यह वह है जिसे 'सयोगवश एक' ('यूनम् पर एक्सीडेन्स्') कहा जाता है। एक शब्द में, एक आभास। सत्य द्रव्य (जैसे, एक पशु) एक अपदार्थ आत्मा और एक आंगिक पिण्ड से निर्मित है, और इन दोनों के सयुक्त रूप को 'अपने आप में एक' ('यूनम् पर से') कहा जाता है। (रेमॉन्ड को पत्र, १७१५)

२ बॉसेज को पत्र, १७०६।

किसी विशिष्ट चेतन सत्ता या व्यक्तिगत द्रव्य से नही जुडा है। यह चिद्विन्दुओ के बीच एक सम्बन्ध है जो समय-समय पर बदल सकता है और वस्तुत निरन्तर बदलता रहता है। लाइवनित्स ने नदी से इसकी तुलना की है।[1] 'ईश्वर अपनी निरपेक्ष शक्ति से द्रव्य के द्वितीय पदार्थ का अपहरण कर सकता है।'[2] वस्तुत, वह अपने आप में कोई सत्य वस्तु नही है, केवल किन्ही चिद्विन्दुओ के बीच, जिन्हें विचारत एक अल्पकालिक सकलन या समुच्चय समझा जाता है, एक सम्बन्ध है। सत्य अस्तित्व केवल चिद्विन्दु है, जो शुद्ध आत्मिक एव अदेशीय अस्तित्व हैं, किन्तु अपेक्षाकृत गुफित या अमूर्त एव अपूर्ण विचार (अर्थात् इन्द्रिय बोध या कल्पना में जो वास्तविक विचार से भिन्न है) में हम देश में विभिन्न समूहो में एकत्र वस्तुओ के आभासो को पाते है और ये समूह, मात्र समूह के रूप में, द्वितीय पदार्थ है।[3]

१ चिद्बिन्दु विद्या, अवतरण ७१ देखिए।

२ बॉसेज को पत्र, १७०६।

३ 'मेरी राय में, हमारा शरीर मात्र (आत्मा को छोड कर), अथवा लाश, केवल शब्दों के गलत प्रयोग द्वारा ही एक द्रव्य कही जा सकती है, जैसे एक मशीन, अथवा पत्थरों का एक ढेर, जो समूहीकरण के कारण एक वस्तु हैं, क्योकि द्रव्य की एकता से सुडौल और बेडौल व्यवस्था का कोई सम्बन्ध नहीं   मैं तो यह मानता हूँ कि सगमर्मर का चबूतरा शायद पत्थरों के ढेर की तरह है, और इसलिए एक वस्तु की जगह नहीं आ सकता, बल्कि अनेक का समुच्चय है। मान लीजिए दो पत्थर हैं—उदाहरण के लिए, वैभवशाली ड्यूक का हीरा और महान् मुगल का हीरा—हम उन दोनो को, उनके मूल्यों की दृष्टि से एक ही समहवाची नाम दे सकते है, और कह सकते है कि वे हीरो का एक जोडा है, पर वस्तुत वे एक-दूसरे से बहुत दूर हैं। किन्तु, यह नहीं कहा जायगा कि उन हीरो के योग से एक द्रव्य बन गया है। अधिक या कम से यहाँ कोई अन्तर नहीं पडता। मान लीजिए, हम उन (दोनो हीरो) को पास लायें, और यहाँ तक कि उन्हें एक दूसरे को छू लेने दें, तब भी द्रव्य में वे कुछ अधिक नहीं मिल जायेंगे। यहाँ तक कि उनके एक दूसरे से सट जाने के बाद यदि हम उनमें कोई ऐसी वस्तु जोड दें जो उन्हें अलग न होने दे—जैसे हम उन्हें एक अँगूठी में जड दें—यह सब उन्हें वही बना देगा जिसे सयोगवश

भलीभाँति आधारित आभास

चूँकि द्वितीय पदार्थ हमेशा एक समूह होता है और प्रत्येक समूह की सत्यता के लिए एक अविभाज्य सरल द्रव्य या आत्मा पूर्वापेक्षित है, इस प्रकार के वस्तु-समूहो या समुच्चयो को, उनकी शक्तियो, कार्यों तथा प्रभावो को लेते हुए, लाइवनित्स कभी-कभी भलीभाँति आधारित आभास कहता है। स्वप्नो अथवा अचानक दिखाई देने वाले दृश्यो की तुलना में, जो स्पष्ट रूप में आभास हैं तथा जिनके बीच कोई उचित सूत्र या सम्वन्ध नही है, इन्हें भलीभाँति आधारित माना गया है। स्वप्नो की अपेक्षा ये अधिक सजीव, वहुसूत्रित (अर्थात्, विविध सम्वन्धो में प्राप्य एव निरीक्षण-परीक्षण के योग्य) तथा सगत है अपने आप में सगत होने के साथ ही सामान्य जीवनधारा से, अथवा दूसरे आभासो के साथ होने वाले अनुभवो से भी सगत है। इनमें से अन्तिम परीक्षण सवसे अधिक सतोषप्रद होता है, खास तौर से जव इसकी पुष्टि दूसरे लोगो के साक्ष्य से जिन्होने इसका प्रयोग किया है हो जाती है। 'किन्तु आभास की सत्यता का सवसे वलवान् प्रमाण (ऐसा प्रमाण जो वस्तुत अपने आप में पर्याप्त हो) भूत तथा वर्तमान आभासो से भविष्य आभासो के पूर्व-कथन में मिलता है। चाहे पूर्व-कथन की सफलता किसी युक्ति या परिकल्पना पर आधारित हो, अथवा किसी प्रचलन पर जिसका अव तक निर्वाह होता रहा है।'[1] सक्षेप में, भलीभाँति आधारित आभासो को भ्रमो से पृथक् किया जा सकता है, क्योंकि वे पृथक् और असम्वद्ध नही होते वल्कि इस प्रकार सम्वद्ध होते हैं कि उनकी पूर्व-स्थितियो को खोजा जा सकता है और

एक कहते हैं। क्योकि वे मानों सयोग से एक गति में भाग लेने के लिए वाध्य हुए हैं। द्रव्य की एकता के लिए एक अविभाज्य और स्वाभाविक अखण्डता की आवश्यकता है, क्योकि इस प्रकार के अस्तित्व के अर्थ में वह सभी कुछ सम्मिलित है जो भविष्य में उसके साथ घटित हो सकता है।'

(आर्नाल्ड को पत्र, १६८६)

१ काल्पनिक से सत्य आभासों को पृथक् करने का ढग (ए० ४४४ ए, गा० ७.३२०)

पर-स्थितियो को निगमित किया जा सकता है ।[1] लाइबनित्स यहां तक कह देता है कि—'यद्यपि इस सम्पूर्ण जीवन को स्वप्नमात्र, और दिखाई देने वाले जगत् को सारहीन दृश्य कहा जा सकता था, किन्तु मै इस स्वप्न और सारहीन दृश्य को पर्याप्त सत्य कहना चाहूँगा यदि युक्ति का उचित प्रयोग करने पर हमें उनसे कभी धोखा न हो ।' अनेक अवसरो पर लाइबनित्स ने भलीभाँति आधारित आभासो का अपना अर्थ व्यक्त करने के लिए इन्द्रधनुप का दृष्टान्त दिया है । उसने इस पर कोई व्याख्या नही दी है, पर उसका अर्थ शायद यही था कि इन्द्रधनुप, वस्तुत , वर्णमात्र है, किन्तु उनके लिए यह एक अस्तित्व है जिन्होने इसे कभी देखा है । इस प्रकार यह एक आभास ही है, किन्तु ऐसा आभास जो प्रकाश और आर्द्रता के भौतिक नियमो पर आधारित है, मात्र स्वप्न नही है ।

इस प्रकार, सामान्य अर्थ में, पदार्थ के गुण, चाहे वे द्वितीय श्रेणी के हो, जैसे वर्ण, गन्ध, शब्द आदि, अथवा प्राथमिक हो, जैसे विस्तार, आकृति, गति आदि, सभी भलीभाँति आधारित आभास है । यदि इन्हें मात्र पदार्थ (यानी जिसमें आत्मा न हो) की दृष्टि से देखें, तो ये सत्य नही केवल आत्मगत (विचार) ठहरेंगे । किन्तु इनका क्रम या सयोग एक ऐसे तत्त्व की अपेक्षा करता है जो उनमें क्रम या सयोग उत्पन्न कर सके (यानी एक आत्मा की अपेक्षा करता है) । तदनुसार, वे सत्य द्रव्य के गुफित (अर्थात्, जो पूर्ण रूप से विश्लिष्ट न हो) प्रतिरूपण, प्रत्यक्ष अथवा प्रतीक हैं । लाइबनित्स की तात्त्विक दृष्टि उन्हें चिद्‌बिन्दुओ के देशातीत प्रत्यक्ष या रोचन ठहराती है । उसका कथन है कि हमारी इन्द्रियाँ[2] अथवा

१ यह ध्यान रखना चाहिए कि लाइबनित्स आभासों की 'सत्यता' कह कर आभासों में उस प्रकार की सत्यता नहीं स्थापित कर रहा है जैसी सत्य द्रव्य में पायी जाती है । यहाँ वह आपेक्षिक अर्थ में, आभासों को भ्रमो से सत्य बताना चाहता है ।

२ 'इन्द्रियों के विषयों का सत्य आभासों के सम्बन्ध पर निर्भर करता है, जिसका कोई कारण (आधार) होना चाहिए और यही (आधार) उन्हें स्वप्न से पृथक् कर देता है, किन्तु हमारे अस्तित्व और आभासों के कारण का

कल्पना जिस रूप में वस्तुओ को हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है, उस रूप में वे केवल सम्बद्ध या व्यवस्थित आभास है, जिन्हें अपनी व्यवस्था के लिए आत्माओ या चिद्बिन्दुओ की आवश्यकता है।

देश और काल

आर्नॉल्ड को लिखे हुए एक पत्र मे, लाइबनित्स ने देश और काल को भी भलीभाँति आधारित आभास कहा है। शायद इस कथन को बहुत सीमित अर्थ में लिया जाना उसे अभीष्ट न था। एर्डमैन' के विचार से देश और काल को शुद्ध मानसिक तथ्य, तथा विस्तृत पिण्डो एव काल में घटित घटनाओ को अर्ध-

सत्य दूसरे प्रकार का है, क्योकि इससे द्रव्यो की स्थापना होती है आभासों के सम्बन्ध (जो हम से बाहर की इन्द्रियगत वस्तुओं के प्रसग में तथ्यो के सत्य स्थापित करता है) की जाँच युक्ति के सत्यो से होती है, जैसे ज्यामिति से दृष्टि-विज्ञान के आभासो की व्याख्या होती है। फिर भी यह मानना चाहिए कि इस प्रकार की निश्चयात्मकता कोई बहुत ऊँचे दर्जे की नहीं है। क्योकि, तात्त्विक दृष्टि से, इतना लम्बा स्वप्न जो किसी मनुष्य के जीवनपर्यंत चलता रहे असम्भव नहीं है, किन्तु बुद्धि के लिए ऐसा मान लेना उतना ही असगत है जितना यह, कि टाइपो का ढेर फेंक देने से अकस्मात पुस्तक तैयार हो सकती है।'

(नवीन निबन्ध, पु० ४, अ० २, §१४)

१ "हम दूधिया रास्ते या धुध के बादल को एक अविराम वस्तु के रूप में देखते है क्योकि हमारी निगाह इतनी तेज नहीं कि प्रत्येक सितारे या धूलि-कणों को अलग-अलग देख सके। इसी तरह, बहुत-सी सरल वस्तुओ के गुफित प्रत्यक्ष के माध्यम से, हममें, पहले वे मानसिक तथ्य उत्पन्न होते हैं, समय, विस्तार, जो किसी तरह समय से अधिक सत्य नहीं है, केवल सह-अस्तित्व के क्रम हैं, और फिर, विस्तृत पिण्ड, जिन्हें अर्धमानसिक तथ्य कहना चाहिए या भलीभांति आधारित आभास, क्योकि इन्द्रधनुष की भांति उनका एक वास्तविक कारण होता है, किन्तु हमारे गुफित प्रत्यक्ष के कारण वे जैसा हम देखते है वैसा आकार ग्रहण कर लेते हैं।"

(एर्डमैन दर्शन का इतिहास, खण्ड २, पृ० १८५)

मानसिक तथ्य या भलीभाँति आधारित आभास समझा जाना चाहिए । कुछ भी हो, लाइबनित्स जो मानना चाहता है वह यह है कि देश और काल न तो सत्य द्रव्य है और न सत्य द्रव्यो के धर्म ही । वे सह-स्थित और क्रम-स्थित वस्तुओ की व्यवस्था है । पृथक् द्रव्यो या चिद्‌विन्दुओ को, जो सम्पूर्ण सत्य हैं, भागो के वाहर भाग नही समझा जाना चाहिए लाइबनित्स के दर्शन का यह केन्द्रीय विचार है कि वस्तुओ के परिमाणात्मक पक्ष को गौण, अथवा जो सत्य वस्तुओ के सार का अग नही है, मानना चाहिए । अत देश को सत्य वस्तुओ का परस्पर अलगाव न समझकर, उसे सह-अस्तित्व की वह व्यवस्था समझा जाना चाहिए, जो आभासिक वस्तुओ के सकलन या समूहीकरण में पूर्वकल्पित है और समय को घटनाओ के पूर्वापर सम्बन्ध की व्यवस्था समझना चाहिए । 'समय, विस्तार, गति, और सामान्यत जो कुछ भी अविराम है, मात्र वैचारिक है, जैसा गणित में समझा जाता है, यानी वे वस्तुएं जो सम्भावनाएं व्यक्त करती हैं, जैसे सख्याएं । हॉब्ज ने तो देश को अस्तित्व का मिथ्याभास कहा है । अधिक यथार्थ रूप में कहा जा सकता है कि विस्तार सम्भव सह-अस्तित्वो का विन्यास है, जैसे समय असगत सम्भावनाओ का, किन्तु जिनमें कोई सम्बन्ध है, विन्यास है। इस प्रकार, विस्तार सहगामी वस्तुओ से, यानी जो एक साथ ही स्थित है, सम्बन्धित है, समय उनसे जो असगत हैं, किन्तु जिन्हें अस्तित्व में समझा जाता है, और यही उन्हें क्रमिक बना देता है । किन्तु देश और काल मिल कर एक सम्पूर्ण विश्व की सम्भावनाओ के क्रम का निर्माण करते हैं, इस तरह कि ये क्रम (यानी देश और काल) न केवल वस्तुत स्थित वस्तुओ से सगत हैं बल्कि उन तमाम वस्तुओ से जो उनके स्थान पर रखी जा सकती हैं, जैसे सख्याएं उन वस्तुओ से उदासीन हैं, जो गिनी जा सकती हैं ।'[१] इस प्रकार, देश का अर्थ पिण्डो की विशिष्ट स्थिति नही और काल का अर्थ

१ 'देश को मैं मात्र आपेक्षिक मानता हूँ, जैसे समय मैं इसे सह-अस्तित्वो का क्रम मानता हूँ, जैसे समय । क्योंकि देश, सम्भावना की दृष्टि से, उन वस्तुओ के क्रम को सूचित करता है, जो एक ही समय में स्थित है । अथवा एक साथ स्थित समझी जाती है, विना उनके स्थित होने के विशिष्ट प्रकार का प्रश्न उठाते हुए ।

घटनाओ का विशिष्ट क्रम नही है। देश सह-अस्तित्व का अनिश्चित रूप से प्रयोज्य सम्बन्ध है, जब कि काल या समय क्रम का अथवा क्रमिक स्थितियो का उसी रूप में प्रयोज्य सम्बन्ध है। इनमें से प्रत्येक दशा में सम्बन्धित वस्तुएँ या आभास जो हैं उससे भिन्न हो सकते थे। इसलिए, उनके क्रम सम्भावनाओ के क्रम है। किन्तु किसी भी दशा में कुछ क्रमवद्ध या सम्वन्धित वस्तुओ से पृथक् क्रम की कोई वास्तविकता नही। कही भी रिक्त देश अथवा रिक्त काल नही पाया जाता। ये अनुचय है जिन्हें अनुचय समझने में कोई हानि नही, शायद उपयोगी है, किन्तु वास्तविक समझ लेना हानिकारक है।

लाइवनित्स देश और काल की स्वतन्त्र सत्ता का मुख्य रूप में अपने पर्याप्त युक्ति के नियम के आधार पर खण्डन करता है। 'तव मै कहता हूँ कि यदि देश एक निरपेक्ष सत्ता होता, तो ऐसा कुछ हो सकता था जिसके लिए कोई पर्याप्त युक्ति होना असम्भव है, जो मेरी प्राथमिक मान्यता के विरुद्ध है। और मै इसे इस प्रकार सिद्ध करता हूँ। देश एक ऐसी वस्तु है जो पूरी तरह समाकार है, और उसमें विना वस्तुओ को रखे हुए, देश का कोई भी विन्दु दूसरे विन्दु से, किसी भी दृष्टि से, पूरी तरह भिन्न नही होता। अव इससे यह प्राप्त होता है (देश को अपने आप में किन्तु पिण्डो के क्रम से स्वतन्त्र कुछ मानते हुए) कि इसमें कोई कारण होना असम्भव है कि क्यो ईश्वर ने पिण्डो के वीच उन्ही स्थितियो को सुरक्षित रखते हुए उन्हें देश में एक खास ढग से रखा है और दूसरे ढग से नही, प्रत्येक वस्तु को विलकुल उल्टे ढग से नही रखा गया उदाहरण के लिए, पूर्व को पश्चिम में वदल कर। किन्तु यदि देश सम्वन्ध की व्यवस्था के अतिरिक्त कुछ नही है, और

और जव वहुत-सी वस्तुएँ एक साथ देखी जाती हैं तो किसी को भी उनमें एक क्रम का प्रत्यक्ष होता है।' (क्लार्क को पत्र, ए० ७५२ ए, ग० ७ ३६३) क्लार्क ने न्यूटन के मत की रक्षा का प्रयत्न किया था जिसके अनुसार असीम देश सत्य और ईश्वर द्वारा वस्तुओं के सर्वत्र प्रत्यक्ष का सूचक है। लाइवनित्स ऐसे सभी मतों का खण्डन करता है जिनमें देश की असीमता को ईश्वर की विशालता या उसके किसी दूसरे गुण के साथ उलझाया गया है।

पिण्डो के बिना कुछ भी नही है, केवल उनको रखने की सम्भावना है, तब वे दोनो दशाएँ, एक-जैसी अब है, दूसरी जिसे बिलकुल उल्टी समझा जाता है, एक दूसरे से बिलकुल भिन्न न होगी। उनका अन्तर देश की स्वतन्त्र सत्ता की हमारी मिथ्या कल्पना में पाया जाना चाहिए। सचमुच, एक वही वस्तु होगा जो दूसरा, दोनो ही पूरी तरह अदृश्य होने के कारण, और फलत एक को दूसरे से अधिक पसन्द किये जाने का कारण पूछने की कोई गुजाइश नही। काल के सम्बन्ध में भी वही बात है। मान लें कोई पूछता है कि ईश्वर ने सभी कुछ एक साल पहले क्यो नही बनाया और इससे यह नतीजा निकाले कि ईश्वर ने जो कुछ किया उसके प्रसग में इस प्रकार की युक्ति होना असम्भव है कि उसने ऐसा ही क्यो किया, इसके विपरीत क्यो नही किया, उत्तर है कि यह अनुमान ठीक होता यदि समय में स्थित वस्तुओ से पृथक् समय की कोई सत्ता होती। क्योकि इस प्रकार की युक्ति असम्भव होगी कि वस्तुएँ किसी अन्य क्षण में न घटित होकर इसी विशिष्ट क्षण में घटित हो जब कि उनका एक ही स्थिति-क्रम जारी रहता है। पर, इसी युक्ति से यह भी सिद्ध होता है कि वस्तुओ के बिना कल्पित क्षण कुछ भी नही है और यह भी कि वे वस्तुओ के उत्तरोत्तर क्रम है, जिस क्रम के ज्यो का त्यो रहते हुए, दो अवस्थाओ में से एक यानी कल्पित आकाक्षा की अवस्था दूसरी अवस्था से जो वर्तमान है न भिन्न होगी और न पृथक् जानी जा सकेगी।'[१]

उपर्युक्त बातो को ध्यान में रखते हुए, लाइबनित्स के देश और काल सम्बन्धी

१ पर्याप्त युक्ति के नियम को स्वीकार करते हुए भी, क्लार्क का आग्रह है कि ईश्वर की इच्छा स्वय ही एक पर्याप्त युक्ति है,इसलिए उपर्युक्त प्रसग में पर्याप्त युक्ति का प्रयोग लाइबनित्स के फल को सिद्ध नहीं करता। लाइबनित्स उत्तर देता है. 'देश समाकार होने के कारण, उसके भागों को पहचानने और चुनाव करने में कोई भी बाह्य या आतरिक युक्ति नहीं हो सकती। क्योंकि उनको पहचानने के लिए प्रयुक्त बाह्य युक्ति किसी आतरिक युक्ति पर ही आधारित हो सकती है। अन्यथा हमें अदृश्य को देख लेना चाहिए, अथवा बिना देखे ही चुन लेना चाहिए। बिना युक्ति की इच्छा एपीक्योरियन लोगों का 'अवसर' होगी। इस प्रकार की इच्छा से काम करने वाला ईश्वर केवल नाम का ईश्वर होगा।' (क्लार्क को पत्र, १८)

विचारो का सक्षेप इस प्रकार किया जा सकता है घटनाएँ अपने पारस्परिक सम्बन्धो के अनुपात में भलीभाँति आधारित हैं। देश और काल घटनाओ के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध सूत्रो की व्यवस्था या सस्थान हैं। देश की अवस्था में सह-अस्तित्व और काल की अवस्था में क्रम का सम्बन्ध रहता है। घटनाओ से अलग समझे जाने पर देश और काल केवल अनुचय हैं। ये दोनो सत्य से बहुत अलग हैं, क्योकि जो वस्तुएं देश और काल में हैं वे चिद्‌बिन्दु नही, केवल घटनाएँ या आभास हैं। फिर भी आभास अपूर्ण सत्य, अविश्लिष्ट प्रत्यक्ष हैं। सरल द्रव्य में उनका आधार है। इस प्रकार, अदेशिकता या अकालिकता-जैसा कुछ होना चाहिए, जिसकी अपूर्ण अभिव्यक्ति देश और काल है। लाइबनित्स ने शूलेनबर्ग को एक पत्र में लिखा कि 'ईश्वर की विशालता और असीमता से परे अपने आप में उनकी (देश और काल की) कोई सत्ता नही।'[1]

[1] पाँचवें पत्र में लाइबनित्स ने क्लार्क को लिखा—'मैं यहाँ यह ि ँगा कि लोग अपने मन में देश का विचार किस प्रकार बना लेते है। वे सोचते हैं कि बहुत-सी चीजें एक साथ स्थित हैं और वे उनमें सह-अस्तित्व का एक क्रम देखते हैं, जिसके अनुसार वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध लगभग सरल हैं। यह क्रम उनकी स्थिति या दूरी है। जब ऐसा होता है कि उन सह-स्थित वस्तुओ में से एक दूसरी बहुत-सी वस्तुओ से अपने सम्बन्ध बदल लेती है, जब कि उन वस्तुओं के आपसी सम्बन्ध नहीं बदलते, और एक नयी आयी हुई वस्तु उन वस्तुओं से वही सम्बन्ध स्थापित कर लेती है जो पहले वाली वस्तु के थे, तब हम कहते हैं कि यह वस्तु दूसरी वस्तु के 'स्थान' पर आ गयी, और इस परिवर्तन को उस वस्तु की गति कहते हैं, जिसमें गति का तात्कालिक कारण रहता है। सक्षेपत, देश वह है जो स्थानो को एक साथ लेने पर प्राप्त होता है। और यहाँ पर स्थान और स्थान में स्थित वस्तु के स्थिति-सम्बन्ध पर विचार करना उचित है। क्योकि अ और ब का स्थान वही होने पर भी, कुछ स्थिर वस्तुओं से अ का सम्बन्ध वही नहीं होगा जो उन्हीं स्थिर वस्तुओ से ब का है। इन सम्बन्धो में सहमति हो सकती है। किन्तु मन मात्र सहमति से सतुष्ट न होकर तादात्म्य खोजता है, यानी ऐसा कुछ जो

चिद्विन्दुओ की सक्रियता और अक्रियता । द्रव्यो का पारस्परिक प्रभाव । कारण और कार्य

अभी तक हमने यह पाया कि देश, जैसा देकार्त ने समझा था द्रव्य का सार नहीं, एक शुद्ध वैचारिक सम्बन्ध है, जिसकी हम वस्तुओ या घटनाओ के बीच मानसिक रचना करते हैं। वस्तुओ या घटनाओ का अन्तिम सत्य या सार परिमाणात्मक नही, इसलिए पदार्थमय भी नही है। किन्तु सत्य द्रव्यो (चिद्विन्दुओ) में से प्रत्येक में, जो पदार्थ के एक अश का सत्य या सार है, अमूर्त रूप में प्राथमिक पदार्थ रहता है। प्रत्येक रचित चिद्विन्दु सक्रिय और अक्रिय दोनो ही है। क्योकि पूण अक्रियता होती नही और पूर्ण सक्रिय तो केवल ईश्वर है। अक्रिय पक्ष में, चिद्विन्दु में प्राथमिक पदार्थ होता है, और सक्रिय पक्ष में वह एक चेतन सत्ता है। इस प्रकार प्रत्येक आत्मा का एक शरीर है, पूरी तरह शरीर से विच्छिन्न आत्मा-जैसी कोई चीज नही होती, जब तक वह ईश्वर की आत्मा न हो। दूसरी ओर, आत्मारहित शरीर की कोई वास्तविक सत्ता नही यह मात्र अनुचय है। ससार सक्रिय है, पूरा का पूरा जीवित, उसके छोटे-से-छोटे भाग में भी जीवन है। वह आत्माओ का सस्थान है।

किन्तु, चिद्विन्दुओ की अक्रियता और सक्रियता का यह अर्थ नही है कि कोई चिद्विन्दु अपने से वाहर किसी द्रव्य को प्रभावित करता है या अपने से बाहर के किसी द्रव्य से कोई प्रभाव ग्रहण करता है। चिद्विन्दुओ के बीच केवल वैचारिक सम्बन्ध हैं और उनकी अक्रियता या सक्रियता नितान्त आतरिक है। जैसा हम देख चुके है, प्रत्येक चिद्विन्दु वहाँ तक अक्रिय है जहाँ तक उसके प्रत्यक्ष धुँधले और गुफित हैं, और जहाँ तक वे स्पष्ट और पृथक् हैं वह सक्रिय है। उसी प्रकार, एक चिद्विन्दु दूसरे चिद्विन्दु की तुलना में उतना ही अक्रिय है, जितना कि उसके प्रत्यक्ष दूसरे के प्रत्यक्षो से धूमिल एव गुफित है। दूसरी ओर जिस चिद्विन्दु के प्रत्यक्ष जितने स्पष्ट और पृथक् हैं, वह उतना ही सक्रिय है। वस्तुत, चिद्-

बिल्कुल वही हो, और इसे वस्तुओं से बाहर समझता है इसी को हम 'स्थान' और 'देश' कहते हैं।' (राबर्ट लैटा परिशिष्ट बी, पृ० २०२-३ देखिए)

विन्दुओ के पारस्परिक सम्वन्धो और परिवर्तनो का आधार पूर्व-स्थापित सगति है। यह भी, कि स्पष्ट और पृथक् प्रत्यक्ष साथ ही घटित होने वाले अपेक्षाकृत गुफित प्रत्यक्षो का उद्‌घाटन या व्याख्या करते है, अत एक द्रव्य का दूसरे पर क्रिया करने का अर्थ अपेक्षाकृत सक्रिय द्रव्य में दूसरे, अपेक्षाकृत अक्रिय, द्रव्य की व्याख्या विद्यमान होना है। इस प्रकार, कारण और कार्य का सम्वन्ध भी मात्र वैचारिक है। यह आन्तरिक परिवर्तनो और व्यापारो की सगति है, जिसमें एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर भौतिक प्रभाव सम्मिलित नही है। और यह कि किसी परिवर्तन का कारण कोई उसका अप्रकट पूर्ववर्ती नही है, न वह कार्य से समय में पूर्व कोई वल या व्यापार है। सत्य कारण सदैव एक युक्ति या व्याख्या होती है वह गुफित प्रत्यक्ष के विरुद्ध एक स्पष्ट प्रत्यक्ष है, घटनाओ या आभासो का काल-क्रम कुछ भी हो।

यान्त्रिक और अन्तिम कारण आत्मा और शरीर

प्रत्येक द्रव्य, जैसा हम देख चुके है, आत्मा और शरीर से निर्मित है। और आत्मा जो एक ओर द्रव्य का अपेक्षाकृत पृथक् प्रत्यक्ष है,और दूसरी ओर, उसका व्यापार है, द्रव्य का अन्तिम कारण है, अथवा वह अन्त जिसके लिए द्रव्य का अस्तित्व है, उसके स्वभाव का आत्म-विकास। इसे भावी (Becoming)की धारणा के अन्तर्गत, वह वस्तु समझना चाहिए जिसका मूल स्वभाव किसी अत की ओर वढना है। अत , शुद्ध यान्त्रिक प्रत्ययो से उचित रूप में इसका विवरण नही प्रस्तुत किया जा सकता। इसमें स्थिर आत्म-तादात्म्य से अधिक कुछ है, इसकी एकता अपने आप को परिवर्तनो की शृखलाओ में व्यक्त करती है। इसलिए, इसकी सत्यता केवल विरोध के नियम से, उक्त नियम को अमूर्त आत्म-सगति का नियम समझते हुए, नही निर्धारित की जा सकती। दूसरी ओर, प्रत्येक द्रव्य का शरीर, अर्थात् उसका पदार्थ, उसका गुफित प्रत्यक्ष, उसकी अक्रियता, भौतिक या यान्त्रिक कारण है। सम्पूर्णत अमूर्त और केवल सम्भावना होने के कारण शरीर की व्याख्या यान्त्रिक प्रत्ययो से, विरोध के नियम के अन्तर्गत, की जा सकती है। इस प्रकार, हम एक अमूर्त भौतिक विज्ञान का विकास कर सकते है, जिसमें अमूर्त पदार्थ की घटनाओं की व्याख्या शुद्ध यान्त्रिक नियमो के आधार पर की जाय, यानी भौतिक या निमित्त

कारणो के संस्थान के रूप में । किन्तु पदार्थमय द्रव्य की भी मूर्त सत्ता की व्याख्या करने के लिए, हमें यान्त्रिक के बजाय गत्यात्मक प्रत्ययो का प्रयोग करना होगा । दूसरे शब्दो में, हमें ससार को अन्तिम और सारभूत अर्थ में अन्तिम कारणो का संस्थान मानना होगा एक ऐसा संस्थान जो किसी उदासीन सर्वशक्तिमान् इच्छा की अभिव्यक्ति न होकर, एक ऐसी सर्वशक्तिमान इच्छा की अभिव्यक्ति है, जो सर्वोत्तम का ज्ञान रखती है और उसी को निर्धारित करती है ।

अगी सजीव और निर्जीव पिण्ड । सरल और यौगिक द्रव्य । प्रशासक चिद्विन्दु

स्वतन्त्र शरीर और स्वतन्त्र आत्मा के विचार गुफित या अपूर्ण प्रत्यक्ष के फल हैं । जगत् केवल चिद्बिन्दुओ से बना है, जिनमें से प्रत्येक आत्मा और शरीर, चेतन सत्ता और प्राथमिक पदार्थ की मूर्त एकता है । इस प्रकार प्रकृति सर्वत्र जीवित है, वस्तुत निर्जीव कुछ भी नही है । फिर आगिक या सजीव और अ गरहित या पदार्थमय पिण्डो में साधारणत किया जानेवाला भेद क्या है ? इसका उत्तर देने के लिए यौगिक द्रव्य के स्वभाव पर विचार करना होगा ।

सत्य केवल सरल द्रव्य है, किन्तु उनके झुण्ड या समूह आभासो के रूप में प्रकट होते है और उन्हें ही हम यौगिक द्रव्य कहते हैं । वस्तुत , सरल द्रव्य यौगिक द्रव्यो से प्राथमिक हैं, किन्तु हमारे ज्ञान में यौगिक द्रव्य प्राथमिक बन जाते हैं । इसका कारण यह है कि आभासो को ज्ञानेन्द्रियाँ प्रत्यक्षत जानती हैं, जब कि सरल द्रव्य जो चिद्विन्दु हैं प्रत्यक्ष का विषय नही बनते । चिद्विन्दुओ के समूह तो होते नही, समूहीकरण आभासिक होता है । अब देखिए, इन समूहो में सम्मिलित प्रत्येक चिद्विन्दु अपने समूह को निर्मित करने वाले सभी आभासो का प्रत्यक्ष करता है, अथवा उन्हें पुन प्रस्तुत करता है, क्योकि चिद्विन्दु उस सम्पूर्ण विश्व का प्रत्यक्ष करता है, जिसके भाग आभास हैं । किन्तु, प्रत्येक चिद्विन्दु प्रत्यक्षो की स्पष्टता में दूसरे सभी चिद्विन्दुओ से भिन्न होता है, इसलिए प्रत्येक समूह में सम्मिलित चिद्विन्दुओ में से एक ऐसा होना चाहिए जो समूह के सभी चिद्विन्दुओ से अधिक स्पष्ट प्रतिबिंबन कर सके । लाइबनित्स प्रत्येक यौगिक द्रव्य के इस चिद्विन्दु को, जो उस यौगिक द्रव्य को द्रव्य में सम्मिलित अन्य चिद्विन्दुओ से अधिक स्पष्ट

रूप में प्रतिविंवित करता है, प्रशासक चिद्विन्दु कहता हूँ। इस चिद्विन्दु में, समूह के दूसरे चिद्विन्दुओ से एक औपचारिक श्रेष्ठता होती है, यद्यपि वस्तुत सभी चिद्विन्दु स्वतन्त्र है। इस चिद्विन्दु का नियन्त्रण या प्रशासन सम्पूर्ण रूप से इसके स्पष्ट प्रत्यक्षो में व्याप्त है। यह उसी प्रकार है जैसे कारण किसी एक द्रव्य का किसी दूसरे द्रव्य पर प्रभाव नही है, वल्कि एक की सक्रियता का दूसरे की सगत अक्रियता से सम्वन्ध है, अथवा यह पृथक् और गुफित प्रत्यक्ष का सम्वन्ध है। इस प्रकार, किसी यौगिक द्रव्य के केन्द्रीय चिद्विन्दु का दूसरे चिद्विन्दुओ पर कोई भौतिक प्रशासन नही रहता, उसकी प्रमुखता क्रियाशीलता एव पृथक्ता पर निर्भर करती है। अत, प्रधान चिद्विन्दु और आभासो (जिनमें दूसरे चिद्-विन्दु सयुक्त रहते हैं) का सम्वन्ध उसी प्रकार का है, जैसा सरल द्रव्यो का निर्माण करने वाले तत्त्वो, क्रियाशील चेतन सत्ता और अक्रिय प्राथमिक पदार्थ के वीच होता है। प्रशासक या प्रधान चिद्विन्दु यौगिक द्रव्य की चेतना या आत्मा है और उसका शरीर एक आभासमय समुच्चय, जिसके प्रत्येक भाग में एक चिद्विन्दु या आत्मा व्याप्त है। किन्तु, यह समुच्चय द्वितीय पदार्थ है। इस प्रकार, प्राथमिक पदार्थ और चेतनता निर्मित सरल द्रव्य, और द्वितीय पदार्थ एव प्रशासक चिद्विन्दु निर्मित यौगिक द्रव्य प्राप्त होते हैं।

साथ ही, सरल द्रव्य और यौगिक द्रव्य की उपर्युक्त समानता से प्रभावित होकर, हमें उनके अन्तर को भुलाना नही चाहिए। वस्तुत, सरल द्रव्य ही द्रव्य है यौगिक को यो ही शिष्टता, अथवा सामान्य प्रचलन के कारण द्रव्य कह दिया जाता है। सरल द्रव्य एक मूर्त्त इकाई है, यौगिक द्रव्य, जहाँ तक वह यौगिक है (अर्थात् अपनी आत्मा या प्रशासक चिद्विन्दु से अलग होकर, क्योंकि अपरिमा-णात्मक होने से प्रशासक चिद्विन्दु किसी यौगिक का अवयव नही हो सकता) एक समुच्चय मात्र है। इस प्रकार, प्राथमिक पदार्थ अथवा किसी चिद्विन्दु की अक्रियता उसके गुफित, अविकसित या अव्यक्त स्वभाव को अलग करके देखना है यह द्रव्य का ही गुफित प्रत्यक्ष है। किन्तु द्वितीय पदार्थ या यौगिक द्रव्य का शरीर द्रव्य का गुफित प्रत्यक्ष नही है, क्योंकि यौगिक के रूप में शरीर का अपना कोई प्रत्यक्ष नही, अर्थात् उसमें व्याप्त सरल द्रव्य के प्रत्यक्ष से भिन्न प्रत्यक्ष नही। तव तो द्वितीय पदार्थ उनका गुफित प्रत्यक्ष हुआ जो यौगिक द्रव्यो को देखते हैं।

इस प्रकार, ईश्वर की निगाह में कोई द्वितीय पदार्थ नही हो सकता, उसके लिए कोई प्रत्यक्ष गुफित नही है।

आभासो के समूह जिन्हें हम वस्तुएँ अथवा विस्तृत पिण्ड कहते हैं गुफित प्रत्यक्ष का फल है। और उनके भेद, जिन्हें हम सजीव, निर्जीव आदि कहते हैं, वस्तुत उनके प्रशासक चिद्‌विन्दुओ में पाये जाते है। प्रशासक चिद्‌विन्दु के बिना पिण्ड मात्र अनिश्चित परिमाण, यदि 'शून्य' नही तो 'आकार रहित', शुद्ध भेद की खिचडी होगा। प्रशासक चिद्‌बिन्दु किसी विशिष्ट या निश्चित समूह में व्याप्त इकाई है, वह इकाई जिसके कारण कोई समूह या यौगिक अन्य वस्तुओ से पृथक् एक वस्तु है। यदि प्रशासक चिद्‌विन्दु कोरा चिद्‌विन्दु हो, जिसके प्रत्यक्ष अचेतन है, तो पिण्ड को निर्जीव कहते है। यदि प्रशासक चिद्‌विन्दु के प्रत्यक्षो की स्पष्टता का दर्जा इससे थोडा ऊँचा हो, तो हम पिण्ड को पौधा कहते है, आदि, आदि। निर्जीव और सजीव चुपके से एक दूसरे में बदल जाते है। किसी पिण्ड की सजीव एकता का दर्जा उसके प्रशासक चिद्‌विन्दु के प्रत्यक्षो की स्पष्टता के दर्जे से भिन्न कुछ नही। इस प्रकार किसी सजीव अगी के भाग निर्जीव समूह की अपेक्षा अधिक निकट सम्बद्ध, अधिक मजबूती से एकत्र रहते है, क्योकि पहली अवस्था में दूसरी की अपेक्षा केन्द्रीय चिद्‌विन्दु की प्रशासकता ऊँचे दर्जे की तथा अधिक पूर्ण होती है, या कहें कि उसका प्रत्यक्ष अधिक स्पष्ट होता है।

आत्मारहित पिण्ड, या मात्र पदार्थ जिसे निर्जीव, अथवा ऐसे भागो का समूह समझा जाता है, जिनकी समूहीकरण मे पृथक् कोई एकता नही, अवास्तविक है। हम इसे या तो मूर्त द्रव्य का अनुचय मान सकते है, अथवा मूर्त द्रव्य का अपूर्ण प्रत्यक्ष या पुन प्रस्तुतीकरण। प्रकृति सर्वत्र सजीव है कोई सत्य वस्तु पूरी तरह निर्जीव नही जिसे हम 'निर्जीव' कहते है उसमें निम्न कोटि की सजीवता है।[1]

१ किन्तु यद्यपि सभी वस्तुएं सचमुच सजीव नहीं है, फिर भी सभी पिण्डों में, निर्जीव पिण्डों को लेकर, सजीव पिण्ड छिपे रहते है, इस प्रकार कि पदार्थ की प्रत्येक मात्रा जो बाहर से देखने में आकाररहित और अविभक्त मालूम होती है, भीतर से अविभक्त नहीं बल्कि विभक्त है, और तब भी उसकी विविधता गुफित

प्रत्येक रचित द्रव्य का पिण्ड उसकी आत्मा का दृष्टिविन्दु है। प्रकृति में रिक्त स्थान न होने से एक पिण्ड में होनेवाले परिवर्तन दूसरे सभी पिण्डो को प्रभावित करते है। इस प्रकार, प्रत्येक पिण्ड में पूरा जगत् अभिव्यक्त अथवा प्रतिविंवित होता है। किन्तु प्रत्येक प्रशासक चिद्‌विन्दु या आत्मा, शेप जगत् की अपेक्षा, अपने शरीर की रचना करने वाले समूह को अधिक स्पष्टता से प्रतिविंवित करता है।[१] अत, प्रत्येक आत्मा विश्व को अपने शरीर के माध्यम से प्रतिविंवित करती है। वह सम्पूर्ण को इस प्रकार प्रतिविंवित करती है कि उसका अपना पिण्ड दूसरे सभी पिण्डो से अधिक स्पष्ट हो सके। शरीर एक विशिष्ट ताल की भाँति है जिससे होकर आत्मा सम्पूर्ण विश्व को देखती है। प्रत्येक द्रव्य पूरे विश्व को 'अपने निजी दृष्टिविन्दु, से प्रतिविंवित करता है, और उसका दृष्टिविन्दु उसके गुफन की कोटि है, या स्पष्टता की कोटि, क्योकि गुफन और स्पष्टता आपेक्षिक हैं।[२]

यौगिक द्रव्यो मे परिवर्तन विकास और आवरण

प्रत्येक यौगिक द्रव्य में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। कोई भी रचित चिद्‌विन्दु कभी पूर्ण विश्राम की अवस्था में नही रह सकता प्रत्येक अपने रोचन के कारण या तो लगातार अपना उद्‌घाटन करता रहता है यानी गुफित से पृथक् प्रत्यक्ष

नहीं व्यवस्थित है। इस प्रकार, सव कहीं अगी ही अगी है, कहीं भी अव्यवस्था नहीं जो बुद्धिमान् रचयिता को शोभा न दे।'

१ देखिए, चिद्‌विन्दु विद्या, §६२। स्पिनोजा नीतिशास्त्र, भाग २, प्रतिज्ञा १२, १३, १६ (उपपत्ति १) तथा २६।

२. यह नहीं समझना चाहिए कि आत्मा को अपने अधिकृत शरीर में होने वाले सभी परिवर्तनो का पूर्ण ज्ञान होता है। आर्नाल्ड को लिखे हुए एक पत्र (१६८७) में लाइबनित्स कहता है 'यह नहीं प्राप्त होता है कि आत्मा को अपने शरीर के भागों में जो कुछ भी होता है उसकी पूरी चेतना होती है, क्योकि इन भागो के सम्बन्धों की भी कोटियाँ हैं, जिन सबकी समान अभिव्यक्ति, बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक, नहीं होती।'

की ओर बढता रहता है, या अपने को आवृत्त करता रहता है यानी पृथक् से गुफित प्रत्यक्ष की ओर बढता रहता है। और चूकि प्रशासक चिद्विन्दु का प्रशासन पूर्णत उसके प्रत्यक्ष की पृथकता की कोटि पर निर्भर है, प्रशासक और प्रशासित के औपचारिक सम्बन्ध, जिनसे यौगिक द्रव्य का गठन होता है, विशिष्ट दशाओ में बराबर बदलते रहते हैं। इस प्रकार, जैसे प्रशासक चिद्विन्दु का प्रत्यक्षात्मक स्तर बढता या घटता रहता है, उसी के अनुसार यौगिक द्रव्य के पिण्ड का निर्माण करने वाले आभासो में परिवतन होते रहते हैं। किसी प्रशासक चिद्विन्दु का पिण्ड अपरिवतनीय नही होता, उसके निज के परिवर्तनो के कारण, उसका पिण्ड 'नदी की भाँति निरन्तर प्रवाह में रहता है, और लगातार, भाग उसमें दाखिल होते और बाहर निकलते रहते है।'[1] इस परिवर्तन के लिए अन्तरहित स्थान है, क्योकि प्रत्येक यौगिक द्रव्य दूसरे यौगिक द्रव्यो से बना है (प्रत्येक अपने प्रशासक चिद्विन्दु सहित) और इनमें भी अन्य यौगिक द्रव्य, असीमत[2] पाये जाते हैं। इस प्रकार, कुछ या सभी वस्तुएं जो किसी समय निर्जीव पिण्ड निर्मित करती हैं, दूसरे समय, सम्बन्ध-परिवर्तन से सजीव पिण्ड का भाग बन जाती है और इससे विपरीत क्रम भी सम्भव है। यह भी कि किसी विशिष्ट चिद्बिन्दु से सम्बन्ध रखने वाले शरीर या पिण्ड का आकार अनिश्चित रूप से बढ सकता है और घट सकता है।

आकृति-परिवर्तन जन्म और मृत्यु

यौगिक द्रव्य में सभी प्रकार के परिवर्तन आकृति-परिवर्तन होते हैं, आत्मान्तरण नही। प्रत्येक यौगिक द्रव्य में आधारभूत तत्त्व प्रशासक चिद्विन्दु है और द्रव्य का पदार्थ या पिण्ड भागो के धीरे-धीरे हटते या जुडते रहने से बराबर बदलता रहता है। यह शरीर ही है जो कण-कण अपने आपको एक आत्मा से दूसरी आत्मा तक स्थानान्तरित करता रहता है। एक शरीर से दूसरे बिलकुल नये शरीर में

१ देखिए, चिद्विन्दु विद्या, §७१।
२ चिद्विन्दु विद्या §§ ६६ से आगे।

अचानक आत्मा का स्थानान्तरण होने-जैसा कुछ नही होता। इस प्रकार के स्थानान्तरण के लिए आत्मा में आकस्मिक या सान्तर परिवर्तन होना आवश्यक है, जो सम्भव नही। जहाँ एक ओर, आत्मा अपने शरीर-जैसे किसी विशिष्ट घटनात्मक समूह तक सीमित नही है, वही दूसरी ओर, किसी आत्मा को क्षण भर में एक शरीर से अलग कर दूसरे शरीर में स्थानान्तरित भी नही किया जा सकता। इसलिए किसी अगी का जन्म और मरण आकृति-परिवर्तन[1] के भेद मात्र हैं। पूर्ण जन्म नही होता, या यह कहें कि किसी आत्मा का किसी शरीर में सीधा तात्कालिक रोपण नही हो जाता, और न पूर्ण मरण यानी किसी शरीर से आत्मा का सम्पूर्ण उच्छेद ही होता है। जो चिद्‌विन्दु किसी यौगिक द्रव्य की सम्पूर्ण सत्ता का निर्माण करते हैं वे समान रूप से अजन्मा और अविनाशी हैं।[2] वे सीधे ईश्वर से उत्पन्न होते हैं 'उसके दैवत्व के स्फुरण' से निर्मित हैं।[3] उनमें से कोई भी किसी अन्य वस्तु से नही निकल आता। इस प्रकार, जिन आभासो को हम 'जन्म' और 'मरण' कहते है, वे रूपान्तर हैं, चिद्‌विन्दुओ के सम्वन्धो में परिवर्तन। जव हम किसी जन्तु को पैदा हुआ कहते हैं, तो हमारा मतलव यह होता है कि एक सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से दिखाई देने वाले लघु जन्तु का शरीर वहुत वडे आकार का हो गया और साथ-ही-साथ, उसके प्रशासक चिद्‌विन्दु में सगत आन्तरिक परिवर्तन भी हो गया। जन्तु पहले भी, अपनी सूक्ष्म दर्शनावस्था या जीवाणु के स्तर पर, जन्तु ही था। जन्म लेने में वह एक ऊँचे दर्जे का जन्तु हो गया है। जन्म की प्रक्रिया सर्वत्र वही होती है जो झाँझा से तितली के विकास में, 'प्रकृति कुछ विशिष्ट अवस्थाओ में अपने रहस्यो का उद्‌घाटन किये विना नही रहती, जव कि दूसरी अवस्थाओ में वह छिपाती है।' इस प्रकार, जन्म को उगन, वृद्धि, विकास आदि से अलग नही जाना जा सकता। दूसरी ओर, जव हम किसी जन्तु को मरता हुआ कहते हैं, हमारा मतलव यह होता है कि उसके शरीर का आकार घट गया है, अथवा नये

१ चिद्‌बिन्दु विद्या §§ ७३ से आगे।

२ प्रकृति और महिमा के नियम, § ६

३ चिद्‌बिन्दु विद्या, § ४७

यौगिक द्रव्यो में विभाजित हो गया है । जन्तु ने, इस दशा में, पूर्णत अपना अस्तित्व नही खो दिया है, वल्कि ऐसा सकुचित हो गया है कि वह अब दिखाई नही देता । इस प्रकार, मृत्यु, विघटन, ह्रास, अवगुफन एक ही है ।[1] स्वत स्फूर्त ससरण और जीवित अवस्था से पूर्णत निर्जीव अवस्था में चला जाना सम्भव नही । क्योकि निर्जीव अवस्था सम्पूर्ण रूप में आपेक्षिक है धूल और राख में भी जीवन सुरक्षित रहता है ।

आत्माओ की अखण्डता और अमरता

सभी जीवधारियो की आत्माएँ अविनाशी है, किन्तु मनुष्य की आत्मा अविनाशी और अमर दोनो है, क्योकि वह न केवल अस्तित्व में निरन्तर वनी रहती है, वल्कि उसमें चेतनता, स्मृति तथा व्यक्तित्व की अन्य विशेषताएँ भी निरन्तर वनी रहती है ।[2] लाइबनित्स के मत में, यह स्पष्टत असम्भव है कि मानव मन का इतना पतन हो कि वह अस्तित्व के किसी नीचे स्तर पर पहुँच जाय । आत्म-चेतनता अविमोच्य है । इस प्रकार, बौद्धिक आत्मा अपने स्तर से नीचे की सभी आत्माओ से भिन्न है, इस अर्थ में कि बौद्धिक आत्मा में उतने विस्तृत पार्थक्य नही

१ 'मैं निश्चित रूप से हूँ कि ससार में हमारे जन्तुओ से भी बड़े जन्तु है, जैसे हमारे जन्तु सूक्ष्मदर्शी जन्तुओं से बडे है । प्रकृति किसी सीमा को नहीं जानती । और फिर यह भी हो सकता है, नहीं अवश्य है, कि धूल के छोटे-से-छोटे कणों में, वस्तुत अन्तिम अणुओं में ससार है, जो हमारे ससार से सुन्दरता और प्रकारता में कम नहीं है, न कोई ऐसी वस्तु है जो इससे भी विचित्र वात होने से रोक सके, यानी जन्तु मर कर ऐसे ही ससारो में रूपातरित हो जाते है, क्योंकि मैं मृत्यु को जन्तु के सकोच से अधिक कुछ नहीं मानता ।' (वर्नौलियम को पत्र, १६९८)

२ 'मेरी राय यह है कि मनुष्यों की आत्माएँ पूर्व-स्थित थीं, बौद्धिक आत्माओं के रूप में नहीं, केवल चेतन आत्माओं के रूप में, जिन्होंने यह ऊँचा स्तर, तव प्राप्त किया जव मनुष्य का जिसे आत्मा जीवन देती है, गर्भाधान हुआ ।' (मैंजों को पत्र, १७११)

होते जितने कि अन्य आत्माओ में। आर्नाल्ड को लिखे हुए एक पत्र में (१६८७), लाइवनित्स का यह कथन है 'दूसरो ने, किसी अन्य प्रकार से आकारो की उत्पत्ति न समझा सकने के कारण, यह मान लिया कि एक सत्य सृष्टि से उनका प्रारम्भ हुआ। जव कि मैं इस कालिक सृष्टि को केवल वौद्धिक आत्मा के सदर्भ में मानता हूँ, और यह स्थापित करता हूँ कि वे सव आकार, जो चिन्तन नही करते, ससार के साथ रचे गये थे, वे मानते हैं कि यह सृष्टि प्रतिदिन, जव छोटे-से-छोटे कीट की उत्पत्ति होती है, होती रहती है।'[1] इस प्रकार, प्रत्येक वौद्धिक आत्मा की उत्पत्ति में कुछ ऐसा होता रहता है जिसकी तुलना एक विशिष्ट सृष्टि से की जा सकती है, यद्यपि इस विशिष्ट रचना में होता इतना ही है कि एक चिद्‌विन्दु की आत्म-चेतनता में परिणति हो जाती है। 'मन (शरीर के) इन परिवर्तनो के विपय नही है, अथवा शरीरो के ये परिवर्तन मन-सम्वन्धी ईश्वरीय मितव्ययिता के साधन हैं। ईश्वर उन्हें जव समय आता है तो रचता है और समय आने पर ही शरीर से अलग भी कर देता है, मृत्यु के माध्यम से पार्थिव शरीर से तो अलग कर ही देना

१ 'मुझे इस प्रकार सोचना चाहिए कि जो आत्माएँ किसी दिन मानवीय होंगी, अन्य जातियो की भाँति, वीज में और आदम तक अपने पूर्वजों में रही हैं, और परिणामत, वस्तुओं के प्रारम्भ से ही वे किसी-न-किसी अगी पिण्ड में सदैव स्थित रही हैं विभिन्न कारणो से मुझे यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि तव वे मात्र चेतन या जन्तु आत्माओ के रूप में, प्रत्यक्ष और वेदना सहित और युक्ति से विरहित थीं, और यह कि वे इसी रूप में मनुष्य की उत्पत्ति के समय तक, जिससे उन्हें सम्बद्ध होना था, बनी रहीं, किन्तु तव उनमें वुद्धि आ गयी, चाहे हम यह मानें कि प्रकृति में ऐसा कोई साधन है जिससे चेतन आत्मा को वौद्धिक आत्मा के स्तर तक लाया जाता है (जिसका प्रत्ययन मेरे लिए कठिन है), अथवा यह कि ईश्वर ने एक विशिष्ट कर्म द्वारा इस आत्मा को वुद्धि प्रदान की है, अथवा (यदि तुम चाहो) एक प्रकार की अतिरचना द्वारा। यही अधिक सुगमता से स्वीकार किया जाता है, क्योंकि आत्माभिव्यक्ति हमें ईश्वर द्वारा आत्माओं पर किये हुए बहुत-से तात्कालिक कर्मों की सूचना देती है।' (आर्नाल्ड को पत्र, १६८७)

है, क्योकि उन्हें अपने नैतिक गुण और अपनी स्मृति सदैव कायम रखनी होती है, जिससे वे उस सार्वभौम, सर्वपूर्ण जनतन्त्र के स्थायी नागरिक बने रह सकें, जिसका शासक ईश्वर है, जो अपने किसी सदस्य को खो नही सकता और जिसके नियम पिण्डो के नियमो से ऊँचे है ।'

आत्म-चेतनता

सजीव यौगिक पिण्डो को उनकी आत्माओ के प्रत्यक्षो की स्पष्टता एव पृथक्ता की श्रेणी के अनुसार तीन मुख्य वर्गो में बाँटा जा सकता है—(१) मात्र जीवित प्राणी, (२) जन्तु, और (३) मनुष्य । प्रथम वर्ग के द्रव्यो में, जिनमें वनस्पति और सभी प्रकार के निम्नस्तरीय अस्तित्व सम्मिलित है, आत्मा के स्थान पर एक रिक्त चिद्बिन्दु रहता है, जिसमें केवल प्रत्यक्ष और प्रतिबिंबन की क्षमता होती है, आत्म-चेतना नही होती । जन्तुओ में प्रत्यक्ष का स्तर इससे ऊँचा होता है और इसमें स्मृति सहित चेतना, अथवा वेदना सम्मिलित रहती है । मनुष्य की आत्मा में इन दोनो वर्गो की विशेपताएँ तो रहती ही है, उसके प्रत्यक्ष में इन दोनो स्तरो से भी अधिक स्पष्टता होती है, जो आत्म-चेतनता या आत्म-प्रत्यक्ष के रूप में व्यक्त होती है । आत्म-चेतन आत्मा केवल स्मृति की अनुभव शृखला में विशिष्ट प्रत्यक्षो को योजित नहीं करती, वल्कि नित्य एव अनिवार्य सत्यो का ज्ञान होने से वह तथ्यो को तार्किक क्रम में, अथवा अनिवार्य यौक्तिक सम्वन्धो में भी प्रस्तुत कर सकती है । यही उसके वौद्धिक अथवा यौक्तिक आत्मा होने का अर्थ है । वुद्धि होने का अर्थ आत्मदर्शी या आत्म-चेतन होना है, क्योकि अनिवाय एव नित्य सत्य स्पष्टता में सर्वोच्च कोटि तक विकसित प्रत्यक्ष है । फलत , इस प्रकार के सत्यो का ज्ञान हममें जो है (हमारे प्रत्यक्ष जिनसे हमारा स्वभाव निर्मित है) उसी की स्पष्ट एव पृथक् चेतना है, और इस प्रकार, वह सामान्य रूप में द्रव्य का स्पष्ट एव पृथक् ज्ञान है ।[1]

१ 'यह मानना युक्तियुक्त है कि हम से नीचे प्रत्यक्ष की क्षमता रखने वाली वस्तुएं है, जैसे हमसे ऊपर इस प्रकार की वस्तुएं है, और यह कि हमारी आत्मा, सवसे अन्त में होने के वजाय, मध्य स्थिति रखती है, जहाँ से ऊपर अथवा नीचे

हमने जीवन और मरण के अर्थो पर विचार कर, यह पाया कि आत्म-चेतन या बौद्धिक आत्मा चेतन और अचेतन आत्मा से केवल श्रेणी में भिन्न है, पर बौद्धिक आत्मा पूरी तरह अपनी बौद्धिकता कभी नही खो सकती। जन्तु आत्मा मरने पर अपनी स्मृति खोकर किसी निचले स्तर पर उतर सकती है। किन्तु, आत्म-चेतन आत्मा के लिए यह सम्भव नही। लाइबनित्स यह मानता है कि जन्तु आत्मा आत्म-चेतनता के स्तर पर लायी जा सकती है, किन्तु बिना ईश्वर के विशिष्ट कर्म अथवा व्यापार के यह सम्भव मानने में उसे कठिनाई मालूम होती है। इस प्रकार, आत्म-चेतन प्राणियो में एक अनोखी स्वतन्त्रता है, जिस पर मुख्य रूप से विचार करना चाहिए। लाइबनित्स के मत में मानवीय आत्मासहित सभी चिद्विन्दुओ की दो मुख्य विशेषताएं है प्रत्यक्ष तथा रोचन। हमें देखना चाहिए कि मनुष्य में (क) प्रत्यक्ष किस रूप में प्रकट होता है और (ख) रोचन किस रूप में प्रकट होता है।

ज्ञान-सिद्धान्त

लाइबनित्स देकार्त और लॉक के मतो के बीच से मार्ग खोजता है। वह यह मानता है कि मानवीय प्रत्यक्ष, अथवा आत्म-प्रत्यक्ष ही उचित अर्थ में ज्ञान है। अत, उसका आत्म-प्रत्यक्ष का सिद्धान्त ही ज्ञान-सिद्धान्त है। अब, आत्म-प्रत्यक्ष नित्य और अनिवार्य सत्यो का प्रत्यक्ष है। किन्तु, मानवीय आत्मा को उस प्रकार का ज्ञान भी होता है, जो स्पष्ट एव पृथक् नही है, यानी घटनापेक्ष तथ्यो का ज्ञान जिसे वह नित्य एव अनिवार्य सत्यो में घटित नही कर सकता। ऐसा होना आवश्यक है, नही तो मानवीय आत्मा के प्रत्यक्ष पूर्णत स्पष्ट और पृथक् होगे और उसके व्यापार सम्पूर्ण और अबाधित होगे, यानी शुद्ध व्यापार। किन्तु, ये पूर्ण आत्म-ज्ञान और निरपेक्ष व्यापार की विशेषताएँ तो केवल ईश्वर में ही सम्भव हैं। मनुष्य के प्रत्यक्ष सर्वोत्तम अवस्था में भी केवल आपेक्षिक रूप में स्पष्ट और पृथक्

जाना सम्भव है, नहीं तो वस्तुओ के क्रम में एक कमी आ जायेगी, जिसे कुछ दार्शनिक 'आकारगत रिक्तता' कहते है।'

होते हैं। इस प्रकार, लाइबनित्स के लिए कार्तीय ज्ञान-सिद्धान्त को प्रश्रय देना सम्भव नहीं, क्योंकि देकार्त पूर्णत स्पष्ट और पृथक् ज्ञान को ही ज्ञान मानता है, और आत्म-चेतन चिन्तन तथा अन्य प्रकार के चिन्तनों के बीच एक स्पष्ट रेखा खींच देता है। देकार्त का अविरोध का नियम आपेक्षिक सत्य की सम्भावना को सगत नहीं ठहरा सकता था। वह तो घटनापेक्ष सत्यों को अन्तिम अर्थ में अव्याख्येय मान कर सार्वभौम तथा अनिवार्य सत्यों की व्याख्या करता है।

लाइबनित्स लॉक के मत का भी विरोध करता है, जिसकी स्थापना लॉक ने अपने मानवीय बोध पर लेख में की थी। मानवीय ज्ञान यदि सम्पूर्णत सार्वभौम और अनिवार्य सत्यों के प्रत्यक्ष पर निर्भर नहीं है, तो ऐसा भी नहीं है कि वह इस प्रकार के ज्ञान से सर्वथा शून्य है और पूर्ण रूप से इन्द्रियों की घटनापेक्षता पर निर्भर है। चूँकि मानवीय आत्मा एक चिद्बिन्दु है, उसका ज्ञान उससे बाहर से नहीं आता, क्योंकि बाह्य वस्तुएँ उसे प्रभावित नहीं कर सकती। वह मूलत 'कोरी पटिया' नहीं है, जिस पर बाहर से उत्पन्न किये हुए सस्कार बनते रहते हैं, क्योंकि कोई भी चिद्बिन्दु पूरी तरह अक्रिय या प्रत्यक्षरहित नहीं हो सकता। मानव मन को, अपने व्यापारों में स्वत प्रवृत्त होने के कारण, अपना सम्पूर्ण ज्ञान अपने भीतर से उत्पन्न करना चाहिए। मानव मन कोई रिक्त स्थान नहीं है, जिसमें धीरे-धीरे बाहर से स्वतन्त्र विचार भरते रहते हैं, यह एक बल या जीवन है जो अपने आपको रूपान्तरित करता रहता है, एक उपज, एक आत्माभिव्यक्ति है।[१]

१ जॉन लॉक के 'कोरी पटिया' (तेबुला रेजा) के विचार पर, लाइबनित्स का वक्तव्य 'यह 'कोरी पटिया' जिसके सम्बन्ध में इतना अधिक कहा गया है मेरी राय में तो एक गल्प है, जिसका अनुमोदन प्रकृति नहीं करती और केवल दार्शनिकों के अपूर्ण विचारों में जिसकी बुनियाद है,.शून्य स्थान, अणुओं तथा निश्चेष्ट, या किसी पूर्ण के दो भागों के बीच एक दूसरे की दृष्टि में आपेक्षिक विश्राम की भाँति, अथवा प्राथमिक पदार्थ की भाँति, जिसे निरपेक्षत अक्रिय समझा जाता है। जो वस्तुएँ एकाकार होती हैं और जिनमें कोई विविधता नहीं होती अनुचय से अतिरिक्त कुछ नहीं होतीं, जैसे काल, देश और शुद्ध गणित की अन्य सत्ताएँ।

इस प्रकार, दोनो में से एक भी मत ज्ञान में व्याप्त सम्बन्धो के प्रति, यानी ज्ञान-सस्थापन की एकता के प्रति न्याय नही कर पाता है। दोनो का आधार किन्ही विचारो या सस्कारो के निरपेक्ष औचित्य की स्वीकृति है, दोनो में से प्रत्येक एक प्रकार का अणुवाद है। देकार्त के नित्य एव अनिवार्य सत्य अहेतुक रूप में उचित है, वे ज्ञान की सम्पूर्णता का निर्माण करने वाले प्रागनुभवीय अणु है। लॉक के 'सरल विचार' प्रामाणिकता मे उतने ही अहेतुक है, वे ज्ञान के पश्चादनुभवीय अणु, अथवा प्रदत्त है।[१]

ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसके भाग पूर्ण विश्राम की दशा में हो, और ऐसा कोई द्रव्य नहीं, जिसमें दूसरो से अलग किये जाने के लिए कुछ न हो। मानवीय आत्माएँ, न केवल अन्य आत्माओ से भिन्न होती हैं, बल्कि एक दूसरे से भी भिन्न होती हैं, यद्यपि यह भेद उस प्रकार का नहीं होता, जिसे "विशिष्ट" कहा जाता है। और मै समझता हूँ कि मै यह सिद्ध कर सकता हूँ कि प्रत्येक द्रव्यात्मक वस्तु, आत्मा हो या शरीर, दूसरी वस्तुओ में से प्रत्येक से अपने विशिष्ट सम्बन्ध रखती है, और एक को दूसरे से अपनी स्वाभाविक विशेषताओ में भिन्न होना चाहिए, बिना यह कहे हुए कि जो इस 'कोरी पटिया के विषय में इतना सब कहते है यह नहीं बता सकते कि इसमें से विचारो को हटा देने पर इसका क्या बच रहता है, जैसे • वादी दार्शनिक अपने प्राथमिक पदार्थ में कुछ नहीं छोडते। शायद यह उत्तर दिया जा सकता है कि दार्शनिको की 'कोरी पटिया का अर्थ यह है कि आत्मा में मूलत और स्वभाव से भी मात्र शक्तियो के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अनुभव आवश्यक है, यह मै स्वीकार करता हूँ, इसलिए कि आत्मा इस और उस विचार से सीमित हो सके, और इसलिए कि वह उन विचारो की ओर ध्यान दे सके जो हम में हैं। किन्तु, अनुभव और इन्द्रियाँ किन कारणो से विचार दे सकती हैं? क्या आत्मा में खिडकियाँ हैं? क्या वह लिखने की तख्ती की तरह है? क्या वह मोम की तरह है? यह स्पष्ट है कि वे सभी लोग जो आत्मा के विषय में इस प्रकार सोचते है, उसे मूल से पार्थिव बना देते हैं।' (नवीन लेख, पु० २, अ० १, §२)

१ लॉक के 'कोरी पटिया' के विचार का सूत्र देकार्त के एक अपूर्ण सवाद में

लाइबनित्स की प्रवृत्ति तिरस्कार करने की अपेक्षा समन्वय की रही है। वह देकार्त और लॉक की त्रुटियो को ज्ञान के दो पूरक तत्वो, अनिवार्य तथा घटनापेक्ष में से एक या दूसरे पर अधिक बल देने से उत्पन्न समझता है। देकार्त की दृष्टि सही होती यदि ज्ञान सम्पूर्णत अनिवार्य होता, और लॉक की दृष्टि सही होती यदि ज्ञान केवल घटनापेक्ष होता। किन्तु, मानवीय ज्ञान दोनो है, इसमें स्वयसिद्ध

मिलता है, जिसमें देकार्त की सन्देह पद्धति के अन्तर्गत एक सम्प्रदायवादी वक्ता 'कोरी पटिया' का सकेत करता है। सवाद के आवश्यक अश इस प्रकार है —

देकार्त 'मनुष्य का प्रथम ज्ञान क्या है ? वह आत्मा के किस भाग में रहता है ? और प्रारम्भ में वह इतना अपूर्ण क्यों होता है ?

एपिस्तेमॉन 'यह तो मुझे बहुत स्पष्ट समझाया हुआ लगता है, यदि शिशुओं की कल्पना की तुलना एक 'कोरी पटिया' से कर लें, जिस पर हमारे विचार, जो ऐसे है मानों वस्तुओं के सजीव बिंब हों, चित्रित होने है। हमारी इन्द्रियाँ, हमारे मन की प्रवृत्तियाँ, हमारे शिक्षक और हमारी चेतना विभिन्न चित्रकार है जो इस कार्य को सम्पन्न कर सकते है, और उनमें से प्रारम्भ वे करते है जिनमें सफल होने की योग्यता सबसे कम होती है, नाम से, अपूर्ण इन्द्रियाँ, अधी प्रवृत्ति, और मूर्ख परिचारिकाएं। योग्यतम जो बुद्धि है सबसे बाद आती है, और तब भी यह आवश्यक होता है कि वह बरसों तक प्रशिक्षण ले और कुछ समय तक अपने शिक्षकों के उदाहरण पर चले, तब कहीं उनकी भूलो में से एक को सुधारने का साहस कर सकती है। . वह एक कलाकार की भाँति है, जिसे सीखने वालों के बनाये हुए चित्र में समापन स्पर्शों के लिए बुलाया गया हो। चाहे वह अपनी सम्पूर्ण कला समाप्त कर दे, धीरे-धीरे एक के बाद दूसरी रेखा ठीक करने में और वह सब जोडने में जो छोड दिया गया था, फिर भी बडे दोष रह जायेंगे, क्योंकि चित्र प्रारम्भ में खराब खींचा गया था, आकृतियों की व्यवस्था अच्छी न थी और अनुपात की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया गया था।' उसी पुस्तक में 'सभी सत्य एक दूसरे से प्राप्त होते है और एक सर्वनिष्ठ सूत्र में बंधे रहते है, सम्पूर्ण रहस्य प्रथम तथा सरलतम से प्रारम्भ कर अति दूरस्थ तथा अति जटिल तक पहुंचने में छिपा हुआ है।'

सत्य तथा तथ्यात्मक सत्य दोनों ही सम्मिलित हैं। सही ज्ञान-सिद्धान्त में इन दोनों के प्रति न्याय होना चाहिए।

जन्मजात विचारो और कोरी पटिया के मतो का समन्वय

जॉन लॉक ने अपने अनुभववाद की स्थापना करने के लिए देकार्त के इस मत का विरोध किया कि मानव मन में कुछ जन्मजात विचार भी होते हैं। पहुँच सीधी है कि यदि कोई भी विचार जन्मजात न हो, तो हमारा सम्पूर्ण ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा बाहर से लाया हुआ होगा। और तब, किसी भी उचित ज्ञान-सिद्धान्त में ज्ञान की पश्चात् अनुभवीय व्याख्या की जानी चाहिए, अर्थात् ऐन्द्रिक ज्ञान के आधार पर। देकार्त का मत, ठीक इसके विपरीत, यह मानता है कि हमारा सम्पूर्ण सत्य ज्ञान शुद्ध विचार से उद्भूत है, अर्थात् इन्द्रियों से पूर्णत स्वतन्त्र रूप में, अत उचित ज्ञान-सिद्धान्त में ज्ञान की प्रागनुभवीय व्याख्या होनी चाहिए, अर्थात् ज्ञान को स्वयसिद्ध जन्मजात विचारो से निर्गमित दिखाया जाना चाहिए। लाइवनित्स के विचार से मानव मन को एक चिद्विन्दु मान लेने से वह ज्ञान-सिद्धान्त प्राप्त हो जाता है, जिसमें उपर्युक्त दोनो मतो के सत्य समन्वित हों और त्रुटियो का अभाव हो। चिद्विन्दु मान लेने पर, आत्मा लॉक की अक्रिय कोरी पटिया नही रह जाती, जो निरन्तर बाह्य सस्कारो को ग्रहण करती रहे। वह एक क्रियाशील बल है, अपने विचारो का स्वत स्फूर्त स्रोत, यानी सम्पूर्ण अनुभव-शृखला का स्रोत है। इस प्रकार, उसके सभी विचार जन्मजात हैं। किन्तु, उसका कोई भी विचार प्रारम्भ से ही स्पष्ट और पृथक् नही है। पहले जब वे उत्पन्न होते हैं, तो गुफित एव मम्पूर्ण रहते हैं। उनकी स्वयमिद्धता की स्वीकृति एक प्रक्रिया के फल के रूप में उचित है, जिस प्रक्रिया में आपेक्षिक गुफन से स्पष्टता की ओर विकास होता है। लॉक जिसे सवेदना कहता है वह गुफित प्रत्यक्ष है, व्यक्ति मन से बाहर की वस्तुओ का अस्पष्ट प्रतिबिम्बन। इस प्रकार, सार्वभौम तथा अनिवार्य सत्यो की स्वयसिद्धता अनुभव का परिणाम है, यद्यपि वह अनुभव शुद्ध रूप में आन्तरिक है। और सभी विचारो के जन्मजात होने पर भी, उनमें बहुत-से विचार ऐसे होते हैं जिनमें कभी भी स्वयसिद्ध सत्य की पूर्ण स्पष्टता एव पृथकता नही आ सकती, किन्तु जिन्हें सत्य मानने के लिए हमारे पास पर्याप्त आधार रहता है। आगे, यद्यपि

हमारा अनुभव सम्पूर्णतः आन्तरिक होता है, उसमे वास्तविक सत्य की कमी नही, क्योकि वह द्रव्यो के बीच पूर्व-स्थापित संगति के अनुसार सम्पूर्ण विश्व का प्रतिबिम्बन है। इस प्रकार, मानवीय ज्ञान, एक साथ ही, प्रागनुभवीय तथा पश्चात् अनुभवीय, जन्मजात एवं अनुभवजात है।[1]

प्रत्यक्ष और आत्म-प्रत्यक्ष की आपेक्षिकता

देकार्त और लॉक यह मान कर चलते है कि प्रत्यक्ष और आत्म-प्रत्यक्ष एक-दूसरे से पृथक् है। देकार्त का जन्मजात विचारो का सिद्धान्त इस पूर्व-मान्यता पर निर्भर है कि पूर्ण निश्चयात्मकता केवल आत्म-चेतन विचार मे मिलती है, मानवीय अनुभव के किसी अन्य प्रकार में नही, क्योकि वे शारीरिक घटनाएँ है और शरीर मन का विरुद्ध प्रतियोगी है। दूसरी ओर, लॉक जन्मजात विचारो का खण्डन इस आधार पर करता है कि बालको, असभ्य एवं जड-बुद्धि लोगो में ये चेतन रूप में नही पाये जाते। इस युक्ति का तात्पर्य यह है कि हममे कोई विचार तभी रहता है जब हम उसके अस्तित्व से पूर्ण अवगत होते है, या यह कि विचारो का अस्तित्व आत्म-चेतना या आत्म-प्रत्यक्ष मे ही है। इस प्रकार, आत्म-प्रत्यक्ष में, देकार्त के अनुसार, निरपेक्ष, जन्मजात प्राथमिक तत्त्व रहते है, जिनसे विशिष्ट सत्यो का

१ तुलना कीजिए 'पहले वक्तो में लोग जन्मजात विचारो का नाम बहुत स्वतन्त्रतापूर्वक इस्तेमाल करते थे, लेकिन अब मुझे लगता है कि इस विचार को एकदम छोड कर वे उल्टी भूल कर रहे है, मै तो अपने आपको कभी विश्वास न दिला सका कि वस्तु-स्वभाव विषयक तार्किक और तात्त्विक नियम, जो हमारे चिन्तन के लिए अनिवार्य है, सौंदर्यात्मक भावनाएँ और उत्तरदायित्व की चेतना हमारे आत्मिक स्वभाव की अपरोक्ष गहनता के अतिरिक्त और किसी वस्तु पर निर्भर है, जिससे कि वे, अनुभव की उत्तेजना के प्रभाव से, हमारी चेतना में हमारे स्वभाव की मौलिक सम्पत्ति के रूप में आती है, सर्वथा जन्मजात बिंबो की भाँति नहीं जो हमारी चेतना के ऊपर मंडराया करें, बल्कि हममें इस प्रकार आधारित कि उन्हें अनुभव की उत्तेजना की वस्तुत, आवश्यकता हो, किन्तु वे कभी हमें अनुभव से ही प्राप्त नहीं होतीं।' (लोत्ज़े विरोध-लेख, पृ० १२)

निगमन किया जा सकता है । लॉक के अनुसार उससे प्राथमिक तत्त्व नही सरल विचार प्राप्त होते है, जो ज्ञान के निर्माण की इकाइयाँ है । दोनो ही मतो में आत्म-प्रत्यक्ष की दुहाई दी गयी है, मात्र प्रत्यक्ष को गिना ही नही गया ।[१]

लाइवनित्स के दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त सम्पूर्ण द्रव्य का मानसीकरण है द्रव्य सर्वत्र प्रत्यक्षात्मक या प्रतिविम्वात्मक है । आत्म-प्रत्यक्ष, सवेदना और मात्र प्रत्यक्ष में कोई जाति-भेद नही, केवल श्रेणी का भेद है । इन तीनो में एक सत्य व्याप्त है, इनके वीच ऐसी दीवारें नही, जिन्हें पार न किया जा सके । शरीर गुफित आत्मा है, आत्मा स्पष्ट और पृथक् शरीर है । आत्म-चेतनता कोई विचित्र निश्चयात्मकता या सत्य नही है, वल्कि जो निम्न कोटि के प्रकारो में सत्य था उसी की स्पष्टता और पृथक्ता की उच्च कोटि है । व्यक्तिगत आत्मा एकान्तिक, आत्म-सीमित, व्यक्तिगत हो सकती है, किन्तु ऐसा तो सभी द्रव्यो में है । कोई एसा द्रव्य नही जो वीज रूप में, अहम् न हो, एक आत्म-चेतन सत्ता न हो । देकार्त और लॉक दोनो ही आन्तरिक गति, होने की प्रक्रिया, वृद्धि और विकास की ओर, जो प्रत्येक द्रव्य का सार है, ध्यान नही देते । उनके लिए वस्तु, मन, विचार, तत्त्व, जो कुछ ह अपरिवर्तनीय रूप में ह, फलत, देकार्त के मत में वास्तविक विचार की विविधता, सम्पूर्ण रूप में, अपनी एकता में समाविष्ट है और इसे शुद्ध वर्गीकरण द्वारा, वर्ग में से वर्ग निकाल कर समझाया जा मकता है, लॉक के मत में, वास्तविक

१ लाइबनित्स के 'नवीन लेखो' में आये हुए एक सवाद से उद्धृत अशों से तुलना करें फिलालेथे (लॉक का प्रतिनिधि) . 'यह कि शरीर विना भाग हुए ही विस्तृत है और यह कि कोई वस्तु सोचती है विना इस चेतना के कि वह सोचती है, दो ऐसे कथन हं जो समान रूप से अवोधगम्य हं ।' थियोफिलस (लाइबनित्स का प्रतिनिधि) 'क्षमा करें, महाशय, किन्तु मं आपको वता ही दूं कि आपकी इस आपत्ति में, कि आत्मा में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसकी उसे चेतना न हो, आत्मा-श्रय दोष है, यह सम्भव नहीं है कि हम सदंव अपने सभी विचारों का यत्न-पूर्वक दर्शन करें । अन्यथा मन असीमत प्रत्येक विचार पर विचार करता रहेगा यहाँ तक कि किसी नये विचार तक पहुँच ही नहीं पायेगा ।'

विचार की एकता केवल प्रकारो का समूह है, जिन्हें किन्ही भी वर्गों में रख दिया जा सकता है, क्योंकि तत्त्व अपरिवर्तनीय हैं।

पदार्थ और मन के पार्थक्य का विरोध

कार्तीय मत में द्रव्य वह है जो अपने आप में है और जिसे उसी के माध्यम से समझा जाता है, विना किसी अन्य वस्तु की सहायता के। द्रव्य के इस विचार ने पदार्थ और मन को पृथक् कर दिया। लाइबनित्स अपने द्रव्य सम्बन्धी मत से कि द्रव्य वह है जो निरन्तर सभी वस्तुओ के प्रत्यक्षीकरण या प्रतिविम्बन की प्रक्रिया में है, विना पदार्थ और मन का पूर्ण तादात्म्य स्थापित किये हुए, उन्हें एकाकार कर देता है। देकार्त के अनुसार, पदार्थ एक स्वतन्त्र द्रव्य है। लाइबनित्स का कहना है कि द्रव्य के उचित मत में पृथक् पदार्थ एक अनुचय है, क्योंकि वस्तुत वह एक गुफित प्रत्यक्ष है जो सामर्थ्यत स्पष्ट और पृथक् प्रत्यक्ष, आत्म-प्रत्यक्ष या मन है। इसी प्रकार, देकात के मन को स्वतन्त्र द्रव्य मानने के विरुद्ध उसका कथन है कि शुद्ध मन तो केवल ईश्वर के पास है। जैसा मन हमारे पास है वह पदार्थ से पृथक् नही किया जा सकता, क्योकि वह वस्तुत पदार्थ ही है, जिसका वल ऊँचा कर दिया गया है, यानी गुफित प्रत्यक्ष की स्पष्टता और पृथक्ता में वृद्धि कर दी गयी है। रचित द्रव्यो में न कोई शरीर विना आत्मा का है, न कोई आत्मा विना शरीर के है।

मन सदैव चिन्तन करता है

लाइबनित्स जॉन लॉक के विरुद्ध यह स्थापित करता है कि मन सदैव चिन्तनशील रहता है। यदि मन एक स्वच्छ पटल है, जो अपने सभी सस्कार वाहर से ग्रहण करता है, तो विचार-रहित मन की कल्पना विलकुल प्राकृतिक कल्पना है। परिणामत लॉक यह मानता है कि स्वप्नरहित सुपुप्ति में मन विचाररहित अवस्था में स्थित रहता है। और इस प्रकार की सुपुप्ति में मन का अस्तित्व बाद में यह स्मरण करने से प्रमाणित होता है कि सुपुप्ति के पूर्व मन में क्या घटित हुआ था। आगे चल कर लॉक यह भी स्थापित करता है कि जैसे गति के विना पिण्ड स्थित हो सकता है, वैसे ही विना विचार के मन स्थित हो सकता है। इस स्थापना का आधार, स्पष्ट रूप में, यह विचार है कि गति और विराम एक दूसरे से आपेक्षिक अर्थ में नहीं निरपेक्ष अर्थ में पृथक् हैं, इसी प्रकार, स्पष्ट और पृथक् चेतना अचेतनावस्था से

निरपेक्षत भिन्न हैं, आपेक्षिक रूप में नही। जब किसी पिण्ड में व्यक्त गति नही होती, तो वह निरपेक्ष विराम की अवस्था में होती है, जब किसी मन में स्पष्ट और पृथक् चेतना या आत्म-प्रत्यक्ष नही होता तो वह निरपेक्षत चेतनारहित होता है। लाइबनित्स के दर्शन के केन्द्रीय नियम इस स्थिति के बिलकुल विरुद्ध हैं। गति और विराम एक-दूसरे के निरपेक्ष विलोम प्रतीत होते हैं, किन्तु यदि हम उन्हें, अमूर्त्त रूप में नही बल्कि मूर्त्त रूप में, शेष जगत् के सन्दर्भ में रखकर देखें, तो वे केवल आपेक्षिक अर्थ में एक दूसरे से पृथक् समझे जा सकेंगे। अन्यथा, निरन्तरता का नियम, जो विश्व की किसी भी काम देने योग्य व्याख्या का आधार है, भग हो जायेगा। इस नियम के आग्रह से, विराम को गति की असीमत लघु कोटि मानना पडेगा, और यह भी कि प्रत्येक पिण्ड में गति की प्रवृत्ति, अर्थात् प्रतीयमान गति होती है, चाहे उसमें वास्तविक, व्यक्त अथवा पूर्ण गति न भी हो। इसी प्रकार, जब मन को मूर्त्त रूप में यानी एक वास्तविक द्रव्य के रूप में समझा जाता है जो विश्व को निर्मित करने वाले शेष सभी द्रव्यो से (उनके प्रतिबिम्बन द्वारा) सम्बन्धित है, तो चेतन और अचेतन का भेद आपेक्षिक हो जाता है। किसी द्रव्य में प्रत्यक्ष का सम्पूर्ण अभाव नही हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष (प्रतिबिम्बन) के अभाव का अर्थ शेष जगत् से सम्बन्ध का अभाव होगा, और तब निरन्तरता के नियम की पूर्त्ति नही होगी। इस प्रकार, अचेतनता, या प्रत्यक्ष का दृष्ट अभाव, प्रत्यक्ष की असीमत लघु कोटि है और प्रत्येक मन में, कम-से-कम, प्रतीयमान विचार या चेतनता, यानी स्पष्ट और पृथक् प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति अवश्य होनी चाहिए, चाहे वह वस्तुत विचार से शून्य ही क्यो न प्रतीत हो। मन बिना धारी का पत्थर नही है, जिसमें से मूर्त्तिकार जो आकृति चाहे निकाल ले। उसमें धारियाँ होती हैं, जो उससे बनने वाली मूर्त्ति को रूपरेखा प्रदान करती हैं। दूसरे शब्दो में मन का स्वभाव 'आगे और पीछे' देखना है। लाइबनित्स के विचार से उसका मत प्लेटो के स्मृति-सिद्धान्त मे अन्तर्भूत सत्य की अभिव्यक्ति है। मन के वर्त्तमान प्रत्यक्षो को, जहाँ तक वे विगत प्रत्यक्षो में प्रतीयमान रूप में मौजूद थे, भूत का स्मरण माना जा सकता है, उन्ही से विकसित या उन्ही का अधिक स्पष्ट रूप माना जा सकता है। यही नहीं, वर्तमान प्रत्यक्ष भावी प्रत्यक्षो के प्राक्कथन हैं, क्योंकि भावी प्रत्यक्ष वर्तमान अवस्था में गुम्फित हैं।

लघु प्रत्यक्ष

लाइबनित्स चिद्‌बिन्दु विद्या में अचेतन प्रत्यक्षो की स्थापना करता है। आधार-भूत विचार यह है कि प्रत्यक्ष से ही प्रत्यक्ष की उत्पत्ति हो सकती है। तदनुसार, यह भी स्वीकार करना पडेगा कि मूर्च्छा या गहन निद्रा की अचेतनता और जाग्रत की पूर्ण चेतनावस्था के बीच असीमत लघु प्रत्यक्षो की असीम श्रेणियां होगी, जिनमें लघुतम प्रत्यक्ष इतने धूमिल होंगे कि उन्हें प्रत्यक्षाभाव से पृथक् नही किया जा सकेगा, किन्तु उत्तरोत्तर स्पष्टता की श्रेणी में वृद्धि होते-होते, प्रत्यक्ष शृंखला का पर्यवसान जाग्रत की चेतनता में हो जायेगा। ये लघु प्रत्यक्ष, गुफित प्रत्यक्ष, जिन्हे अब अव-चेतन विचार भी कहा जा सकता है, आत्माओ की निरन्तरता यानी छोटे-से पत्थर की आत्मा से लेकर देवदूत की आत्मा तक निरतरता प्रदर्शित करते हैं। लाइबनित्स बताता है[1] कि इन लघु प्रत्यक्षो की अति लघुता, अपरिमित सख्या और व्यक्तिगत अस्पष्टता ही वे विशेषताएँ है जिनके कारण हमें उनकी स्पष्ट चेतना नही हो पाती। लघु प्रत्यक्षो के मत से लाइबनित्स अनेक मनोवैज्ञानिक परिस्थितियो की व्याख्या करता है, जैसे आदी हो जाने पर किसी मिल या जलप्रपात के नाद की ओर ध्यान

१ 'स्वय हम 'लघु प्रत्यक्ष' करते हैं, जिनकी हमें अपनी वर्तमान अवस्था में चेतना नहीं होती। यह सच है कि हम भलीभांति उनके प्रति चेतन हो सकते थे और उनका अन्तर्दर्शन कर सकते थे, यदि उनकी बहुतायत से, जो हमारे मन को विचलित कर देती है, बाधा न होती, अथवा यदि बडे प्रत्यक्ष उन्हें हटा न देते यानी धूमिल न कर देते। मैं 'प्रत्यक्ष' और 'आत्म-प्रत्यक्ष' में भेद करना चाहूंगा। उदाहरण के लिए, प्रकाश और वर्ण का प्रत्यक्ष जिसका हमें आत्म-प्रत्यक्ष होता है, लघु प्रत्यक्षों के एक परिमाण से बनता है, जिसका हमें कोई प्रत्यक्ष नहीं होता, और एक कोलाहल, जिसका हमें प्रत्यक्ष होता है किन्तु जिसकी ओर हम कुछ भी ध्यान नहीं देते, जरा-सा और जुडने या बढ जाने से 'आत्म-प्रत्यक्ष' बन जा सकता है। क्योंकि यदि पहले वाले का आत्मा पर कोई प्रभाव न हुआ होता, तो इस थोडी-सी वृद्धि का भी न होता, और सम्पूर्ण का भी कुछ प्रभाव न होता।' (नवीन लेख, परिचय, पृ० ३७०)

न देना । प्रत्यक्ष तो तव भी होते है, किन्तु 'नवीनता का आकर्पण न रह जाने पर, वे इतने सशक्त नही होते कि हमारे अवधान और स्मृति पर, जो अधिक रुचिकर वस्तुओ की ओर उन्मुख है, अधिकार रख सकें । क्योकि सम्पूर्ण अवधान के लिए स्मृति अपेक्षित है, और कहा जाय कि प्राय जव हमे अपने कुछ वर्तमान प्रत्यक्षो की ओर ध्यान देनें की चेतावनी नही मिलती, तो हम विना अन्तर्प्रत्यक्ष के ही उन्हे गुजर जाने देते है, और यहाँ तक कि विना जाने ही, किन्तु यदि कोई वाद मे भी तुरन्त ही उनकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है, और उनकी चर्चा करता है, उदाहरणार्थ, किसी शोर की जो अभी सुनाई दिया था, तो हम अपने आप उसका पुनराह्वान करते है और प्रत्यक्ष करते है कि एक क्षण पहले हमें उसकी कुछ चेतना हुई थी । इससे मालूम होता है कि कुछ प्रत्यक्ष हुए थे जिनकी हमें तत्काल चेतना न थी, ऐसी दशा में समय के व्यवधान के वाद , जो छोटा ही सही, केवल ध्यान उनकी ओर आकर्षित कर दिये जाने से आत्म-प्रत्यक्ष हो जाता है ।"[1] इस प्रकार

१ नवीन लेख, परिचय, पृ० ३७१ । तुलना कीजिए 'हम एक साथ ही वहुत-सी वस्तुओ के विषय में सोचते हैं, किन्तु ध्यान उन्हीं विचारो की ओर देते हैं जो बहुत स्पष्ट होते हैं · और इस मामले में अन्यथा हो भी नहीं सकता, क्योंकि यदि हमें सभी की ओर ध्यान देना पडता, तो हमें एक साथ ही उन असंख्य वस्तुओं को ध्यानपूर्वक सोचना पड़ता, जिनमें से सबका हम अनुभव करते हैं और सब हमारी इन्द्रियो पर संस्कार छोडती हैं । मैं इससे भी अधिक कहता हूँ हमारे सभी गत विचारों का कुछ-न-कुछ अवशेष रहता है, और किसी को भी पूरी तरह मिटाया नहीं जा सकता । अत जब हम स्वप्नरहित निद्रा की अवस्था में होते हैं, और जब हम किसी आघात, गिरने, बीमार होने, या आकस्मिक संकट से मूर्च्छित हो जाते हैं, तो हमारे भीतर अपरिमित छोटी-छोटी गुंफित भावनाओं की उत्पत्ति होती है, और मृत्यु भी जन्तु-आत्माओ पर कोई दूसरा प्रभाव नहीं डाल सकती, निश्चय ही वे, जल्दी या देर में, स्पष्ट प्रत्यक्षो को पुन प्राप्त कर लेती हैं, क्योंकि प्रकृति में सभी कुछ एक व्यवस्थित ढंग से घटित होता है प्रत्येक आत्मा में उसके सभी पूर्व संस्कार सुरक्षित रहते हैं, और वह अपने आप को विघटित नहीं

लघु प्रत्यक्ष आत्म-चेतन चिद्विन्दु के गुफित प्रत्यक्ष है, जिनकी मनोवैज्ञानिक उपादेयता पर लाइबनित्स ने अपने द्रव्य-सम्बन्धी सामान्य मत मे बहुत बल दिया है। गुफित प्रत्यक्षो के सगुफन की श्रेणी कितनी ही ऊँची हो, हममे उनकी पृथक् या सामूहिक चेतना कितनी ही कम हो, फिर भी वे प्रत्यक्ष है, उच्चतम प्रत्यक्ष, अधिकतम स्पष्ट आत्म-प्रत्यक्ष या आत्म-चेतनता से इनकी जातीय एकता है। आत्म-चेतनता का क्षेत्र सम्पूर्ण द्रव्य को अपने में समाविष्ट कर लेता है, यह मनुष्य या उससे ऊँची आत्माओ तक सीमित नही है। किन्तु, द्रव्यो की असीम प्रकारता में, आत्मचेतनता की असीम श्रेणियाँ रहती है, और बहुत-से ऐसे द्रव्य है, जिनमें इसकी असीमत लघु श्रेणी पायी जाती है, या कहें कि किसी ऐसी श्रेणी से भी कम जिसे कोई नाम दिया जा सके।

लाइबनित्स का ज्ञान-सिद्धान्त उसके दर्शन के मुख्य नियमो के सन्दर्भ में

लाइबनित्स के ज्ञान-सिद्धान्त में उसके दर्शन के मुख्य नियमो की ही ज्ञान-मीमासात्मक अभिव्यक्ति हुई है। सम्पूण सत्य जन्मजात है, यदि वस्तुत नही तो प्रतीयमान रूप में। किन्तु सत्य दो प्रकार का होता है। अविरोध का नियम नित्य और अनिवार्य सत्य का आधार है। यह सत्य या तो स्वयसिद्ध होता है या स्वयसिद्ध सत्य से उचित निगमन द्वारा प्राप्त होता है। 'हमारा मन अनिवार्य सत्यो का स्रोत है, और किसी अनिवार्य सत्य के हमें चाहे जितने विशिष्ट अनुभव हो, विना युक्ति द्वारा इसकी अनिवार्यता जाने हुए, केवल आगमन से हम अपने आपको इसका विश्वास नही करा सकते इन्द्रियाँ सकेत दे सकती है, आश्रय दे सकती है, और इन सत्यो की स्वीकृति कर सकती है, किन्तु उनकी अचूक और निरन्तर निश्चयात्मकता का प्रदर्शन नही कर सकती।'[1] दूसरी ओर, तथ्यात्मक सत्य,

कर सकते। वस्तुओं को हम भूल अवश्य सकते हैं, किन्तु एक लम्बे अरसे के बाद भी हम उन्हें याद कर सकते हैं, यदि केवल सही ढग से हमें उनकी याद दिलायी जाय।' (वही, पु० २, अ० १, §११)

१ नवीन लेख, पुस्तक १, अ० १, §५

अथवा आकस्मिक सत्य, उतना ही जन्मजात होने पर भी, अविरोध के नियम द्वारा प्रदर्शित नही किया जा सकता, वह केवल पर्याप्त युक्ति के नियम द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। यह सत्य निगमन नही, आगमन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। यह अनुभवगत सत्य है, या प्रत्यक्ष का सत्य है, जिसका पूर्ण पृथक्ता या स्वयसिद्धता में विश्लेषण नही किया जा सकता, क्योंकि वस्तु-सस्थान मे उलझे हुए इसके सम्वन्धो में असीम जटिलता है। सम्वन्धो की असीमत जटिल राशि ही गुफित प्रत्यक्ष है, जिन्हे पूर्ण व्यवस्था और सरलता में परिणत कर पाना हमारे लिए असभव है। गुफिन प्रत्यक्ष हमारे अपने स्वभाव का प्रतिविम्वन नहीं है, वल्कि हमसे भिन्न वस्तुओ के सस्थान का, या यह कहे कि दूसरे चिद्विन्दुओ का जो हमसे सम्वन्धित है। किन्तु स्पप्ट प्रत्यक्ष हमारे अपने स्वभाव का ही प्रतिविम्वन है, जो हम में है उसी का। साथ ही, यह गुफित प्रत्यक्षो का स्पप्टता में विकसित होना है, यह हमारे गुफित प्रत्यक्षो से एकदम पृथक् नही है। इस प्रकार बाह्य वस्तुओ के ज्ञान के माध्यम से हमें अपने आपका ज्ञान होता है।[1] आत्म-चेतना में वस्तु-चेतना अन्तर्भूत है आत्म-प्रत्यक्ष सचमुच ही प्रत्यक्ष का पुष्प है, वह सौन्दर्य है जिसे उत्पन्न करने के लिए ही प्रत्यक्ष अपनी समस्त श्रेणियो सहित जीता और वढता है। अनुभव अथवा गुफित विचार की उचित व्याख्या मे उसे यांत्रिक ज्ञान का आधार मानना पडेगा। वुद्धि को इन्द्रिय, अनुभव, कल्पना की, उन्हें गल्पकार कहकर, खिल्ली नही उडानी चाहिए क्योंकि ये ही उसका पोषण करती है।

१. 'इन्द्रियां हमें चिन्तन की सामग्री देती है, और हमें विचार के विपय में सोचना ही नहीं चाहिए, यदि हमने किसी अन्य वस्तु के विपय में न सोच लिया हो, कहा जाय, विशिप्ट वस्तुओं के सम्वन्ध में जिन्हें इन्द्रियां हमें देती है। और मैं यह मानने के लिए विवश हूँ कि आत्माएँ और रचित आत्माएँ कभी अगरहित नहीं होतीं और कभी सवेदनारहित नहीं होतीं, क्योंकि वे प्रतीकों के विना चिन्तन नहीं कर सकतीं।' (नवीन लेख, पु० २, अ० २१, §७३)

'प्रत्यक्ष' या 'प्रतिविम्वन' का अर्थ अनन्त आपेक्षिकता का परिहार

लाइबनित्स के दर्शन में 'प्रत्यक्ष', 'प्रतिविम्वन', 'अभिव्यक्ति' कुछ मुख्य शब्द है, जिनके प्रयोग में एक अनन्त आपेक्षिकता का सकेत है। हमे देखना है कि लाइबनित्स ने इस आपेक्षिकता के परिहार का प्रयत्न किस प्रकार किया है। प्रश्न यह है कि प्रत्यक्ष, प्रतिविम्वन या अभिव्यक्ति किसकी होती है ? इन प्रक्रियाओ का सार क्या है ? यदि प्रत्येक सत्य द्रव्य का सार प्रत्येक दूसरे द्रव्य का प्रत्यक्ष, प्रतिविम्वन या अभिव्यक्ति करते रहना है, तव तो हम मानवीय ज्ञान के एक ऐसे सिद्धान्त पर आ गये जिसमें अन्त न होने वाली आपेक्षिकता की स्वीकृति है।

लाइवनित्स कहता है कि 'एक वस्तु दूसरी वस्तु की अभिव्यक्ति तव करती है जव एक वस्तु के सम्वन्ध मे जो कहा जा सकता है उसके और दूसरी वस्तु के सम्बन्ध में जो कहा जा सकता है उसके बीच कोई स्थिर या व्यवस्थित सम्वन्ध होता है।' इस प्रकार, कोई दो वस्तुएँ एक-दूसरे से प्रत्यक्षकर्त्ता और प्रत्यक्षीकृत वस्तु के रूप में तभी सम्बन्धित हो सकती हैं, जब एक के विधेय या गुण दूसरी वस्तु के विधेय या गुणो के साथ ही साथ सदैव परिवर्तित होते है। ऐसी दशा मे प्रत्यक्ष, प्रतिबिम्वन या अभिव्यक्ति पृथक् द्रव्यो के गुणो के बीच किसी नियम के अनुसार सगति का सम्वन्ध है। किन्तु, ये गुण भी प्रत्यक्ष ही हैं। यही पर, उस ऊपर उठाये गये प्रश्न के उत्तर की माँग है कि वह अन्तिम सत्ता क्या है, जिसके ये सव प्रत्यक्ष या प्रतिबिम्वन है ? लाइवनित्स का उत्तर है, यह सत्ता ईश्वर का स्वभाव या प्रज्ञ ज्ञाता के रूप में ईश्वर के विचार हैं। ईश्वर का ही ज्ञान सम्पूर्णत उचित एव लब्ध है, उसी में विश्व सवका सव आर-पार दिखाई देता है। विचार के आगे कोई सत्ता नही जिसके साथ वह सगत हो। विचार किसी प्रकार से भी उस वस्तु को प्रतिबिम्बित नही कर सकता जो उससे अन्य हो, या वह जो 'पूरी सत्ता के व्यास' की दूरी पर, या उससे भी अधिक दूर हो। क्योकि कोई भी चिह्नित वस्तु अपने चिह्न से पृथक् नही की जा सकती। चिह्न और चिह्नित वस्तु के वीच एकता का कोई न कोई आधार आवश्यक है, जिसके कारण उनके बीच यह सम्बन्ध स्थापित हो सके। फलत शुद्ध विचार उसका प्रतीकन, प्रतिविम्वन या प्रत्यक्ष नही कर सकता जो पूर्णत अ-विचार है। एक गुफित विचार दूसरे गुफित विचार का प्रतीक है और स्पष्ट एव पृथक् विचार का भी। तदनुसार, गुफित विचारो के बीच चिह्न और

चिह्नित वस्तु इस प्रकार पायी जाती है कि जिसे अभी चिह्न समझा जाता है उसी को दूसरे दृष्टिविन्दु से चिह्नित वस्तु समझा जा सकता है। साथ ही, यह भी स्पष्ट है कि किन्ही दो प्रत्यक्षो मे से अधिक स्पप्ट प्रत्यक्ष को अधिक गुफित प्रत्यक्ष द्वारा चिह्नित समझा जायेगा, या कहें, वह वस्तु समझा जायेगा जिसे अधिक गुंफित प्रत्यक्ष अभिव्यक्त करने का प्रयत्न कर रहा है, किन्तु उचित रूप मे अभिव्यक्त नही कर पा रहा है। इससे यह प्राप्त होता है कि अन्तिम 'चिह्नित वस्तु', या आधारभूत सत्ता, जिसके सभी दूसरे प्रत्यक्ष विभिन्न श्रेणियो में प्रतीक बनना चाहते हैं, या प्रतिविम्बित करना चाहते हैं अवश्य ही पूर्णत स्पप्ट या पृथक् विचार है, जो ईश्वर का विचार है। इस प्रकार, ईश्वर प्रथम कारण होने के साथ अन्तिम सत्ता भी है। यह हम देख ही चुके हैं कि कारण युक्ति या व्यास्या है। यह सगत गुफित प्रत्यक्ष की तुलना में, जो परिणाम है, अपेक्षाकृत स्पप्ट और पृथक् प्रत्यक्ष है। किन्तु, पूर्णत स्पष्ट और पृथक् प्रत्यक्ष ईश्वर का स्वभाव है, वही समस्त वस्तुओ का अन्तिम कारण है।

नीतिशास्त्र चिद्विन्दुओ मे रोचन की श्रेणियाँ, अथवा कोटियाँ प्रवृत्ति, स्वाभाविक इच्छा, सकल्प

प्रत्येक चिद्विन्दु में प्रत्यक्ष तथा रोचन दोनो ही होते हैं। रोचन चिद्विन्दु में परिवर्तन का तत्त्व है, जिसके होने से वह एक प्रत्यक्ष से दूसरे प्रत्यक्ष पर पहुँचता है। प्रत्यक्ष की ही भाँति इसमें भी असीम श्रेणियाँ होती हैं, किन्तु तीन प्रकार के मुख्य प्रत्यक्षो से सगत रोचन के भी मुख्य तीन प्रकारो की ओर ध्यान दिया जा सकता है। इस दृष्टि से, निम्नतम कोटि के चिद्विन्दुओ (मात्र चिद्विन्दुओ) का रोचन केवल एक अधी प्रवृत्ति, वेग या स्थितिज वल है जो व्यक्त होने [illegible] प्रयत्न [illegible] रहता है। यह विशिष्ट रोचन या प्रत्यक्ष (प्रतिविम्वन) का [illegible] स्रोत या आधार अचेतन प्रत्यक्षो में रहता है। इस मात्र [illegible] हुई घडी की स्प्रिग[1] से की जा सकती है, जो अपने आपको [illegible] प्रयत्न करती है, या 'उस पत्थर से जो पृथ्वी के केन्द्र की ओर [illegible] जाता है, किन्तु सबसे अच्छे रास्ते से नही।'[2] जन्तुओ की [illegible]

१ नवीन लेख, पु० २, अ० २०, [illegible] २,

स्वाभाविक अतृप्ति या इच्छा है, जो भावना या चेतन किन्तु अपेक्षाकृत गुफित प्रत्यक्षो से उत्पन्न होती है। मात्र चिद्‌बिन्दुओ के रोचन की भाति, यह भी तात्कालिक सन्तुष्टि खोजती है, क्योकि जान्तवी आत्मा की चेतना और स्मृति के अतिरिक्त इसे मार्गदर्शन कराने वाला कोई नही। अ तिम, यौक्तिक आत्माओ का रोचन आत्म-चेतन इच्छा या सकल्प है यह परिवर्त्तन का वह तत्त्व है, जिसका आधार आत्म-प्रत्यक्ष, अथवा स्पष्ट और पृथक् यौक्तिक ज्ञान है।[1] प्रत्यक्ष की भाँति, रोचन भी अपने सभी प्रकारो एव श्रेणियो में एक ही होता है, यानी मात्र वल से सर्व स्वतन्त्र उच्चतम यौक्तिक सकल्प तक एक। मनुष्य के स्वभाव में हमें इसकी सभी श्रेणियाँ प्राप्त होती हैं, वह मात्र यौक्तिक सकल्प नही, उसमें स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ और वासनाएँ होती है, जो रोचन की मध्यम श्रेणी है, और शारीरिक शक्तियाँ जो निम्नतम श्रेणी की है। अत, हम देखते हैं कि लाइबनित्स ने जैसे ज्ञानात्मक पक्ष में निरन्तरता के नियम का प्रदर्शन किया था वैसे ही व्यावहारिक पक्ष में भी करता है।

भावना सुख-दु ख 'अर्ध-दु ख' एव 'अर्ध-सुख'

लाइबनित्स के नीतिशास्त्र में उपर्युक्त सामान्य विचारो की व्याप्ति है। यहाँ हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि मानस तत्त्व का ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा सकल्पात्मक पक्षो में विभाजन, जो इमैनुएल कान्ट[2] के वाद प्रचलित हुआ,

१ 'अननुभूत (असवेद्य) झुकाव होते है, जिनकी हमें कुछ भी चेतना (आत्म-प्रत्यक्ष) नहीं होती, अनुभूत (सवेद्य) झुकाव होते है, जिनके अस्तित्व और विषय का ज्ञान हमें होता है, किन्तु जो अनजाने ही वन जाते है, और ये गुफित झुकाव हैं, जिनका हम शरीर पर आरोप करते हैं, यद्यपि मन में इनसे सगत कुछ अवश्य रहता है, और अन्त में, स्पष्ट झुकाव होते हैं, जिन्हें बुद्धि हमें देती है, और जिनके वल तथा गठन की हमें चेतना होती है।' (नवीन लेख, पु० २, अ० २१, §४२)

२ उक्त विभाजन का श्रेय टेटेन्स (सिरका १७५०) को दिया जाता है, किन्तु कान्ट ने ही इस पर विशेष वल दिया।

रूसो से पूर्व का नही है । इसलिए लाइवनित्स अरस्तवी द्विविध विभाजन से प्राप्त सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक दो ही तत्वो से काम चलाता है । लाइवनित्स के रोचन में भाव और सकल्प तथा उनके निम्नस्तरीय भेद, यानी चेतन और अचेतन वल जो पूर्ण व्यापार में विकसित नही हो पाते, या कहें जो स्थितिज या प्रतीयमान है, आ जाते है । चूंकि रोचन और प्रत्यक्ष सदैव साथ रहते है, लाइवनित्स यह स्थापित करता है कि कोई ऐसा प्रत्यक्ष नही जो पूर्णत भावहीन और परिवर्त्तनशील, अथवा विश्राम की अवस्था में हो । प्रत्येक प्रत्यक्ष में भाव और क्रिया का तत्त्व रहता है, चाहे वह असीमत लघु अश ही हो । यदि लोज़े[1] के, वाद में प्रयुक्त शब्द काम में लाये जायें, तो कहा जायगा कि प्रत्येक प्रत्यक्ष में 'मूल्य', अथवा 'वरीयता' होती है, किन्तु लाइवनित्स के लिए यह मूल्य निरपेक्ष या पूर्व प्रतिष्ठित सत्य नही, केवल स्पष्टता और पृथक्‌ता की अनुपलब्ध सामर्थ्य है ।

मानवीय स्वभाव की वात करते हुए, जिसमें सभी प्रकार के रोचन और प्रत्यक्ष सम्मिलित है, लाइवनित्स कहता है कि 'कोई भी प्रत्यक्ष ऐसा नही जो हमसे उदासीन हो, किन्तु जव उसका परिणाम दिखाई न दे हम उदासीन कह सकते है, क्योंकि सुख और दु ख दिखाई देने वाली सहायता या वाधा प्रतीत होते है ।' किन्तु, वह हमें चेतावनी देता है कि इसे सुख और दु ख की उचित परिभाषा न मान लिया जाय । यह एक विवरण मात्र है । दु ख आवश्यक रूप में चिद्‌विन्दु के रोचन में एक वाधा या रुकावट[2] है, सुख[3] उसका मुक्त व्यापार है । इस प्रकार, ये दोनो एक-दूसरे की अपेक्षा करते है । किन्तु, हम रोचन की रुकावट या मुक्तता को दु ख अथवा सुख तभी कहते है, जव रोचन चेतना की कोटि तक पहुँच लेता है, पर

१ देखिए, लोज़े लघु विश्व, पु० ३, अ० ४, §४ का अंग्रेजी अनुवाद, खण्ड १, पृ० ३६६ ।

२ नवीन लेख, पु० २, अ० २०, §१

३ 'मैं समझता हूँ कि मूलत सुख पूर्णता की भावना है, और दुख अपूर्णता की, शर्त यह है कि भावना इतनी स्पष्ट हो कि हमें उसकी चेतना हो सके ।' (नवीन लेख, पु० २, अ० २१, §४२)

चेतन और अचेतन में कोई नपा-तुला अन्तर तो है नही, अत रोचन के निम्न स्तरो या श्रेणियो को लघु रूप में दुखद या सुखद कहा जा सकता है । इस प्रकार, लाइ-बनित्स 'अर्ध-दु खो' और 'अर्ध-सुखो' की चर्चा करता है लघु प्रत्यक्षो के समकक्ष 'लघुत अदृश्यमान दु ख और सुख ।' लघु प्रत्यक्षो की ही भाँति, अपने व्यक्तिगत वल में वृद्धि करके,अथवा समूह में गठित होकर,ये अर्ध-दु ख और अर्ध-सुख दृश्यमान दु ख और सुख की कोटि में आ सकते है । कोई भी आत्मा पूर्ण विश्राम की अवस्था में, अर्थात् रोचन से सर्वथा रहित अवस्था में कभी नही रह सकती, और कोई भी रचित आत्मा कभी भी पूर्ण रूप से क्रियाशील नही हो सकती, अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्र नही हो सकती । इस प्रकार, प्रत्येक आत्मा में निरन्तर रोचन होता रहता है, जो अशत मुक्त और अशत बाधित है । कहा जाय कि प्रत्येक आत्मा में निरन्तर सुख और दु ख कोई न कोई कोटि वर्तमान रहती है ।

इस स्थिति के आग्रह से लाइबनित्स 'बेचैनी'[1] के विवेचन में, जिसे जॉन लॉक ने इच्छा का प्रथम स्पन्दन माना था, बहुत रुचि लेता है । बेचैनी ठीक-ठीक सुख या दु ख नही है, बल्कि चैन के अभाव की अस्पष्ट भावना है, जो विशिष्ट इच्छा में परिणत होकर कर्म प्रारम्भ कर सके । इस प्रकार, लाइबनित्स के मत में गुफित

१ 'यदि तुम अपनी "बेचैनी" को वास्तविक रूप में सुख का अभाव समझते हो, तो मै यह नहीं मानने का कि कर्म का यही अकेला प्रेरक है । प्राय प्रेरक वे लघु अननुभूत प्रत्यक्ष होते हैं, जिन्हें हम अदृश्यमान दुख कह सकते है, केवल यदि दुख की धारणा में आत्म-प्रत्यक्ष अन्तर्भूत न होता । ये लघु प्रवृत्तियाँ हमें छोटी-छोटी रुकावटों से निरन्तर मुक्त करती रहती हैं, जिससे हमारी प्रकृति बिना चिन्ता के काम करती रहती है । इसी में वह बेचैनी अन्तर्भूत है, जिसका बिना उसे जाने हुए हम अनुभव करते हैं, जो उत्तेजित अवस्था में तथा जब हम बहुत शान्त दिखाई देते हैं हमें कर्म करने पर बाध्य करती है, क्योंकि ऐसी अवस्था कभी नहीं होती जब हम कुछ व्यापार एव गति न कर रहे हों, जो इसलिए होता है कि प्रकृति सदैव इस प्रकार काम करती है कि उसे अधिक सुविधा हो सके ।' (नवीन लेख, पु० २, अ० २१, ३६)

रूसो से पूर्व का नही है। इसलिए लाइवनित्स अरस्तवी द्विविध विभाजन से प्राप्त सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक दो ही तत्त्वो से काम चलाता है। लाइवनित्स के रोचन में भाव और सकल्प तथा उनके निम्नस्तरीय भेद, यानी चेतन और अचेतन वल जो पूर्ण व्यापार में विकसित नही हो पाते, या कहें जो स्थितिज या प्रतीयमान हैं, आ जाते हैं। चूंकि रोचन और प्रत्यक्ष सदैव साथ रहते हैं, लाइवनित्स यह स्थापित करता है कि कोई ऐसा प्रत्यक्ष नही जो पूर्णत भावहीन और परिवर्तनशील, अथवा विश्राम की अवस्था में हो। प्रत्येक प्रत्यक्ष में भाव और क्रिया का तत्त्व रहता है, चाहे वह असीमत लघु अश ही हो। यदि लोज़े[1] के, वाद में प्रयुक्त शब्द काम में लाये जायँ, तो कहा जायगा कि प्रत्येक प्रत्यक्ष में 'मूल्य', अथवा 'वरीयता' होती है, किन्तु लाइवनित्स के लिए यह मूल्य निरपेक्ष या पूर्व प्रतिष्ठित सत्य नही, केवल स्पष्टता और पृथक्ता की अनुपलव्ध सामर्थ्य है।

मानवीय स्वभाव की वात करते हुए, जिसमे सभी प्रकार के रोचन और प्रत्यक्ष सम्मिलित हैं, लाइवनित्स कहता है कि 'कोई भी प्रत्यक्ष ऐसा नही जो हमसे उदासीन हो, किन्तु जव उसका परिणाम दिखाई न दे हम उदासीन कह सकते हैं, क्योंकि सुख और दु ख दिखाई देने वाली सहायता या वाधा प्रतीत होते हैं।' किन्तु, वह हमें चेतावनी देता है कि इसे सुख और दु ख की उचित परिभाषा न मान लिया जाय। यह एक विवरण मात्र है। दु ख आवश्यक रूप में चिद्विन्दु के रोचन में एक वाधा या रुकावट[2] है, सुख[3] उसका मुक्त व्यापार है। इस प्रकार, ये दोनो एक-दूसरे की अपेक्षा करते हैं। किन्तु, हम रोचन की रुकावट या मुक्तता को दु ख अथवा सुख तभी कहते हैं, जव रोचन चेतना की कोटि तक पहुँच लेता है, पर

१ देखिए, लोज़े लघु विश्व, पु० ३, अ० ४, §४ का अंग्रेजी अनुवाद, खण्ड १, पृ० ३६६।

२ नवीन लेख, पु० २, अ० २०, §१

३. 'मैं समझता हूँ कि मूलत सुख पूर्णता की भावना है, और दुख अपूर्णता की, शर्त यह है कि भावना इतनी स्पष्ट हो कि हमें उसकी चेतना हो सके।' (नवीन लेख, पु० २, अ० २१, §४२)

चेतन और अचेतन में कोई नपा-तुला अन्तर तो है नही, अत रोचन के निम्न स्तरा या श्रेणियो को लघु रूप में दुखद या सुखद कहा जा सकता है । इस प्रकार, लाइ-बनित्स 'अर्ध-दु खो' और 'अर्ध-सुखो' की चर्चा करता है लघु प्रत्यक्षो के समकक्ष 'लघुत अदृश्यमान दु ख और सुख ।' लघु प्रत्यक्षो की ही भाँति, अपने व्यक्तिगत वल में वृद्धि करके,अथवा समूह में गठित होकर,ये अर्ध-दु ख और अध-सुख दृश्यमान दु ख और सुख की कोटि में आ सकते हैं । कोई भी आत्मा पूर्ण विश्राम की अवस्था में, अर्थात् रोचन से सर्वथा रहित अवस्था में कभी नही रह सकती, और कोई भी रचित आत्मा कभी भी पूर्ण रूप से क्रियाशील नही हो सकती, अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्र नही हो सकती । इस प्रकार, प्रत्येक आत्मा में निरन्तर रोचन होता रहता है, जो अशत मुक्त और अशत वाधित है । कहा जाय कि प्रत्येक आत्मा में निरन्तर सुख और दु ख कोई न कोई कोटि वतमान रहती है ।

इस स्थिति के आग्रह से लाइवनित्स 'वेचैनी'[१] के विवेचन में, जिसे जॉन लॉक ने इच्छा का प्रथम स्पन्दन माना था, वहुत रुचि लेता है । वेचैनी ठीक-ठीक सुख या दु ख नही है, वल्कि चैन के अभाव की अस्पष्ट भावना है, जो विशिष्ट इच्छा में परिणत होकर कर्म प्रारम्भ कर सके । इस प्रकार, लाइवनित्स के मत में गुफित

१ 'यदि तुम अपनी "वेचैनी" को वास्तविक रूप में सुख का अभाव समझते हो, तो मैं यह नहीं मानने का कि कर्म का यही अकेला प्रेरक है । प्राय प्रेरक वे लघु अननुभूत प्रत्यक्ष होते हैं, जिन्हें हम अदृश्यमान दुख कह सकते हैं, केवल यदि दुख की धारणा में आत्म-प्रत्यक्ष अन्तर्भूत न होता । ये लघु प्रवृत्तियाँ हमें छोटी-छोटी रुकावटों से निरन्तर मुक्त करती रहती हैं, जिससे हमारी प्रकृति बिना चिन्ता के काम करती रहती है । इसी में वह वेचैनी अन्तर्भूत है, जिसका बिना उसे जाने हुए हम अनुभव करते हैं, जो उत्तेजित अवस्था में तथा जब हम वहुत शान्त दिखाई देते हैं हमें कर्म करने पर बाध्य करती है, क्योंकि ऐसी अवस्था कभी नहीं होती जब हम कुछ व्यापार एव गति न कर रहे हो, जो इसलिए होता है कि प्रकृति सदैव इस प्रकार काम करती है कि उसे अधिक सुविधा हो सके ।' (नवीन लेख, पु० २, अ० २१, §३६)

प्रत्यक्ष और अविकसित प्रयत्न या रोचन से, विकास की प्रक्रिया द्वारा, स्पष्ट और पृथक् प्रत्यक्ष तथा स्वतन्त्र सकल्प का उद्‌भव होता है। जहाँ तक इस विकास-प्रक्रिया मे बाधा होती है, हम दुख का अनुभव करते हैं जहाँ तक यह प्रक्रिया *अवाधित, यानी सुगम मार्ग पर चलती है, हमें सुख मिलता है।* इस प्रकार, प्रत्येक आत्मा प्रवृत्त्या अपना सुख खोजती है वह न्यूनतम विरोध का मार्ग ग्रहण करती है। ऐसा करना उसके स्वभाव के अनुकूल है, जिसका अर्थ है स्वत अपने अन्तर को उद्‌घाटित करना, क्योकि उसका वर्तमान उसके भूत से प्रवहमान है और भविष्य की आशा लिए हुए है। अत , आत्म-व्यापार सुख है, आत्म-अवरोध दु ख, और क्रिया करना ही आत्मा का सार है, क्योकि प्रत्येक सरल द्रव्य प्रथमत एक वल है।

स्वतन्त्रता उदासीनता की स्वतन्त्रता और 'सकल्प करने का सकल्प'

उदासीनता की स्वतन्त्रता, यानी पूर्णत अनिश्चित का चुनाव-जैसा कुछ सम्भव नही, क्योकि इसका अर्थ होगा आत्मा के जीवन की निरन्तरता का खण्डित होना। पूर्णत अनिश्चित चुनाव का अर्थ यही हो सकता है कि आत्मा की चुनाव के समय की अवस्था का चुनाव के पहले की अवस्था से नियमित विकास नही होता, वल्कि वह व्यापार का अभिनव प्रारम्भ है। और यह मानना द्रव्य के विचार के विरुद्ध है। लाइवनित्स देवविद्या तथा नवीन लेखो में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है कि आत्मा की प्रत्येक चुनाव के पूर्व वर्त्तमान अवस्था में प्रत्यक्ष का कुछ न कुछ निश्चायक तत्त्व अवश्य ही रहता है। 'सकल्प करने का सकल्प' सचमुच एक अति दशा है, जिसमें अपने निर्णय और इच्छाओ के विरुद्ध सकल्प किया जाता है, किन्तु हम ऐसा करने में सक्षम हैं। लाइवनित्स सकेत करता है कि यहाँ भी किसी पूर्ववर्त्ती विचार द्वारा ही सकल्प निश्चित होता है, अर्थात् अपने आपको और दूसरो को यह प्रकट करने के लिए कि हममें कुछ शक्ति है।[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है

१ 'लोग कहते हैं कि, सभी कुछ जान और समझ लेने के बाद भी, उनके वश में न केवल उसीका सकल्प करना है जो उन्हें प्रसन्न करे, वल्कि उसका भी ज उससे विपरीत हो, मात्र अपनी स्वतन्त्रता दर्शाने के लिए। किन्तु यह ध्यान दें योग्य है कि यही स्वेच्छाचारिता या हठ या, बहुत कम कहा जाय तो, यह युक्ति

कि प्रत्येक दशा में संकल्प किसी युक्ति या प्रत्यक्ष द्वारा ही निर्धारित होता है। अमूर्त अनिश्चयवाद की भूल अव-चेतन प्रत्यक्षों और रोचनों की उपेक्षा से उत्पन्न होती है। यह उसी प्रकार की भूल है जैसी देकार्त्त और लॉक ने ज्ञान के सन्दर्भ

जो दूसरी युक्तियों को मानने में बाधक होती है, सतुलन प्राप्त कर लेती है और उनके लिए वह सब भी मोददायक बना देती है जो अन्यथा उन्हें बिलकुल अच्छा न लगता, और तदनुसार, उनका चुनाव प्रत्यक्ष द्वारा ही निर्धारित होता है। इस प्रकार हम केवल उसीका संकल्प नहीं करते जो हम चाहते हैं, बल्कि उसका भी जो हमें प्रसन्न करता है, यद्यपि परोक्ष रूप में, और मानो दूर से, इच्छा किसी वस्तु को पसन्द या नापसन्द करने में योग देती है।' (नवीन लेख, पु० २, अ० २१, §२५) लाइबनित्स के संकल्प-सम्बन्धी मनोविज्ञान पर 'अनेक प्रत्यक्ष और झुकाव पूर्ण संकल्प का षड्यन्त्र करते हैं, जो उनके संघर्ष का परिणाम है। ऐसे प्रत्यक्ष और झुकाव होते हैं जो पृथक्-पृथक् अदृश्यमान होते हैं, किन्तु जिनका सामूहिक रूप बेचैनी पैदा करता है, जो उसका आधार बिना जाने हुए ही हमें कर्म में प्रवृत्त करती है, इनमें से बहुत-से प्रत्यक्ष एक साथ मिल कर, हमें किसी वस्तु की ओर अथवा उससे विपरीत दिशा में, निर्देशित करते हैं और तब हममें इच्छा या भय होता है, साथ ही बेचैनी भी, किन्तु ऐसी बेचैनी जो सदैव सुख या दुख तक नहीं पहुँचती। अन्त में, ऐसी प्रवृत्तियाँ होती हैं जिनके साथ वस्तुत सुख और दु ख रहते हैं, और ये सब प्रत्यक्ष या तो नयी संवेदनाएँ होती हैं, या गत संवेदनाओं के अवशिष्ट बिम्ब, जिनके साथ स्मृति रहती है या नहीं रहती है, किन्तु इन बिम्बों के उन आकर्षणों को ताजा कर देती है जो गत संवेदनाओं में अनुभव किये गये थे, और इस तरह पुरानी प्रवृत्तियों को कल्पना की जागरूकता के अनुपात में ताजा कर देती है। इन सब प्रवृत्तियों से अन्तत आग्रही प्रयत्न उत्पन्न होता है, जो पूर्ण संकल्प का निर्माण करता है। फिर भी इच्छाओं और प्रवृत्तियों को भी जिनकी हमें चेतना होती है प्राय संकल्प (यद्यपि कम पूर्ण) ही कहा जाता है, चाहे वे आग्रह करें और कर्म की उत्पत्ति करें अथवा न करें। इस प्रकार, सुगमता से यह प्राप्त हो जाता है कि संकल्प का अस्तित्व इच्छा और उपेक्षा के बिना कठिन है; क्योंकि मैं सोचता हूँ कि हम इच्छा के विलोम को यह नाम दे सकते हैं। बेचैनी न

प्रत्यक्ष और अविकसित प्रयत्न या रोचन से, विकास की प्रक्रिया द्वारा, स्पष्ट और पृथक् प्रत्यक्ष तथा स्वतन्त्र सकल्प का उद्भव होता है । जहां तक इस विकास-प्रक्रिया में वाधा होती है, हम दुख का अनुभव करते है जहाँ तक यह प्रक्रिया अवाधित, यानी सुगम मार्ग पर चलती है, हमें सुख मिलता है । इस प्रकार, प्रत्येक आत्मा प्रवृत्त्या अपना सुख खोजती है वह न्यूनतम विरोध का मार्ग ग्रहण करती है । ऐसा करना उसके स्वभाव के अनुकूल है, जिसका अर्थ है स्वत अपने अन्तर को उद्घाटित करना, क्योकि उसका वर्तमान उसके भूत से प्रवहमान है और भविष्य की आशा लिए हुए है । अत , आत्म-व्यापार सुख है, आत्म-अवरोध दु ख, और क्रिया करना ही आत्मा का सार है, क्योकि प्रत्येक सरल द्रव्य प्रथमत एक बल है ।

स्वतन्त्रता उदासीनता की स्वतन्त्रता और 'सकल्प करने का सकल्प'

उदासीनता की स्वतन्त्रता, यानी पूर्णत अनिश्चित का चुनाव-जैसा कुछ सम्भव नही, क्योकि इसका अर्थ होगा आत्मा के जीवन की निरन्तरता का खण्डित होना । पूर्णत अनिश्चित चुनाव का अर्थ यही हो सकता है कि आत्मा की चुनाव के समय की अवस्था का चुनाव के पहले की अवस्था से नियमित विकास नही होता, वल्कि वह व्यापार का अभिनव प्रारम्भ है । और यह मानना द्रव्य के विचार के विरुद्ध है । लाइवनित्स देवविद्या तथा नवीन लेखों में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है कि आत्मा की प्रत्येक चुनाव के पूर्व वर्त्तमान अवस्था में प्रत्यक्ष का कुछ न कुछ निश्चायक तत्त्व अवश्य ही रहता है । 'सकल्प करने का सकल्प' सचमुच एक अति दशा है, जिसमें अपने निर्णय और इच्छाओ के विरुद्ध सकल्प किया जाता है, किन्तु हम ऐसा करने में सक्षम है । लाइवनित्स सकेत करता है कि यहाँ भी किसी पूर्ववर्ती विचार द्वारा ही सकल्प निश्चित होता है, अर्थात् अपने आपको और दूसरो को यह प्रकट करने के लिए कि हममें कुछ शक्ति है ।[१] इससे यह स्पष्ट हो जाता है

१ 'लोग कहते हैं कि, सभी कुछ जान और समझ लेने के वाद भी, उनके वश में न केवल उसीका सकल्प करना है जो उन्हें प्रसन्न करे, वल्कि उसका भी जो उससे विपरीत हो, मात्र अपनी स्वतन्त्रता दर्शाने के लिए । किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि यही स्वेच्छाचारिता या हठ या, वहुत कम कहा जाय तो, यह युक्ति,

कि प्रत्येक दशा में संकल्प किसी युक्ति या प्रत्यक्ष द्वारा ही निर्धारित होता है।
अमूर्त अनिश्चयवाद की भूल अव-चेतन प्रत्यक्षों और रोचनों की उपेक्षा में उत्पन्न
होती है। यह उसी प्रकार की भूल है जैसी देकार्त और लॉक ने ज्ञान के सन्दर्भ में

जो दूसरी युक्तियों को मानने में बाधक होती है, संतुलन प्राप्त कर लेती है और
उनके लिए वह सब भी मोददायक बना देती है जो अन्यथा उन्हें बिलकुल अच्छा
न लगता, और तदनुसार, उनका चुनाव प्रत्यक्ष द्वारा ही निर्धारित होता है।
इस प्रकार हम केवल उसीका संकल्प नहीं करते जो हम चाहते हैं, बल्कि उसका भी
जो हमें प्रसन्न करता है, यद्यपि परोक्ष रूप में, और मानो दूर से, इच्छा किसी वस्तु
को पसन्द या नापसन्द करने में योग देती है।' (नवीन लेख, पु० २, अ० २१,
§२५) लाइबनित्स के संकल्प-सम्बन्धी मनोविज्ञान पर 'अनेक प्रत्यक्ष और झुकाव
पूर्ण संकल्प का षड्यन्त्र करते हैं, जो उनके संघर्ष का परिणाम है। ऐसे प्रत्यक्ष
और झुकाव होते हैं जो पृथक्-पृथक् अदृश्यमान होते हैं, किन्तु जिनका सामूहिक
रूप बेचैनी पैदा करता है, जो उसका आधार बिना जाने हुए ही हमें कर्म में प्रवृत्त
करती है, इनमें से बहुत-से प्रत्यक्ष एक साथ मिल कर, हमें किसी वस्तु की ओर
अथवा उससे विपरीत दिशा में, निर्देशित करते हैं और तब हममें इच्छा या भय
होता है, साथ ही बेचैनी भी, किन्तु ऐसी बेचैनी जो सदैव सुख या दुख तक नहीं
पहुँचती। अन्त में, ऐसी प्रवृत्तियाँ होती हैं जिनके साथ वस्तुत सुख और दु ख
रहते हैं, और य सब प्रत्यक्ष या तो नयी संवेदनाएँ होती हैं, या गत संवेदनाओं
के अवशिष्ट बिम्ब, जिनके साथ स्मृति रहती है या नहीं रहती है, किन्तु इन बिम्बों
के उन आकर्षणों को ताजा कर देती है जो गत संवेदनाओं में अनुभव किये गये थे,
और इस तरह पुरानी प्रवृत्तियों को कल्पना की जागरूकता के अनुपात में ताजा
कर देती है। इन सब प्रवृत्तियों से अन्तत आग्रही प्रयत्न उत्पन्न होता है, जो
पूर्ण संकल्प का निर्माण करता है। फिर भी इच्छाओं और प्रवृत्तियों को भी जिनकी
हमें चेतना होती है प्राय संकल्प (यद्यपि कम पूर्ण) ही कहा जाता है, चाहे व
आग्रह करें और कर्म की उत्पत्ति करें अथवा न करें। इस प्रकार, सुगमता से यह
प्राप्त हो जाता है कि संकल्प का अस्तित्व इच्छा और उपेक्षा के बिना कठिन है,
क्योंकि मैं सोचता हूँ कि हम इच्छा के विलोम को यह नाम दे सकते हैं। बेचैनी न

में यह मान कर की थी कि आत्म-चेतन ज्ञान या आत्म-प्रत्यक्ष ही सत्य ज्ञान है। हम देख चुके हैं कि सम्पूर्ण विचार को आत्म-चेतन या अन्तर्दर्शी मान लेने से विचार में किसी प्रकार की उन्नति असम्भव होगी, क्योकि इसका अर्थ होगा कि मन असीमत यही सोच सकता है कि वह सोचता है कि वह सोचता है, और फलत वह किसी नये विचार पर नही पहुँच सकेगा। इसी प्रकार, उदासीनता की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त, जिसके अनुसार सभी सकल्प अनिवार्यत चेतन और विकसित हैं, एक ऐसी सकल्प-शक्ति पूर्व-कल्पित करता है जो असीमत सकल्प करने का सकल्प

केवल घृणा, क्रूरता, क्रोध, ईर्ष्या आदि कष्टकारक वासनाओ में होती है, बल्कि उनके विलोम में भी, जैसे प्रेम, आशा, अनुकूलन और महिमा आदि में। यह कहा जा सकता है कि जहाँ कहीं इच्छा है, वहाँ बेचैनी है, किन्तु इसका उलटा सदैव सत्य नहीं होता, क्योकि प्राय विना यह जाने हुए ही बेचैनी होती है कि हम चाहते क्या हैं, और तब कोई मूर्त्त इच्छा नहीं होती। चूंकि अन्तिम निश्चय (कर्म करने के लिए) बलाबल निर्णय का फल होता है, मुझे यह सोचना चाहिए कि यह भी हो है कि अत्यधिक दबाव डालने वाली बेचैनी सफल नहीं होती। (सकल्प को प्रभावित करने में), क्योकि वह यद्यपि एक-एक करके विरुद्ध प्रवृत्तियो पर वश पा सकती है, ऐसा भी हो सकता है कि एक साथ मिल कर वे ही उस पर वश पा लें। मन द्विविध विभाजन शैली से भी काम ले सकता है कि प्रवृत्तियो का अब एक और अब दूसरा सगठन प्रभावकारी हो, जैसे किसी सभा में, प्रश्नों को क्रम से प्रस्तुत कर, हम एक के बाद दूसरी पार्टी को बहुमत से जीतने दे सकते हैं। यह ठीक है कि मन को पहले से ही इस प्रकार की व्यवस्था कर लेनी चाहिए, क्योकि सघर्ष के समय इस प्रकार की कूट-शैलियाँ खोजने का नहीं रहता। उस समय हमें जो सूझ जाता है उसी का फल पर र पडता है और वही एक सयुक्त दिशा खोजने में सहायता करता है, जिसका निर्माण लगभग उसी प्रकार होता है जैसे यन्त्रशास्त्र में, और विना शीघ्र कोई मोड लिए हुए हम उसे रोक भी नहीं सकते। 'सारथी को उसके घोडे लिये जाते हैं और रथ को उसके निर्देश की परवाह नहीं' (वर्जिल)।'

(नवीन लेख, पु० २, अ० २१, §३६)

करती रहती है । किन्तु, वस्तुत सकल्प को सप्रयत्न चेतन इच्छा या अभिप्राय तक सीमित नही किया जा सकता । हम बहुत-से ऐसे कार्य एव अनुभव करते है जो अन्तत हमारा सकल्प निश्चित करने में योग देते है, यद्यपि तत्काल हम यह नही सोचते कि बाद में उनका यह फल होगा ।[१]

१ 'हम सकल्प का सकल्प नहीं करते, बल्कि हम काम का सकल्प करते है, और यदि हम सकल्प का सकल्प करते होते, तो सकल्प के सकल्प का सकल्प करते रहते और यह क्रम असीम तक चला जाता । फिर भी हमें इस तथ्य को निगाह से ओझल नहीं करना चाहिए कि प्राय इच्छित कर्मों से हम दूसरे इच्छित कर्मों को परोक्ष रूप में प्रोत्साहन देते है, और यद्यपि हम जो करेंगे उसका निर्णय नहीं कर सकते, चूंकि हम क्या करेंगे का निर्णय ही नहीं कर सकते, कम से कम पहले से हम इस प्रकार कर्म तो कर सकते है कि समय आने पर हम उस कर्म का निर्णय या सकल्प कर सकें जिसका हम चाहते ह कि आज निर्णय या सकल्प कर सकते । हम अपने आपको उन लोगो, उस प्रकार के अध्ययन, सा मान्य रूप में उन परिस्थितियो की ओर उन्मुख करते हैं जो किसी पक्ष का समर्थन करती हैं, हम उसकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते जो विरोधी पक्ष से आता है, और इनसे तथा दूसरे बहुत-से निर्देशों से जो हम अपने मन को देते हैं, समान्यत बिना किसी निश्चित अभिप्राय के और बिना उसके विषय में सोचे हुए, हम, अपने पिछले अनुभवों के अनुसार, नवमार्गी या कुमार्गी बन कर, अपने को छलने या बदलने में सफल हो जाते है ।' (नवीन लेख, पु०, २, अ० २१, §२३)

लाइबनित्स ने, सम्भवत मॉन्टेन के लेखो को पढा था । उक्त पुस्तक के दूसरे भाग के चौथे अध्याय का एक अश पढ़िए 'किसी मन को दो समान इच्छाओं के बीच बिलकुल सतुलित समझना एक मनपसन्द कल्पना है । क्योंकि यह असदिग्ध है कि वह कभी किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकेगा, इसलिए कि सकल्प और चुनाव में मूल्य की असमानता अपेक्षित है, और हमें यदि शराब और गोश्त के बीच खाने और पीने की समान इच्छा के साथ बैठा दिया जाय, तो भूखे और प्यासे मर जाने में कुछ भी सन्देह नहीं । इतनी असुविधाजनक बात के विरुद्ध कुछ कहने

नैतिक और आध्यात्मिक अनिवार्यता

सकल्प उतने अनिवार्य रूप मे भी नही उत्पन्न होता जितना स्पिनोज़ा के दर्शन में दिखाया गया है। सकल्प को वह अमूर्त्त वोध नही समझा जा सकता, जिसका नियम विरोध का है। सकल्प सदैव उसी युक्ति के अनुसार नही प्रवृत्त होता है जिसका विरोध करने वाली युक्ति अपने आप में असगत हो वह प्राय पर्याप्त युक्ति से प्रेरित होता है, या यह कहें कि झुकाव पैदा करने वाली या सभाव्य युक्ति से। हम केवल इसलिए कर्म नही करते हैं कि हमें अवश्य करना चाहिए, न इसलिए कि वस्तुओ का नित्य स्वभाव अन्यथा करना असम्भव वना देता है। हम किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कर्म करते हैं, ऐसा लक्ष्य जो केवल कल्पना की गढन्त नही है, वल्कि जिसमें वस्तुओ की योग्यता की स्वीकृति है, जो अनेक सम्भावित कर्म-मार्गों में से सर्वोत्तम का न्यूनाधिक स्पष्ट प्रत्यक्ष है। इस प्रकार, हमारा सकल्प नैतिक अनिवार्यता से निर्धारित है, आध्यात्मिक, अथवा तात्त्विक अनिवार्यता से नही। वह सर्वोत्तम की स्वीकृति से उत्पन्न होता है, वह स्वीकृति कितनी ही

के लिए, जव स्टोइको से पूछा गया कि हमारी आत्मा दो अन्तररहित वस्तुओ के वीच चुनाव कैसे कर लेती है, यहाँ तक कि वहुत वडी सख्या में रखे हुए सिक्को में से हम एक चुन लेते हैं, यद्यपि वे सव एक-से रहते हैं और कोई कारण नहीं रहता जो उनमें से एक की पसन्द की ओर झुका सके—तो स्टोइक उत्तर देते हैं कि यह आत्मा की असाधारण और व्यतिरिक्त गति है, जो हम में एक विचित्र, घटनात्मक और आकस्मिक प्रवृत्ति से उत्पन्न होती है। मुझे लगता है कि इससे वेहतर तो वे यह कह सकते थे कि हमारे सामने ऐसा कुछ भी नहीं आता जिसमें कुछ भेद न हो, वह कितना ही कम क्यो न हो और दृष्टि तथा स्पर्श के लिए हमेशा ही कुछ पसन्द करने का रहता है जो उन्हें आकर्षित करता है, चाहे मालूम न हो ठीक उसी तरह जैसे मान लें कि रस्सी का एक टुकडा पूरा का पूरा वरावर मजवूत है, तो यह विलकुल असम्भव होगा कि वह टूट जाय। क्योकि फिर टूटना किस भाग से प्रारम्भ हो, दोष कहाँ प्रकट हो? और उसके प्रत्येक भाग का एक साथ ही टूटना प्रकृति के सर्वथा विरुद्ध है।'

पूण या अपूर्ण हो । सकल्प, जो चेतन रोचन है, हमारे आदर्शो के अनुसार गति करता है, क्योकि ये आदर्श हमारे प्रत्यक्ष है, हमारे स्वभाव की क्षमताएँ, वल्कि केवल हमारे स्वभाव की नही, सम्पूण वस्तु जगत् के स्वभाव की—हमारे प्रत्यक्ष सम्पूण विश्व के प्रतिबिम्वन है ।

स्वतन्त्रता = स्वत स्फुरण + बुद्धि

अरस्तू का अनुसरण करते हुए, लाइवनित्स स्वतन्त्रता को स्वत स्फुरण तथा बुद्धि का सयुक्त रूप मानता है । किन्तु बुद्धि की व्याख्या केवल शुद्ध आत्म-चेतना के अमूर्त वोध के रूप में नही की जा सकती, इसमें प्रत्यक्ष या प्रतिविम्वन की प्रत्येक कोटि सम्मिलित है । इस प्रकार, स्वतन्त्रता में कोटियो की असीम प्रकारता है और कोई भी वास्तविक मूर्त द्रव्य निरपेक्षत शुद्ध अनिवार्यता के आश्रित नही है, अथवा उस अनिवार्य के जो स्वतन्त्रता की असीमत लघु कोटि से भिन्न है । और चूकि समान रूप से सभी चिद्विन्दुओ में स्वत स्फुरण (क्योकि वे अपना सम्पूर्ण जीवन अपने ही भीतर से व्यक्त करते है) है, उसकी स्वतन्त्रता की कोटि उसकी वुद्धि की कोटि पर निर्भर है, या यह कहें कि उसके प्रत्यक्षो की स्पष्टता एव पृथक्ता की कोटि पर । इसी प्रकार, मानव प्राणियो में, किसी कर्म की स्वतन्त्रता उसका निर्धारण करने वाली युक्तियो की स्पष्टता एव पृथक्ता के अनुपात पर निर्भर करती है । और मनमाना तथा हठपूर्ण कर्म, कोई विशिष्ट स्वतन्त्र सकल्प सूचित करना तो दूर, स्वतन्त्रता की कमी प्रदर्शित करता है, क्योकि उसका निर्धारण करने वाली युक्ति इतनी धूमिल, अथवा गुफित है कि उसका विवरण असम्भव है । युक्ति के धुंधलेपन के कारण उस पर लोगो की निगाह नही पडती और वे समझते है कि प्रस्तुत कर्म में कोई युक्ति नही । कोई मानवीय कर्म अनिर्धारित नही होता, जैसे कोई भी पूर्णत अनिवार्य नही होता । सर्वोच्च स्वतन्त्रता अधिकतम पूर्ण ज्ञान का साथ करती है । और समस्त सत्ताधारियो में ईश्वर ही परम स्वतन्त्र है, इसलिए नही कि वह जो चाहे कर सकता है, न इसलिए कि वह अपने स्वभाव की अनिवार्यता से प्रेरित सदैव स्वत स्फुरित कर्म करता है, वल्कि इसलिए कि असीम बुद्धिमत्ता से निर्धारित उसका प्रत्येक कर्म सर्वोत्तम सम्भव लक्ष्यो की ओर अग्रसर होता

नैतिक और आध्यात्मिक अनिवार्यता

सकल्प उतने अनिवार्य रूप मे भी नही उत्पन्न होता जितना स्पिनोज़ा के दर्शन में दिखाया गया है । सकल्प को वह अमूर्त्त वोध नही समझा जा सकता, जिसका नियम विरोध का है । सकल्प सदैव उसी युक्ति के अनुसार नही प्रवृत्त होता है जिसका विरोध करने वाली युक्ति अपने आप में असगत हो वह प्राय पर्याप्त युक्ति से प्रेरित होता है, या यह कहे कि झुकाव पैदा करने वाली या सभाव्य युक्ति से । हम केवल इसलिए कर्म नही करते है कि हमें अवश्य करना चाहिए, न इसलिए कि वस्तुओ का नित्य स्वभाव अन्यथा करना असम्भव वना देता है । हम किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कर्म करते है, ऐसा लक्ष्य जो केवल कल्पना की गढन्त नही है, वल्कि जिसमें वस्तुओ की योग्यता की स्वीकृति है, जो अनेक सम्भावित कर्म-मार्गों में से सर्वोत्तम का न्यूनाधिक स्पष्ट प्रत्यक्ष है । इस प्रकार, हमारा सकल्प नैतिक अनिवार्यता से निर्धारित है, आध्यात्मिक, अथवा तात्त्विक अनिवार्यता से नही । वह सर्वोत्तम की स्वीकृति से उत्पन्न होता है, वह स्वीकृति कितनी ही

के लिए, जब स्टॉइको से पूछा गया कि हमारी आत्मा दो अन्तररहित वस्तुओ के वीच चुनाव कैसे कर लेती है, यहाँ तक कि वहुत वडी सख्या में रखे हुए सिक्को में से हम एक चुन लेते हैं, यद्यपि वे सब एक-से रहते हैं और कोई कारण नहीं रहता जो उनमें से एक को पसन्द की ओर झुका सके—तो स्टोइक उत्तर देते हैं कि यह आत्मा की असाधारण और व्यतिरिक्त गति है, जो हम में एक विचित्र, घटनात्मक और आकस्मिक प्रवृत्ति से उत्पन्न होती है । मुझे लगता है कि इससे वेहतर तो वे यह कह सकते थे कि हमारे सामने ऐसा कुछ भी नहीं आता जिसमें कुछ भेद न हो, वह कितना ही कम क्यो न हो और दृष्टि तथा स्पर्श के लिए हमेशा ही कुछ पसन्द करने का रहता है जो उन्हें आकर्षित करता है, चाहे मालूम न हो ठीक उसी तरह जैसे मान लें कि रस्सी का एक टुकडा पूरा का पूरा बराबर मजबूत है, तो यह विलकुल असम्भव होगा कि वह टूट जाय । क्योकि फिर टूटना किस भाग से प्रारम्भ हो, दोष कहाँ प्रकट हो ? और उसके प्रत्येक भाग का एक साथ ही टूटना प्रकृति के सर्वथा विरुद्ध है ।'

पूर्ण या अपूर्ण हो। सकल्प, जो चेतन रोचन है, हमारे आदर्शो के अनुसार गति करता है, क्योकि ये आदर्श हमारे प्रत्यक्ष है, हमारे स्वभाव की क्षमताएँ, वल्कि केवल हमारे स्वभाव की नही, सम्पूर्ण वस्तु जगत् के स्वभाव की—हमारे प्रत्यक्ष सम्पूर्ण विश्व के प्रतिविम्वन है।

स्वतन्त्रता = स्वत स्फुरण + बुद्धि

अरस्तू का अनुसरण करते हुए, लाइवनित्स स्वतन्त्रता को स्वत स्फुरण तथा वुद्धि का सयुक्त रूप मानता है। किन्तु वुद्धि की व्याख्या केवल शुद्ध आत्म-चेतना के अमूर्त बोध के रूप में नही की जा सकती, इसमें प्रत्यक्ष या प्रतिविम्वन की प्रत्येक कोटि सम्मिलित है। इस प्रकार, स्वतन्त्रता में कोटियो की असीम प्रकारता है और कोई भी वास्तविक मूर्त्त द्रव्य निरपेक्षत शुद्ध अनिवार्यता के आश्रित नही है, अथवा उस अनिवार्य के जो स्वतन्त्रता की असीमत लघु कोटि से भिन्न है। और चूँकि समान रूप से सभी चिद्विन्दुओ में स्वत स्फुरण (क्योकि वे अपना सम्पूर्ण जीवन अपने ही भीतर से व्यक्त करते है) है, उसकी स्वतन्त्रता की कोटि उसकी वुद्धि की कोटि पर निर्भर है, या यह कहें कि उसके प्रत्यक्षो की स्पष्टता एव पृथक्ता की कोटि पर। इसी प्रकार, मानव प्राणियो में, किसी कर्म की स्वतन्त्रता उसका निर्धारण करने वाली युक्तियो की स्पष्टता एव पृथक्ता के अनुपात पर निर्भर करती है। और मनमाना तथा हठपूर्ण कर्म, कोई विशिष्ट स्वतन्त्र सकल्प सूचित करना तो दूर, स्वतन्त्रता की कमी प्रदर्शित करता है, क्योकि उसका निर्धारण करने वाली युक्ति इतनी धूमिल, अथवा गुफित है कि उसका विवरण असम्भव है। युक्ति के धुँधलेपन के कारण उस पर लोगो की निगाह नही पडती और वे समझते हैं कि प्रस्तुत कर्म में कोई युक्ति नही। कोई मानवीय कर्म अनिर्धारित नही होता, जैसे कोई भी पूर्णत अनिवार्य नही होता। सर्वोच्च स्वतन्त्रता अधिकतम पूर्ण ज्ञान का साथ करती है। और समस्त सत्ताधारियो में ईश्वर ही परम स्वतन्त्र है, इसलिए नही कि वह जो चाहे कर सकता है, न इसलिए कि वह अपने स्वभाव की अनिवार्यता से प्रेरित सदैव स्वत स्फुरित कर्म करता है, वल्कि इसलिए कि असीम वुद्धिमत्ता से निर्धारित उसका प्रत्येक कम सर्वोत्तम सम्भव लक्ष्यो की ओर अग्रसर होता है।

शुभ और अशुभ आचरण का लक्ष्य

शुभ और अशुभ भी आपेक्षिक पद हैं। कर्म वही तक शुभ होते है, जहाँ तक वे स्पष्ट और पृथक् प्रत्यक्षो द्वारा निर्धारित है, अशुभ, जहाँ तक उनकी निर्धारक युक्तियाँ गुफित है। जैसे भूल गुफित प्रत्यक्ष होने के नाते अपूर्ण सत्य है, उसी प्रकार पाप वह कर्म या रोचन है जो गुफित प्रत्यक्ष से प्रवाहित होता है और इस प्रकार अपूर्ण पवित्रता है। चूंकि आत्मा का स्वाभाविक गुण निरन्तर क्रियाशील होना है, चूंकि उसके व्यापार अधिक स्वतन्त्र है, उसके प्रत्यक्ष अधिक स्पष्ट और अधिक पृथक् है, और चूंकि सुख उसके व्यापार की स्वतन्त्रता में अन्तर्भूत है, आचरण का लक्ष्य सर्वोच्च कोटि की स्वतन्त्रता है, जो साथ ही सर्वोच्च कोटि का सुख अथवा मोद और सर्वोच्च कोटि का प्रत्यक्ष या ज्ञान है। प्रत्येक आत्मा अधिक या कम अधी होकर सुख खोजती है, किन्तु वह जितना अधिक अधी होती है, उतना ही अधिक वर्तमान का सुख, यानी क्षणिक सुख, पाना चाहती है। उसके अधेपन या प्रत्यक्ष के गुफित होने का फल यह होता है कि वह परिस्थिति पर विचार नही करती, कि वह प्रकृति की गहराइयो और वस्तुओ के ससर्गों पर ध्यान नही देती और इस प्रकार स्वतन्त्रता, मोद, बुद्धिमत्ता की ओर जाने का सर्वोत्तम मार्ग पाने में असफल होती है। आत्मा की प्रवृत्ति सुख तक पहुँचने का छोटे-से छोटा मार्ग पकडना है, किन्तु जो रास्ता सबसे छोटा है वह अधी आत्माओ को घुमावदार मालूम होता है और वे अपना लक्ष्य प्राप्त करने में असफल हो जाती है। 'पत्थर सबसे सीधे रास्ते से जाता है, किन्तु सदैव ही पृथ्वी के केन्द्र की ओर जाने वाले सबसे अच्छे रास्ते से नही, क्योकि पहले से वह यह नही देख पाता कि वह चट्टानो से टकरायेगा जिन पर वह टूट जायेगा, जब कि वह अपने लक्ष्य के और समीप पहुँच जाता, यदि उसमें बुद्धि होती और किसी ओर मुड जाने के साधन। इसी प्रकार, सीधे प्रस्तुत सुख की ओर जाते हुए, कभी-कभी हम मुसीबत की नुकीली चोटी पर गिर पडते है।'[1] 'हमें उन पुरानी सूक्तियो को त्यागना न चाहिए कि सकल्प महत्तम शुभ का जिसे वह प्रत्यक्ष जानता है अनुसरण करता है और महत्तम

१ नवीन लेख, पु० २, अ० २१, §३६

अशुभ का तिरस्कार करता है। कि सर्वाधिक सत्य शुभ के लिए इतना कम प्रयत्न किये जाने का मुख्य कारण यह है कि जिन परिस्थितियो और जिन अवसरो पर इन्द्रियो का प्रभाव बहुत कम होता है, हमारे अधिकाश विचार, कहें कि, असवेद्य (अध विचार) होते हैं, या यह कहें कि वे प्रत्यक्ष और भावना से शून्य होते हैं और उनमें केवल प्रतीको से काम लिया जाता है, उन लोगो के काम की तरह जो समय-समय पर ज्यामितीय आकृतियो को बिना देखे हुए बीजगणित के आकलन करते हैं। इस प्रसग में शब्दो का प्राय वही कार्य होता है जो अकगणित या बीजगणित में प्रतीको का। प्राय हम शब्दो में युक्ति करते हैं, वस्तु शायद मन में बिलकुल नही रहती। पर, यह ज्ञान हमें आन्दोलित नही कर सकता किसी सजीव वस्तु की आवश्यकता होती है जिससे हम आन्दोलित हो। फिर भी लोग बहुधा इसी प्रकार ईश्वर के विषय में सोचते हैं, सद्गुण, सुख के विषय में, वे बिना मूर्त्त विचारो के ही कहते और सोचते हैं। यह नही कि वे इन विचारो को पा नही सकते, क्योकि वे अपने होश में रहते हैं। किन्तु वे अपने आपको अपने विचारो का विश्लेषण करने का कष्ट नही देते।"[1]

न्याय आत्म-प्रेम, मानव प्रेम तथा ईश्वर का प्रेम

अधिक या कम प्रबुद्ध आत्म-प्रेम हमारे सभी कर्मो का आधार है। और हमारा आत्म-प्रेम जितना अधिक प्रबुद्ध होता है, हमारे कर्मों का नैतिक मूल्य उतना ही अधिक होता है और उनके फल उतने ही अधिक अच्छे होते हैं। किन्तु हमारी आत्माएँ, दूसरे सभी चिद्बिन्दुओ की भाँति, मात्र आत्म-केन्द्रित अणु नही है, बल्कि सम्पूण विश्व को प्रतिबिम्बित करती हैं। अत, हमारा आत्म-प्रेम अपनी कोटि के अनुपात में दूसरो के प्रति प्रेम है। दूसरो को प्रेम करना उनके शुभ की कामना करना है, जैसे हम अपने शुभ की कामना करते है। और चूँकि हमारी आत्माओ का सार अन्य सभी आत्माओ का प्रतिबिम्बिन या प्रत्यक्ष करना है, हमारी अपने शुभ की कामना जितनी अधिक प्रबुद्ध होगी, उतना ही अधिक दूसरो के परम शुभ की प्राप्ति का मार्ग खोजते हुए हम ईश्वर के उद्देश्यो को पूरा करेंगे। हम

१ वही, पु० २, अ० २१, §३५

सचमुच दूसरो को प्यार कर सकते हैं, और अपना प्यार उन पर प्रकट कर सकते हैं, किन्तु उसी अनुपात में जिसमें हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि उनके हित में सर्वोत्तम क्या है । यह हमारे अस्तित्व के गठन से ही प्राप्त होता है । दूसरे शब्दो में, हम चाहे जितने अन्धे हो किन्तु अपनी पूर्णता का प्रयास करते हैं, और हम दूसरों के साथ इस प्रकार बँधे हुए है कि अपनी पूर्णता प्राप्त करने में दूसरो की पूर्णता प्राप्त करते है । इस प्रकार, हमारा आत्म-प्रेम जितना प्रवुद्ध होता है, उतना ही वह निष्काम होता जाता है और उतना ही ईश्वर के शुद्ध प्रेम के समीप होता जाता है ।

इससे यह प्राप्त होता है कि प्रेम ही विधि का मूल है । विधि केवल वाह्य व्यवस्था नही है, न स्वच्छन्द निर्देश, अथवा मात्र शक्ति की अभिव्यक्ति है । यह एक नैतिक वल है, और नैतिक का अर्थ जो एक भले आदमी के लिए स्वाभाविक हो । 'भला मनुष्य वह है जो सभी मनुष्यो से प्रेम करता हो, जहाँ तक युक्ति अनुमोदन करे । तदनुसार, न्याय (जो उस प्रेम का नियामक गुण है जिसे यूनानी लोग 'फिलेन्थ्रोपिया' कहते थे) की सवसे अधिक उपयुक्त परिभाषा, यदि मैं भूल नही कर रहा हूँ, वुद्धिमान् मनुष्य की दानशीलता के रूप में दी जायेगी, या कहें कि बुद्धि के नियमो के अनुसार दानशीलता   दानशीलता सार्वभौम उपकार है, और उपकार प्रेम करने का अभ्यास है ।'

इस प्रकार, मनुष्य की नैतिक उन्नति उस सत्य की ओर अग्रसर होना है जो ईश्वर में है, यह हमारी आत्मा में छिपे हुए ईश्वर के प्रतिविम्व को प्रवुद्ध होकर खोजना है, अथवा कहें कि आत्मा के रोचन द्वारा सदैव अधिक-से-अधिक स्पष्ट प्रत्यक्षो की ओर वढते जाना है । विण्डेलवैंड का कहना है कि लाइवनित्स के नीतिशास्त्र का यह पक्ष, जिसमें मानवतावादी नैतिक आदर्श की अभिव्यक्ति हुई है, जर्मनी के जागरूकता-काल की सामान्य विशेषता है । अट्ठारहवी शताब्दी की जर्मनी की दार्शनिक पुकार है   "अपने आपको प्रवुद्ध वना, और अपने साथियो के प्रवोध की चिन्ता कर   तव तुम सव सुखी होगे ।"

२. अन्य दार्शनिको से सम्बन्ध

आधुनिक काल का प्रारम्भ परम्पराओ के प्रति तीव्र असन्तोष की अनुभूति तथा उनसे वियुक्त होकर किसी नये पथ के अनुसन्धान की उत्कट इच्छा से हुआ। देकार्त को ही लीजिए। उसने पूर्ववर्त्ती दार्शनिको की चिन्तन पद्धतियो तथा उनके निष्कर्षो का तिरस्कार कर, अपने स्वतन्त्र चिन्तन द्वारा उचित दर्शन की स्थापना की प्रतिज्ञा की। उसका विचार था कि 'सरल मनुष्य' की जन्मजात बुद्धि उचित पद्धति के प्रयोग से पूर्णत विश्वसनीय ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम है। इस प्रकार सोचते हुए देकार्त्त ने चिन्तन के इतिहास से मुँह मोड लिया।[१] लाइबनित्स का

१ देकार्त्त 'प्रकृति के प्रकाश में सत्य की खोज' 'इस ग्रन्थ में मेरा उद्देश्य अपनी प्रकृति की सम्पत्ति को प्रकाश में लाना है, वह मार्ग प्रत्येक के लिए खोल कर जिससे वह, बिना किसी अन्य व्यक्ति से कुछ उधार लिये हुए, अपने आप में ही वह ज्ञान खोज ले जो उसके जीवन-यापन के लिए आवश्यक है और बाद में जिससे वह इस ज्ञान को अति दुरूह विज्ञानो पर, जिन्हें मानवीय बुद्धि प्राप्त कर सकती है, अधिकार पाने के लिए प्रयुक्त कर सके। मैं तुम्हें बताऊँ कि वह कार्य जिसकी मैं प्रतिज्ञा कर रहा हूँ उतना कठिन नहीं है जितना समझा जा सकता है। वस्तुत, ज्ञान की शाखाएँ, जो मानव मन की पहुँच के बाहर नहीं है, आपस में ऐसे विचित्र सूत्र द्वारा गुंथी हुई है और एक-दूसरे से इतनी पूर्ण अनिवार्यता के साथ निगमित की जा सकती है कि उन्हें खोज निकालने के लिए बहुत कला और कौशल की आवश्यकता नहीं बशर्ते कि हम सरलतम से प्रारम्भ कर जटिलतम की ओर धीरे-धीरे बढना सीख सकें। यहाँ पर यही मैं इतनी स्पष्ट और साधारण युक्तियों की शृखला द्वारा प्रदर्शित करना चाहता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति यह देखेगा कि यदि उसने उन्हीं वस्तुओ पर गौर नहीं किया है जैसा मैंने किया है, तो इसका कारण केवल यही है कि उसने ठीक दिशा में अपनी आँखें नहीं घुमायीं, न उन्हीं वस्तुओं पर विचार किया जिन पर मैंने विचार किया है, और यह कि इन वस्तुओं को मालूम कर लेने में मैं उस किसान से अधिक महत्ता का अधिकारी नहीं हूँ जो अकस्मात् अपने पैरो के नीचे एक छिपा हुआ पुराना खजाना पा जाता है जिसे खोजने की बडी कोशिश की जा चुकी थी मैं इसकी छान-बीन नहीं करूँगा कि दूसरों ने क्या

सचमुच दूसरो को प्यार कर सकते है, और अपना प्यार उन पर प्रकट कर सकते है, किन्तु उसी अनुपात में जिसमें हम स्पष्ट रूप से देख सकते है कि उनके हित में सर्वोत्तम क्या है। यह हमारे अस्तित्व के गठन से ही प्राप्त होता है। दूसरे शब्दो में, हम चाहे जितने अन्धे हो किन्तु अपनी पूर्णता का प्रयास करते है, और हम दूसरो के साथ इस प्रकार बँधे हुए है कि अपनी पूर्णता प्राप्त करने में दूसरो की पूर्णता प्राप्त करते है। इस प्रकार, हमारा आत्म-प्रेम जितना प्रवुद्ध होता है, उतना ही वह निष्काम होता जाता है और उतना ही ईश्वर के शुद्ध प्रेम के समीप होता जाता है।

इससे यह प्राप्त होता है कि प्रेम ही विधि का मूल है। विधि केवल वाह्य व्यवस्था नही है, न स्वच्छन्द निर्देश, अथवा मात्र शक्ति की अभिव्यक्ति है। यह एक नैतिक वल है, और नैतिक का अर्थ जो एक भले आदमी के लिए स्वाभाविक हो। 'भला मनुष्य वह है जो सभी मनुष्यो से प्रेम करता हो, जहाँ तक युक्ति अनुमोदन करे। तदनुसार, न्याय (जो उस प्रेम का नियामक गुण है जिसे यूनानी लोग 'फिलेन्थ्रोपिया' कहते थे) की सवसे अधिक उपयुक्त परिभाषा, यदि मैं भूल नही कर रहा हूँ, वुद्धिमान् मनुष्य की दानशीलता के रूप में दी जायेगी, या कहें कि वुद्धि के नियमो के अनुसार दानशीलता दानशीलता सार्वभौम उपकार है, और उपकार प्रेम करने का अभ्यास है।'

इस प्रकार, मनुष्य की नैतिक उन्नति उस सत्य की ओर अग्रसर होना है जो ईश्वर में है, यह हमारी आत्मा में छिपे हुए ईश्वर के प्रतिविम्व को प्रवुद्ध होकर खोजना है, अथवा कहें कि आत्मा के रोचन द्वारा सदैव अधिक-से-अधिक स्पष्ट प्रत्यक्षो की ओर वढते जाना है। विण्डेलवैंड का कहना है कि लाइवनित्स के नीतिशास्त्र का यह पक्ष, जिसमें मानवतावादी नैतिक आदर्श की अभिव्यक्ति हुई है, जर्मनी के जागरूकता-काल की सामान्य विशेपता है। अट्ठारहवी शताव्दी की जर्मनी की दार्शनिक पुकार है "अपने आपको प्रवुद्ध वना, और अपने साथियो के प्रवोध की चिन्ता कर तव तुम सव सुखी होगे।"

२. अन्य दार्शनिको से सम्बन्ध

आधुनिक काल का प्रारम्भ परम्पराओ के प्रति तीव्र असन्तोष की अनुभूति तथा उनसे वियुक्त होकर किसी नये पथ के अनुसन्धान की उत्कट इच्छा से हुआ। देकार्त को ही लीजिए। उसने पूर्ववर्ती दार्शनिको की चिन्तन पद्धतियो तथा उनके निष्कर्षो का तिरस्कार कर, अपने स्वतन्त्र चिन्तन द्वारा उचित दर्शन की स्थापना की प्रतिज्ञा की। उसका विचार था कि 'सरल मनुष्य' की जन्मजात बुद्धि उचित पद्धति के प्रयोग से पूर्णत विश्वसनीय ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम है। इस प्रकार सोचते हुए देकार्त ने चिन्तन के इतिहास से मुँह मोड लिया।[1] लाइबनित्स का

१ देकार्त 'प्रकृति के प्रकाश में सत्य की खोज' 'इस ग्रन्थ में मेरा उद्देश्य अपनी प्रकृति की सम्पत्ति को प्रकाश में लाना है, वह मार्ग प्रत्येक के लिए खोल कर जिससे वह, बिना किसी अन्य व्यक्ति से कुछ उधार लिये हुए, अपने आप में ही वह ज्ञान खोज ले जो उसके जीवन-यापन के लिए आवश्यक है और बाद में जिससे वह इस ज्ञान को अति दुरूह विज्ञानो पर, जिन्हें मानवीय बुद्धि प्राप्त कर सकती है, अधिकार पाने के लिए प्रयुक्त कर सके। 'मै तुम्हें बताऊँ कि वह कार्य जिसकी मैं प्रतिज्ञा कर रहा हूँ उतना कठिन नहीं है जितना समझा जा सकता है। वस्तुत, ज्ञान की शाखाएँ, जो मानव मन की पहुँच के बाहर नहीं हैं, आपस में ऐसे विचित्र सूत्र द्वारा गुँथी हुई है और एक-दूसरे से इतनी पूर्ण अनिवार्यता के साथ निगमित की जा सकती हैं कि उन्हें खोज निकालने के लिए बहुत कला और कौशल की आवश्यकता नहीं बशर्ते कि हम सरलतम से प्रारम्भ कर जटिलतम की ओर धीरे-धीरे बढना सीख सकें। यहाँ पर यही मै इतनी स्पष्ट और साधारण युक्तियो की शृखला द्वारा प्रदर्शित करना चाहता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति यह देखेगा कि यदि उसने उन्हीं वस्तुओं पर ग़ौर नहीं किया है जैसा मैने किया है, तो इसका कारण केवल यही है कि उसने ठीक दिशा में अपनी आँखें नहीं घुमायीं, न उन्हीं वस्तुओ पर विचार किया जिन पर मैंने विचार किया है, और यह कि इन वस्तुओं को मालूम कर लेने में मैं उस किसान से अधिक महत्ता का अधिकारी नहीं हूँ जो अकस्मात् अपने पैरों के नीचे एक छिपा हुआ पुराना खजाना पा जाता है जिसे खोजने की बडी कोशिश की जा चुकी थी मैं इसकी छान-बीन नहीं करूँगा कि दूसरों ने क्या

दृष्टिकोण न तो पूर्णत इतिहास-पोषक है और न अन्य आधुनिक दार्शनिको की भाँति पूर्णत सम्प्रदायवाद का विरोधी ही । लाइवनित्स की चिन्तन शैली सर्वत्र

जाना या क्या नहीं जान पाया है । इतना ही पर्याप्त है कि यद्यपि जितने ज्ञान की हमें चाह हो सकती है वह सव पुस्तको में मिल सकता है, फिर भी उनमें जो कुछ काम का है वहुत-सी वेकार सामग्री के साथ मिला हुआ है और वडी-वडी जिल्दों में इस प्रकार विखरा हुआ है कि जिन्दगी उस सवको पढ़ने के लिए काफी नहीं है, और उसमें से काम की चीजो को खोज लेने के लिए अपने आप सोचने की अपेक्षा अधिक योग्यता चाहिए। इसलिए मुझे उम्मीद है कि यहाँ एक छोटा मार्ग पाकर पाठक अप्रसन्न न होगा और यह कि उसे वे सत्य जिन्हें मैं प्रस्तुत करूँगा स्वीकार्य होगे, यद्यपि मैं उन्हें अफलातून या अरस्तू से उधार नहीं ले रहा हूँ, केवल इसलिए प्रस्तुत कर रहा हूँ कि उनमें मूल्य है, ठीक उसी तरह जैसे धन, चाहे वह किसान की थैली से आया हो या सरकारी खजाने से ।' ह्यू एट का कथन है कि देकार्त्त ने प्राचीन तथा आधुनिक दार्शनिको के ग्रन्थो को भलीभाँति पढ़ा था, किन्तु वह उनसे अनभिज्ञ वना, जिससे उसे अपने मत का स्वतन्त्र आविष्कारक समझा जाय । उसके शिष्यों ने उसकी वनावटी अनभिज्ञता को सत्य समझ कर वस्तुत अपनाने का प्रयत्न किया। देकार्त्त ने स्वय अपनी स्थिति इस प्रकार स्पष्ट की है 'हम कभी गणितज्ञ नहीं हो सकते, चाहे दूसरे लोगो के सभी प्रदर्शनों को हृदय से याद कर लें, जव तक हम अपने आप सभी समस्याओं के हल न दे सकें। उसी तरह, हम तून और अरस्तू की सभी युक्तियो को पढ़ लें, उससे हम दार्शनिक नहीं वन जायेंगे, यदि हम किसी प्रश्न पर कोई स्थिर निर्णय नहीं दे सकते । ऐसी दशा में हमने वस्तुत कोई विज्ञान नहीं इतिहास ही पढ़ा होगा । (देकार्त्त के सम्पूर्ण ग्रन्थ, कौज़िन का सस्करण, भाग ११, पृ० २११) और 'अपने विषय के अध्ययन के प्रसग में हमें यह नहीं खोजना चाहिए कि दूसरों ने क्या सोचा है अथवा हम क्या सोच सकते हैं, वल्कि हम स्पष्ट व्यक्त रूप में क्या पाते हैं, अथवा निश्चयपूर्वक क्या हम निगमित कर सकते हैं । उचित ज्ञान प्राप्त करने का यही एक तरीका है ।' (वही, पृ०

निरपेक्ष विभाजन पद्धति के विरुद्ध है। चिन्तन का विकास खण्डो में नही होता। सभी इतिहासो की भाँति, चिन्तन के इतिहास में 'वर्त्तमान भूत से बोझिल और भविष्य से परिपूर्ण होता है।' लाइबनित्स के मत में सम्प्रदायवादी गलत हो सकते है, किन्तु बिलकुल गलत नही। और आधुनिक विचारक सही हो सकते हैं, किन्तु सर्वत्र सही ही सही नही है। भूत के विचारो को पूरी तरह मिटा नही दिया जा सकता, क्योकि भूत से ही वर्तमान निकला है। एक के बिना दूसरे को समझा नही जा सकता। लाइबनित्स बचपन से ही बहुत अच्छा पाठक था। उसके विस्तृत अध्ययन ने कल्पना की उडान को श्रद्धा एव सतर्कता का नियन्त्रण दिया था। इसीलिए उसका दर्शन प्राय परिकल्पना या सुझाव का रूप लेता है, किसी विश्वास अथवा प्रदर्शन का नही। इमैनुएल कान्ट ने उसके दर्शन को 'आलोचनात्मक' नही 'विश्वासमूलक' घोषित किया था। किन्तु, उसका दर्शन बहुत अशो में 'आलोचनात्मक दर्शन' का पूर्वाभास है। एक विचारक की हैसियत से उसे वह सभी कुछ मालूम था जो उससे पहले सोचा गया था, किन्तु पूर्ववर्ती विचारको ने जिसे हिचकिचाते हुए कहा था उसे उसने बहुत ही स्पष्ट कहने का प्रयास किया। लाइबनित्स के अध्येताओ ने, इसी विशेषता के कारण, उसे 'मिश्रमतावलम्बी' ठहराया है और इससे उसकी प्रसिद्धि को बहुत धक्का लगा है। वस्तुत, उसके चिन्तन में मौलिकता की कमी नही है। अन्य मतो का प्रभाव अवश्य दिखाई देता है, पर इसलिए कि वह देकार्त के अनुयायियो की भाँति पूर्ववर्त्ती चिन्तन का तिरस्कार नही करता। उसे अपनी परिकल्पनाओ के मूल्य का पूरा विश्वास था, किन्तु वह पूर्ववर्त्ती दार्शनिको के ऋण में गौरव मानता था, दार्शनिको की परम्परा में सम्मिलित होने में सुख का अनुभव करता था। 'न जाने क्यो ऐसा होता है कि दूसरो के विचार मुझे प्राय नापसन्द नही होते, और मैं उन सबकी प्रशसा करता हूँ, किन्तु विभिन्न अशो में।'[1] और 'उन लोगो से होशियार रहने में, जो बहुधा महत्त्वा-

२०६) देकार्त्त इतिहास के अध्ययन के विरुद्ध नहीं है, पर ज्ञान अन्य मतों के अध्ययन से प्राप्त सूझ है, केवल मतों की जानकारी नहीं।

१ गतिशास्त्र का नमूना, १६६५

काक्षावश कुछ नया देने का दावा करते है, उतनी ही वुद्धिमानी है या उससे भी अधिक जितनी पुराने सस्कारो का अविश्वास करने में। और पुराने तथा नये दोनो प्रकार के विचारो के विषय में वहुत चिन्तन करने के वाद मै इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि प्राप्त विचारो में से अधिकाश को सही अर्थ में लिया जा सकता है। फलत मै चाहता हूँ कि चतुर लोग निर्माण तथा उन्नति द्वारा अपनी महत्त्वाकाक्षा को सन्तुष्ट करें वनिस्वत पीछे जाकर तोडफोड करने के।"[१] अपने दर्शन के सम्वन्ध में कहता है 'यह दर्शन अफलातून को देमोक्रितस से, अरिस्तूतल् को देकार्त्त से, आचार्यो को आधुनिको से, धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र को युक्ति से मिलाता हुआ प्रतीत होता है। लगता है कि यह चारो ओर से जो कुछ सर्वोत्तम है उसे ले लेता है और फिर उतना आगे वढ जाता है जितना कि अभी तक कोई नही गया। मुझे अव दिखाई देता है कि अफलातून का क्या अर्थ था जव उसने पदार्थ को एक अपूर्ण एव क्षणिक वस्तु माना, अरस्तू का अपनी चेतन सत्ता से क्या अभिप्राय था, वह दूसरे जीवन की प्रतिज्ञा क्या है, जिसे प्लिनी के अनुसार, स्वय देमोक्रितस ने प्रस्तुत किया था, सन्देहवादी इन्द्रियो के विरुद्ध चिल्लाने में कहाँ तक सही थे, जन्तु, जैसा देकार्त्त ने कहा, स्वचालित यन्त्र किस प्रकार है, और साथ ही, जैसा लोग सोचते है, उनमें आत्माएँ एव सवेदनाएँ होती है, किस प्रकार उन लोगो के मतो की युक्तियुक्त व्याख्या की जा सकती है जो सभी वस्तुओ पर जीवन का आरोप करते है—कार्दन, कैम्पानेल्ला-जैसे लोग, (और इनसे भी श्रेष्ठ) कावे की स्वर्गीय काउन्टेस (एक अफलातूनवादी), और हमारे मित्र, स्वर्गीय एम० फ्रैकॉइ मर्क्योर वान हेल्मॉन्ट (यद्यपि अन्य प्रसगो में अवोधगम्य विरोधाभासो से चुभते हुए) तथा उनके मित्र, स्वर्गीय मि० हेनरी मोर।"[२]

१ नवीन लेख, पु० १, अ० २, §२१

२ पता नहीं लाइवनित्स ने इस सूची में स्पिनोजा का नाम क्यों नहीं जोडा। उसने भी अपनी नीतिशास्त्र पुस्तक में लिखा है कि 'सभी व्यष्टि पिण्ड जीवित हैं, यद्यपि विभिन्न अशो में।' लाइवनित्स ने वास्नेज को लिखे हुए पत्र (१६९८) में भी तमाम दार्शनिकों की वैचारिक एकता का सकेत किया है 'जव हम वस्तुओं

देकार्त्त ने अपने विचारो का अधिकाश प्राचीन दार्शनिको से प्राप्त किया था। ऐसी दशा में लाइबनित्स कहता कि तब उनका आभार स्वीकार कर, हम क्यो न अपने आपको ऐसी स्थिति में रखें कि उनके अपेक्षित विचारो से लाभ उठा कर अपने मतो में सुधार करें जिससे चिन्तन का इतिहास आगे बढ सके। इतिहास के आधार पर उन्नति की योजना मन को नियन्त्रित करती है। लाइबनित्स के साथ यही हुआ। आधुनिक यान्त्रिक दर्शन के मूल्य को स्वीकारते हुए भी वह उसकी त्रुटियो से अवगत था। इसलिए वह मध्यकाल की ओर मुडा और यूनानी दर्शन में उसकी जडें खोजी, जिससे वह 'कीचड से सोना निकाल कर' एक अधिक युक्त दर्शन का निर्माण कर सके। उसके एक अध्येता डिलमैन का कहना है कि लाइबनित्स को ठीक-ठीक समझने के लिए यह स्मरण रखना चाहिए कि उसका मुख्य प्रयत्न वस्तुओ के प्रति आधुनिक यान्त्रिक दृष्टि का प्राचीन दार्शनिको के 'द्रव्यात्मक आकारो' के मत के साथ समन्वय करना था। किन्तु, इसमें इतना और जोडने की आवश्यकता है कि इस समन्वय में उसने कुछ नये का निर्माण किया है, दो बेमेल विचारो को एक में नही जोड दिया है।

की गहराई में जाते हैं, तो दार्शनिको के सम्प्रदायो में इतनी अधिक युक्ति पाते हैं कि विश्वास नहीं होगा। सदेहवादियों के अनुसार ऐन्द्रिक वस्तुओ में सत्य की कमी, पाइथागोरस और अफलातून का सभी वस्तुओ का सगतियो, सख्याओ, विचारों और प्रत्यक्षो में घटाना, "एक" और पार्मेनाइदिस तथा प्लातिनस का सम्पूर्ण एक, बिना किसी स्पिनोजावाद के, कब्बालियों और हर्मेतियों का जीवनीय दर्शन, जो सभी वस्तुओं में सवेदना का आरोप करते हैं, अरस्तू और आचार्यों के आकार तथा चेतन सत्ताएं, और दूसरी ओर देमोक्रितस और आधुनिको के अनुसार सभी विशिष्ट घटनाओं की यान्त्रिक व्याख्या—ये सब जैसे एक ही परिप्रेक्ष्य के केन्द्र से जुडे हों, जहां से देखने पर प्रेक्ष्य वस्तु (जो सभी दूसरे दृष्टिबिन्दुओ से गुम्फित प्रतीत होती है) अपनी नियमितता तथा अपने भागो की सगति प्रदर्शित करती है। अपनी साम्प्रदायिक दृष्टि के कारण हम इस कार्य में असफल रहे, अपने आपको सीमित करने और दूसरों का तिरस्कार करने के कारण।' लाइबनित्स की कृतियों में इस प्रकार के विचार भरे पडे हैं। वह बहुत बडा समन्वयवादी था।

देकार्त्त और गैस्सेन्दी ने प्रकृति की यान्त्रिक व्याख्या के पक्ष में 'द्रव्यात्मक आकारो' का निपेध किया था, किन्तु, कालान्तर में अरम्तवी दर्शन का एक विकास यह भी हुआ था कि प्राकृतिक घटनाओ की 'द्रव्यात्मक आकारो' के सन्दर्भ में व्याख्या की जाय। अरस्तू के मत में सभी घटनाओ या विगिप्ट वस्तुओ की व्याख्या गत्यात्मक तत्त्वो के आधार पर अपेक्षित थी और इन तत्त्वो को वम्तुओ से वाह्य नही, वल्कि उनमें व्याप्त समझना आवग्यक था। इस व्याख्या का उचित अर्थ न समझने पर यह नियम प्राप्त किया गया कि 'किसी भी प्रकार का तत्त्व या आकार खोज लो।' इस प्रकार, 'द्रव्यात्मक आकारो' या द्रव्य के तत्त्वो की अनिग्चित रूप में वृद्धि हुई और द्रव्य के सूक्ष्मतम परिवर्तनो को 'आकस्मिक आकार' या आकस्मिकता के तत्त्व से समझाया गया। किमी प्रकार के 'आकार' का सकेत कर देना ही पर्याप्त व्याख्या वन गया। यहाँ तक कि यदि किसी घटना के मम्वन्ध में कुछ भी जानकारी न हुई तो किसी गूढ तत्त्व ('ओकल्ट क्वालिटी') को उसे उत्पन्न करने का श्रेय देकर काम चला लिया गया। उदाहरण के लिए, टोलेटस (एक स्पेनी धर्माचार्य) वहुत ही मूल्यवान् तथ्य वताता है कि 'अग्नि का द्रव्यात्मक आकार एक मक्रिय तत्त्व है जिमके द्वारा अग्नि, उष्णता के साधन का उपयोग कर, अग्नि को उत्पन्न करती है।' अग्नि की उत्पत्ति की यह कितनी निरर्थक व्याख्या है।

इस सन्दर्भ में हम देकार्त्त के इतिहास-विरोधी दृष्टिकोण को भली-भाँति समझ सकते है। व्याख्या वोधगम्य न हुई तो व्याख्या कैमी? सत्यता और निश्चयात्मकता वही मिल सकती है जहाँ स्पप्टता और पृथक्ता हो। अत, देकार्त्त ने तय किया कि इन गूढ तत्त्वो और समझ में न आने वाले आकारो को जो अज्ञान को ढकने के पर्दे है एक वगल करना चाहिए। उचित व्याख्या में अवोधगम्य कल्पनाएँ और अटकलें नही अपेक्षित है। उसमें वस्तुओ के अनिवार्य सम्वन्धो, अथवा उनके वीच निश्चित रूप में माप्य सम्वन्धो का कथन होना चाहिए। और वे मम्वन्ध इम प्रकार के होने चाहिए कि वुद्धि उन्हें स्पष्ट रूप में ग्रहण कर सके। सक्षेपत, व्याख्या का यही यान्त्रिक रूप है, जिमे देकार्त्त और उमके अनुयायियो ने, मध्यकालीन आचार्य शैली की व्याख्या के विरुद्ध अपनाया।

लाइवनित्स स्पष्ट और पृथक् से उतना प्रभावित न था जितना देकार्त्त। वह समझता था कि देकार्त्त अपने सुधारवादी उत्साह में गन्तव्य से आगे निकल

गया था। इसमें सन्देह नही कि मध्यकालीन आचार्यों ने अपनी व्याख्याओ को निरर्थक की सीमा तक पहुँचा दिया था, किन्तु यदि हम चाहें कि हमारी व्याख्याओ में सम्पूर्णत पूर्ण बोधगम्यता हो तो हमें बहुत-सी वस्तुओ को बिना व्याख्या किये हुए छोड देना पडेगा और हमारा विज्ञान बहुत ही सीमित एव अमूर्त्त रह जायगा। क्योंकि देकार्त्त के अनुसार पूर्ण बोधगम्य, स्पष्ट और पृथक् तभी माना जा सकता है, जब व्याख्या कोई स्वयसिद्ध सत्य हो, या तर्क पद्धति से इस प्रकार के सत्य में घटित की जा सकती हो। लाइवनित्स के अनुसार विचारो या अनुचयो ('सम्भव' वस्तुओ) की व्याख्या इस रूप में भले ही की जा सके, किन्तु किसी वास्तविक रूप में स्थित ससीम वस्तु, अथवा घटना की व्याख्या इस प्रकार नही की जा सकती। हम 'स्पष्ट और पृथक्' रूप में समझा सकते हैं कि अमुक वस्तु कैसे सम्भव है, किन्तु 'स्पष्ट और पृथक्' रूप में यह नही बता सकते कि अमुक वस्तु का अस्तित्त्व क्यो है। अस्तित्त्व के पक्ष में कोई निरपेक्ष युक्ति नही दी जा सकती, हमें केवल पर्याप्त युक्ति से सन्तोप करना पडेगा। माध्य सम्बन्धो या वस्तुओ के ससर्गों की खोज उनके स्वभाव का पूर्ण विवरण नही दे सकती। ये सम्बन्ध या ससर्ग ज्ञान की दृष्टि से मूल्यवान् हैं, किन्तु मात्र इन्ही का ज्ञान वस्तुओ का पूर्ण ज्ञान नही है। इसे अन्य विचारो द्वारा पूरा करना आवश्यक है। वस्तुओ की असीम जटिलता के कारण उनका पूर्ण विश्लेषण सम्भव नही। फलत, यदि हम अपने अध्ययन को केवल गणितीय पद्धति तक सीमित रखते हैं, तो हमारा विज्ञान केवल अमूर्त्त वस्तुओ का विज्ञान होगा, वास्तविक अस्तित्त्वो का नही हो सकेगा।

इससे स्पष्ट है कि लाइवनित्स ने आभासो या घटनाओ की व्याख्या के निमित्त, इन घटनाओ या आभासो को अपनी वास्तविकताओ का अनुचय मानते हुए, यान्त्रिक दृष्टि का मूल्य स्वीकार किया, किन्तु वास्तविकताओ की व्याख्या के लिए, वह प्राचीन दर्शन की ओर जाता है। देकार्त्त ने आकारो का जगल, जिससे किसी चीज की व्याख्या नही होती थी, साफ कर दर्शन का बहुत उपकार किया। प्रकृति के परिवर्तनो को गति की एक स्थिर मात्रा के विभाजन के परिवर्तन मानना भी अच्छी सूझबूझ थी। किन्तु, गति तत्त्व में इतनी गहराई नही कि उससे वास्तविकता की पूर्ण व्याख्या की जा सके। गति पूर्णत व्यक्त, आभासमान एव सतही है।

इसलिए, उससे आधे ढके हुए सत्य को, जो आता और जाता रहता है, जो सामर्थ्य से वास्तविकता में परिणत होता रहता है, नही समझाया जा सकता । और यह प्रत्येक सत्य वस्तु की, प्रत्येक सम्पूर्ण वस्तु की विशेपता है । जहाँ तक वह स्थित है, मात्र सम्भव नही है, उसने अस्तित्त्व में प्रवेश कर लिया है, सामर्थ्य से वास्तविकता में आ जाना उसका स्वभाव है । इस स्वभाव का सवसे अच्छा उदाहरण मानवीय आत्मा में मिलता है । जहाँ हमें एकता और आत्मतादात्म्य के साथ निरन्तर प्रक्रिया उपलब्ध होती है । इस प्रकार, लाइवनित्स इस विचार पर पहुँचता है कि सत्य वस्तुओ, अथवा द्रव्यो को मानवीय आत्मा के समकक्ष, यानी परवर्ती आचार्यो के अर्थ से गहरे अर्थ में आकार या जीवित तत्त्व समझना चाहिए । आचार्यों ने 'आकार' में से द्रव्य निकाल दिया था, मात्र आकार से वस्तुओ की व्याख्या कर रहे थे । अत, लाइवनित्स ने यूनानी दर्शन में जाकर अरस्तू की चेतन सत्ता ('एन्तेलेखिया') में वह तत्त्व पाया जो वस्तु में व्याप्त पूर्णता, अथवा उसके अन्तिम रूप की सम्भावना है । इस प्रकार, लाइवनित्स कार्त्तीय भौतिकी का पूरक विचार प्रस्तुत करता है कि मात्र पिण्ड या पदार्थ एक अनुचय है, जिसका कही अस्तित्त्व नही, और यह कि प्रत्येक वास्तविक अस्तित्त्व में एक आत्मा या जीवित तत्त्व होता है । फलत, लाइवनित्स की चिद्विन्दु विद्या दर्शन को, नये वल एव अर्थ-सहित, अरस्तवी दर्शन के असीम सख्या वाले आकार वापस कर देता है ।

अणुवादी दर्शन से लाइवनित्स का सम्वन्ध बहुत कुछ निपेधात्मक है। पूर्णत रिक्त स्थान को अस्वीकार करने में वह आधुनिक विज्ञान की ओर था। कभी-कभी वह अपने चिद्विन्दु विद्या को अणु कह देता है, किन्तु ऐसा करने में शायद उसका अभिप्राय यह सकेत करना था कि अणुवादी जिसे अन्धेरे में खोज रहे थे वही चिद्विन्दु विद्या में स्पप्ट है । इस प्रसग में उसका मुख्य विचार यह है कि वास्तविक पूर्ण में वास्तविक इकाई पूर्वकल्पित है, या कहें कि ऐसी इकाई जो पूर्ण से सारत सम्वद्ध है, उसकी प्रतिनिधि है, केवल आकस्मिक या अनिश्चित रूप में सम्वन्धित नही है । लाइवनित्स के अनुसार, अणुवादियो का वास्तविक इकाई पर वल देना उचित था, किन्तु ऐसी इकाई पाना कठिन है, जो उनके सत्य या वास्तविकता के विचार से सगत हो ।

लाइबनित्स की 'पर्याप्त युक्ति' देकार्त्त तथा स्पिनोज़ा का 'कारण'

सम्भवत लाइबनित्स ने सोचा न होगा कि अपने पर्याप्त युक्ति के नियम को वह जिस रूप में प्रयुक्त कर रहा था उसे देकार्त्त और स्पिनोज़ा के कारण के एक अन्तर्भाव का ही विकास माना जा सकता था। ऊपर हम देख चुके है कि देकार्त्त ने विरोध के नियम के निर्देशो के अनुसार अपने दर्शन की स्थापना की थी। किन्तु शुद्ध अहम् की आत्मगतता से वस्तुगत वाह्य सत्ता की ओर जाने के लिए वह एक अन्य नियम की आवश्यकता समझता है कि प्रत्येक परिणाम के उत्पन्न होने के लिए एक निमित्त कारण की आवश्यकता है, जो कम-से-कम उतना सत्य तो अवश्य ही हो जितना कि परिणाम, अधिक भी हो सकता है, किन्तु कम नही। इस नियम को वह यौक्तिक प्रदर्शन के विना ही मान लेता है। देकार्त्त के दर्शन में यही नियम प्रथमत ईश्वर के अस्तित्व के और फिर वाह्य जगत् के अस्तित्व के प्रमाणो का वास्तविक आधार है। ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण ही उसके दर्शन की कसौटी हैं। वे विरोध के नियम पर आधारित तर्क-पद्धति की अनिवार्य अपूर्णताओ के पूरक हैं। चूकि देकार्त्त मन और पदाथ अथवा चिन्तन और वाह्य जगत् के द्वैत को नकारने के लिए तैयार न था, वह पूर्ण सत्ता के विचार को भी पर्याप्त न मान सका। उसके लिए आवश्यक हो गया कि इस विचार या उस विचार से आगे बढ कर चिन्तन के सत्य की व्याख्या करे। 'स्पष्टता' और 'पृथक्ता' में उसे विचारो का वह गुण मिल गया था जिसके सहारे चिन्तन की आत्म-सगति पहचानी जा सकती थी। किसी स्पष्ट एव पृथक् विचार से चिन्तन को पूर्ण सन्तोप प्राप्त होता है, किन्तु यह दिखाना आवश्यक है कि इस प्रकार के विचार में वस्तुगत (जो स्वय चिन्तन द्वारा कल्पित न हो) प्रामाणिकता होती है, अथवा यह कि स्पष्ट और पृथक् विचार द्वारा प्रस्तुत सत्य का वास्तविक अस्तित्त्व होता है। यहाँ पर देकार्त्त कहता है कि वस्तुत अस्तित्त्ववान् ईश्वर की सत्यमयता, दृढता तथा शुभता (विना इन गुणो के वह पूर्ण न होता) ही हमारे स्पष्ट तथा पृथक् विचारो की सत्यता को प्रमाणित करती है। 'हमारा नियम, जिसे हमनें आदेश मान लिया है, यानी कि सभी वस्तुएँ, जिनका हम स्पष्ट और पृथक् प्रत्ययन करते है, सत्य है, इसलिए निश्चय कराता है कि ईश्वर है, या उसका अस्तित्त्व है, और इसलिए कि वह पूर्ण सत्ता है, और इसलिए कि हमारे पास जो कुछ (ज्ञान) है उसी से प्राप्त हुआ है 'यदि हम

इसलिए, उससे आधे ढके हुए सत्य को, जो आता और जाता रहता है, जो सामर्थ्य से वास्तविकता में परिणत होता रहता है, नही समझाया जा सकता। और यह प्रत्येक सत्य वस्तु की, प्रत्येक सम्पूर्ण वस्तु की विशेपता है। जहाँ तक वह स्थित है, मात्र सम्भव नही है, उसने अस्तित्त्व में प्रवेश कर लिया है, सामर्थ्य से वास्तविकता में आ जाना उसका स्वभाव है। इस स्वभाव का सवसे अच्छा उदाहरण मानवीय आत्मा में मिलता है। जहाँ हमें एकता और आत्मतादात्म्य के साथ निरन्तर प्रक्रिया उपलव्ध होती है। इस प्रकार, लाइवनित्स इस विचार पर पहुँचता है कि सत्य वस्तुओ, अथवा द्रव्यो को मानवीय आत्मा के समकक्ष, यानी परवर्ती आचार्यों के अर्थ से गहरे अर्थ में आकार या जीवित तत्त्व समझना चाहिए। आचार्यों ने 'आकार' में से द्रव्य निकाल दिया था, मात्र आकार से वस्तुओ की व्याख्या कर रहे थे। अत, लाइवनित्स ने यूनानी दर्शन में जाकर अरस्तू की चेतन सत्ता ('एन्तेलेखिया') में वह तत्त्व पाया जो वस्तु में व्याप्त पूर्णता, अथवा उसके अन्तिम रूप की सम्भावना है। इस प्रकार, लाइवनित्स कार्त्तीय भौतिकी का पूरक विचार प्रस्तुत करता है कि मात्र पिण्ड या पदार्थ एक अनुचय है, जिसका कही अस्तित्त्व नही, और यह कि प्रत्येक वास्तविक अस्तित्त्व में एक आत्मा या जीवित तत्त्व होता है। फलत, लाइवनित्स की चिद्‌विन्दु विद्या दर्शन को, नये वल एव अर्थ-सहित, अरस्तवी दर्शन के असीम सख्या वाले आकार वापस कर देता है।

अणुवादी दर्शन से लाइवनित्स का सम्वन्ध वहुत कुछ निपेधात्मक है। पूर्णत रिक्त स्थान को अस्वीकार करने में वह आधुनिक विज्ञान की ओर था। कभी-कभी वह अपने चिद्‌विन्दु विद्या को अणु कह देता है, किन्तु ऐसा करने में शायद उसका अभिप्राय यह सकेत करना था कि अणुवादी जिसे अन्धेरे में खोज रहे थे वही चिद्‌विन्दु विद्या में स्पष्ट है। इस प्रसग में उसका मुख्य विचार यह है कि वास्तविक पूर्ण में वास्तविक इकाई पूर्वकल्पित है, या कहें कि ऐसी इकाई जो पूर्ण से सारत सम्वद्ध है, उसकी प्रतिनिधि है, केवल आकस्मिक या अनिश्चित रूप में सम्वन्धित नही है। लाइवनित्स के अनुसार, अणुवादियो का वास्तविक इकाई पर वल देना उचित था, किन्तु ऐसी इकाई पाना कठिन है, जो उनके सत्य या वास्तविकता के विचार से सगत हो।

लाइबनित्स की 'पर्याप्त युक्ति' देकार्त्त तथा स्पिनोज़ा का 'कारण'

सम्भवत लाइबनित्स ने सोचा न होगा कि अपने पर्याप्त युक्ति के नियम को वह जिस रूप में प्रयुक्त कर रहा था उसे देकार्त्त और स्पिनोज़ा के कारण के एक अन्तर्भाव का ही विकास माना जा सकता था। ऊपर हम देख चुके है कि देकार्त्त ने विरोध के नियम के निर्देशो के अनुसार अपने दर्शन की स्थापना की थी। किन्तु शुद्ध अहम् की आत्मगतता से वस्तुगत बाह्य सत्ता की ओर जाने के लिए वह एक अन्य नियम की आवश्यकता समझता है कि प्रत्येक परिणाम के उत्पन्न होने के लिए एक निमित्त कारण की आवश्यकता है, जो कम-से-कम उतना सत्य तो अवश्य ही हो जितना कि परिणाम, अधिक भी हो सकता है, किन्तु कम नही। इस नियम को वह यौक्तिक प्रदर्शन के बिना ही मान लेता है। देकार्त्त के दर्शन में यही नियम प्रथमत ईश्वर के अस्तित्व के और फिर बाह्य जगत् के अस्तित्व के प्रमाणो का वास्तविक आधार है। ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण ही उसके दर्शन की कसौटी हैं। वे विरोध के नियम पर आधारित तर्क-पद्धति की अनिवार्य अपूर्णताओ के पूरक हैं। चूकि देकार्त्त मन और पदार्थ अथवा चिन्तन और बाह्य जगत् के द्वैत को नकारने के लिए तैयार न था, वह पूर्ण सत्ता के विचार को भी पर्याप्त न मान सका। उसके लिए आवश्यक हो गया कि इस विचार या उस विचार से आगे बढ कर चिन्तन के सत्य की व्याख्या करे। 'स्पष्टता' और 'पृथक्ता' में उसे विचारो का वह गुण मिल गया था जिसके सहारे चिन्तन की आत्म-सगति पहचानी जा सकती थी। किसी स्पष्ट एव पृथक् विचार से चिन्तन को पूर्ण सन्तोष प्राप्त होता है, किन्तु यह दिखाना आवश्यक है कि इस प्रकार के विचार में वस्तुगत (जो स्वय चिन्तन द्वारा कल्पित न हो) प्रामाणिकता होती है, अथवा यह कि स्पष्ट और पृथक् विचार द्वारा प्रस्तुत सत्य का वास्तविक अस्तित्व होता है। यहाँ पर देकार्त्त कहता है कि वस्तुत अस्तित्ववान् ईश्वर की सत्यमयता, दृढता तथा शुभता (बिना इन गुणो के वह पूर्ण न होता) ही हमारे स्पष्ट तथा पृथक् विचारो की सत्यता को प्रमाणित करती है। 'हमारा नियम, जिसे हमने आदेश मान लिया है, यानी कि सभी वस्तुएँ, जिनका हम स्पष्ट और पृथक् प्रत्ययन करते है, सत्य है, इसलिए निश्चय कराता है कि ईश्वर है, या उसका अस्तित्व है, और इसलिए कि वह पूर्ण सत्ता है, और इसलिए कि हमारे पास जो कुछ (ज्ञान) है उसी से प्राप्त हुआ है यदि हम

यह न जानते कि वास्तविक और सत्य का जो कुछ हमारे अधिकार मे है एक पू० और असीम सत्ता से उपजता है, तो हमारे विचार चाहे जितने स्पष्ट और पृथक होते, किन्तु हमारे पास केवल इसी कारण यह विश्वास करने का कोई आधार न होता कि उनमें सत्य होने के लिए अपेक्षित पूर्णता है ।'[1] देकार्त्त के दर्शन में, वास्तविक अस्तित्त्व की समस्या को लेकर जो कुछ भी कहा गया है, अन्ततोगत्वा इसी कारण-सम्बन्धी नियम पर टिकता है जिनकी व्याख्या नही की गयी है, किन्तु जिसे वह पहले ईश्वर का अस्तित्त्व सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त करता है और फिर उसीसे जगत् का सत्य प्रमाणित करता है। ईश्वर का अस्तित्त्व असदिग्ध है, क्योकि ऐसा न होने पर मन में स्थित ईश्वर के विचार का कोई भी कारण न होता। और हमें बाह्य वस्तुओ के वास्तविक अस्तित्त्व को भी कुछ विचारो के कारण के रूप में स्वीकार करना है, नही तो यह मानना होगा कि ईश्वर हमें छलता है ।[2]

स्पिनोज़ा अपने एक द्रव्य को, जो ईश्वर है, निरपेक्षत निश्चयकारक मान कर वही से अपने दर्शन का प्रारम्भ करता है। अत, उसके लिए ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाणो का कुछ भी अर्थ नही। किन्तु, वह कारण के विचार को सर्वथा त्याग नही देता है। वह स्पष्ट रूप से कारण-कार्य सम्बन्ध को तार्किक सम्बन्ध में घटा देता है, जैसे ज्यामितीय आकृति और उसके धर्म। किन्तु, स्वकारण की मान्यता से वह कारण के विचार द्वारा द्रव्य की पूर्ण एकता को सुरक्षित रखते हुए विविधता की व्याख्या कर लेता है। वह कारण के विचार को आगे वढाकर, 'नातुरा नातुरैस,

१ देकार्त्त विधि, भाग ४ (वीच का अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ८०)

२ मावन ४ से तुलना करें 'यह असम्भव है कि ईश्वर कभी हमसे छल करे, क्योंकि सभी प्रकार की जालसाजी और छलना में एक प्रकार की अपूर्णता मिलती है, और यद्यपि ऐसा लग सकता है कि धोखा दे सकना होशियारी या शक्ति का चिह्न है, धोखा देने की इच्छा सदैव, बिना किसी सन्देह के, कमजोरी या द्वेष सूचित करती है, और तदनुसार ईश्वर में इस प्रकार की इच्छा का अस्तित्व नहीं हो सकता।' हेगेल दर्शन का इतिहास, अ० ३, पृ० ३१९ भी देखें।

(स्वविकारी प्रकृति) और 'नातुरा नातुराता' (स्वविकृत प्रकृति)के भेद द्वारा उस खाईं को पाटना चाहता है जो उसके तर्क नें असीम (शुद्ध रूप में अनिर्धार्य) तथा ससीम, अथवा निर्धार्य अस्तित्व के बीच खोद दी थी। स्वविकारी प्रकृति आरोप्य धर्मों में अभिव्यक्त द्रव्य है 'जो कुछ भी है सबके स्वतन्त्र कारण के रूप में ईश्वर'। स्वविकृत प्रकृति 'वह सब है जो ईश्वर के स्वभाव की अनिवार्यता से अनुगमित होता है, अथवा ईश्वर के किसी आरोप्य धर्म से, अर्थात् ईश्वर के आरोप्य धर्मों के सभी रूप, जिन्हें ईश्वर में स्थित वस्तुएँ समझा जाय, और ईश्वर के बिना न स्थित हो सकती है, न प्रत्ययित हो सकती हैं।' सक्षेपत, स्व-कारण या द्रव्य का दो क्षणो में विश्लेषण कर दिया गया है कारण (नातुरा नातुरैस) और कार्य (नातुरा नातुराता), किन्तु दोनो ही अन्तत एक हैं। इस भेदरहित विभाजन के बिना, स्पिनोज़ा के लिए अपने असीम द्रव्य को वास्तविक जगत् के साथ एकाकार करना सम्भव न था। फिर भी स्पिनोज़ा का ससीम, अपने ससीम रूप में, अवास्तविक है।

कारण का यह विचार, जिसे देकार्त्त और स्पिनोज़ा बिना कोई व्याख्या या पुष्टीकरण दिये हुए ही प्रयुक्त करते हैं, लाइबनित्स के लिए, और अधिक व्यापक अर्थ में एक स्वतन्त्र तार्किक नियम बन जाता है, जिसे वह पर्याप्त युक्ति का नियम कहता है प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व के लिए न केवल योग्य कारण की आवश्यकता है, बल्कि पर्याप्त युक्ति की भी। युक्ति की पर्याप्तता अन्तत ईश्वर के स्वभाव पर ही निर्भर है, जो बुद्धिमत्ता, शुभता एव शक्ति में पूर्ण है। स्पष्ट है कि लाइबनित्स नें देकार्त्त के अनेक बार दुहराये हुए कथन से, कि वस्तुओ की सत्यता का विश्वास ईश्वर की पूर्णता से उत्पन्न होता है, एक पृथक् तार्किक नियम प्राप्त कर लिया है। स्पिनोज़ा की युक्ति इस विश्वास पर निर्भर है कि प्रत्येक ससीम वस्तु को एक सर्व-ग्राही सस्थान में स्थान मिलना चाहिए, या कहें कि ईश्वर के स्वभाव से जो सभी भाँति पूर्ण है निष्पन्न होना चाहिए। अत, विरोध के नियम के अतिरिक्त पर्याप्त युक्ति के नियम की स्वीकृति लाइबनित्स का एकदम नया आविष्कार नहीं है, बल्कि उसके निकट पूर्ववर्त्ती विचारकों के कथन में अन्तर्भूत सकेत की व्याख्या या स्पष्टीकरण है।

क्रिश्चियन वूल्फ का दर्शन

लाइवनित्स के जीवन-काल में उसकी कृतियो में से बहुत थोडी प्रकाशित हुईं। उसकी दार्शनिक सम्मतियो का वितरण पाण्डुलिपियो के माध्यम से हुआ, जिन्हें पढ़ कर उसके मित्रो को वडी निराशा हुई, खास तौर से खण्डश अभिव्यक्ति के कारण। दो नियम विरोध का नियम और पर्याप्त युक्ति का नियम, पास-पास रखे जाने पर उनमें कोई स्पष्ट सम्बन्ध न मिलता था। अध्येताओ ने सोचा कि दो स्वतन्त्र नियमो पर आधारित दर्शन कैसे सगत हो सकता है और उन्हें इस दोष को दूर करने की चिन्ता हुई। इसी प्रकार, लाइवनित्स और न्यूटन की लम्वी प्रतियोगिता में न्यूटन की विजय मान ली गयी थी, जिससे लाइवनित्स की ख्याति को धक्का लगा था। न्यूटन की भौतिकी से लाइवनित्स की तत्त्वविद्या की कुछ वातें मेल नही करती थी। इससे यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि लाइवनित्स के मतो में कुछ सशोधन कर उन्हें सगत वनाया जाय। क्रिश्चियन वूल्फ (१६७९-१७५४) ने लाइवनित्स के दर्शन के व्यवस्थापन एव सशोधन का भार लिया।

उसने विरोध तथा पर्याप्त युक्ति के नियमो का सामजस्य स्थापित करने के लिए, विरोध के नियम को मूलभूत प्रदर्शित किया और पर्याप्त युक्ति के नियम को उससे निगम्य अनुमिति। इस प्रकार, उसने विरोध के नियम को फिर एक वार वही स्थान दिया जो उससे पहले देकार्त्त दे चुका था, यानी उक्त नियम को चिन्तन का एकमात्र नियम सिद्ध किया। वह यह मानता है कि 'कुछ' और 'कुछ नही' के वीच पूर्ण पार्थक्य है। 'कुछ' वह है जिसकी कोई धारणा हो और 'कुछ नहीं' वह है जिसकी कोई धारणा नही। इस प्रकार, प्रत्येक वस्तु की पर्याप्त युक्ति होनी चाहिए, अर्थात् कुछ युक्ति कि वह क्यो है वनिस्वत इसके कि वह नहीं है, अन्यथा कुछ की कुछ नही से उत्पत्ति होगी। किन्तु 'कुछ' और 'कुछ नही' के वीच कोई मध्य पद नही है। फलत, वूल्फ के दर्शन में सत् और असत् का विरोध इतना स्पष्ट है कि उनके वीच सत्‌भाव्य के लिए कोई स्थान नही रह जाता। 'असभाव्य कुछ नहीं है।' और 'सभाव्य सदैव ही कुछ होता है।' इससे तार्किक निष्पत्ति यह होनी चाहिए कि सम्भव ही वास्तविक है और यह कि सार और सत्ता में कोई भेद

नहीं। किन्तु, यहाँ पहुँच कर लाइबनित्स का प्रभाव वूल्फ की तार्किक कट्टरता को विचलित कर देता है 'अस्तित्व की सभावना के अतिरिक्त, अस्तित्त्व के लिए कुछ और भी चाहिए।' 'अस्तित्त्व या वास्तविकता सम्भावना की पूरक है।' अपना अभिप्राय स्पष्ट करने के लिए, वह एक वृक्ष का उदाहरण देता है, जो सामर्थ्य के रूप में, बीज में स्थित है, किन्तु उसे अपने वास्तविक पूरण के लिए अन्य स्थित वस्तुओं के सहयोग की आवश्यकता है। यह तो वही 'सम्भव' और 'सहसभव' का भेद है जिसे लाइबनित्स ने स्थापित किया था। किन्तु, इस तक पहुँचने से पूर्व, वूल्फ ने पर्याप्त युक्ति के नियम से उसका सम्पूर्ण अर्थ निकाल कर खोखला कर दिया और उक्त भेद की स्वीकृति इसी नियम पर निर्भर थी। इतना ही नहीं, वूल्फ ने 'कुछ' और 'कुछ नही' के बीच किसी मध्य पद की आवश्यकता नही समझी थी। पर, बाद में उसने पाया कि अस्तित्त्व के लिए अस्तित्त्व की सम्भावना के अतिरिक्त 'कुछ और' चाहिये। यानी कि वह अचेतन रूप से 'कुछ' के दो रूपो, 'सम्भव कुछ' और 'वास्तविक कुछ' को स्वीकार कर रहा है। इसका अर्थ है कि 'कुछ' और 'कुछ नही' के बीच एक मध्य पद है। और वूल्फ की मूल स्थापना अन्त-र्विरोध से मुक्त नही है।

वूल्फ के लिए लाइबनित्स के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का बहुत बडा आकर्षण था, यानी चिद्विन्दुओ की आत्म-परिपूर्णता एव पारस्परिक व्यतिरिक्तता के विचार का, जो लाइबनित्स के चिन्तन में विरोध के नियम की सीमित व्याख्या के कारण मौजूद था। वूल्फ इस प्रवृत्ति को आगे बढा कर, मात्र विरोध के नियम के फलस्वरूप, एक अमूर्त्त व्यक्तिवाद की स्थापना करता है, जैसे स्पिनोज़ा ने उसी नियम के प्रयोग से एक समष्टिवाद या सर्वेश्वरवाद की स्थापना की थी। इस नियम के विश्वासमूलक स्वभाव का फल है कि दो परस्पर प्रतियोगी नियम इसी से निष्पन्न दिखाये जा सकते हैं और हमें दो नितान्त विपरीत दार्शनिक मत प्राप्त हो सकते हैं।

वूल्फ ने लाइबनित्स के निरन्तरता के नियम को अस्वीकार कर, एक चिद्-विन्दु विद्या की स्थापना की, जिसमें आध्यात्मिक एव भौतिक दो प्रकार के चिद्बिन्दु सम्मिलित थे। यह, देकार्त्त के द्वैतवाद की भांति, एक द्वैतवाद था जिसमें चिद्विन्दु

विद्या एव अणुवाद का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया था ।[१] वूल्फ के मत में, आध्यात्मिक चिद्‌विन्दु ही वस्तुत चिद्‌विन्दु कहे जाने के योग्य है । दूसरे, प्राकृतिक अणु (एतॉमी नातुरी), अथवा 'वस्तुओ के तत्त्व' है । भौतिक अणुओ, अथवा अचेतन चिद्‌विन्दुओ को वह विश्व के जीवित दर्पण नही मानता, जो लाइ-वनित्स के दर्शन की भाँति, विश्व का प्रत्यक्षीकरण या प्रतिविम्वन करें । वे स्व-चालित अव भी है, किन्तु आत्माएँ नही है । उनमें तथा आध्यात्मिक चिद्‌विन्दुओ में एकता, सरलता तथा क्रियात्मकता के अतिरिक्त कोई समानता नही । वूल्फ के मत में लाइवनित्स की अचेतन विचार, लघु प्रत्यक्ष आदि की परिकल्पनाएँ शेष नही हैं । उनके स्थान पर, विशिष्ट द्रव्यो के दो स्वतन्त्र वर्गों का मत है, जिसमें से एक वर्ग की घटनाएँ, विचार तथा दूसरे की गतियाँ है । फलत , लाइवनित्स द्वारा स्थापित, पूर्व-स्थापित सगति का सिद्धान्त भी नाम मात्र के लिए शेष रह जाता है । लाइवनित्स ने इस परिकल्पना को प्रत्येक स्वतन्त्र विशिष्ट द्रव्य और दूसरे उसी प्रकार के द्रव्यो के सम्वन्ध की व्याख्या के निमित्त प्रयुक्त किया था, किन्तु वूल्फ इसे शरीर और आत्मा या अणुओ तथा चिद्‌विन्दुओ के ससर्ग की व्याख्या के निमित्त प्रयुक्त करता है । लाइवनित्स के अनुसार, चिद्‌विन्दुओ के बीच कोई वास्तविक प्रतिक्रिया सम्भव न थी । किन्तु वूल्फ के 'प्रकृति के अणु' शुद्ध भौतिक होने के कारण वस्तुत एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं । उसे यह मानने में कोई कठिनाई नही मालूम होती कि उनमें परस्पर गति का स्थानान्तरण होता है । उसके सामने कोई कठिनाई है, तो वही देकार्त्त की मूल समस्या कि विशुद्ध रूप में चिन्तनशील द्रव्य पूर्णत चिन्तनशून्य द्रव्य को कैसे प्रभावित कर सकता है, अथवा गति कैसे चिन्तन में प्रवेश कर सकेगी ? वूल्फ अवसरवाद

१ शेलिंग् का कथन 'जैसा प्राय होता है, लाइवनित्स के निकट उत्तरा-धिकारी उसके मत का वास्तविक विचाराश, चिद्‌विन्दु विद्या, तो एक ओर रख देते हैं । उदाहरण के लिए, उनमें से सबसे अधिक सम्मानित वूल्फ इसे अपने दर्शन में केवल एक परिकल्पना के रूप में ग्रहण करता है ।' (सम्पूर्ण ग्रन्थ, भाग ६, पृ० ११६)

की अपेक्षा पूर्व-स्थापित सगति पसन्द करता है, क्योकि एक आदि चमत्कार स्वीकार कर लेना क्षण-क्षण में घटित होने वाले चमत्कारो की अनन्त शृखलाओ को स्वीकार करने से अच्छा है।

वूल्फ के अनुसार, प्राकृतिक या भौतिक जगत् यान्त्रिक नियमो द्वारा शासित होता है। अन्तिम कारणो का क्षेत्र अवश्य है, किन्तु वस्तुओ के अन्त स्वय वस्तुओ से बाह्य होते हैं। लाइबनित्स के मत की भाँति, वूल्फ के मत में, भौतिक द्रव्य का अन्तिम कारण स्वय द्रव्य के स्वभाव में, अथवा आत्मोपलब्धि की प्रेरणा में व्याप्त नहीं रहता, बल्कि एक बाहर से आरोपित नियम में रहता है। वूल्फ का प्रयोजनतावाद कही-कहीं सेंट पियरे के बर्नार्डिन जैसे लेखको की व्याख्याओ की भाँति बचकाना हो जाता है। बर्नार्डिन कहता है कि तरबूज़ इतना बडा यह सूचित करने के लिए बनाया गया कि उसे अकेले नही परिवार में खाना चाहिए, और चार थन वाली गाय के एक ही बछडा इसलिए होता है कि मानव जाति को दूध बहुत पसन्द है। वूल्फ भी कहता है कि सितारे हमें रात में रोशनी देने के लिए चमकते है और 'दिन की रोशनी हमारे बडे लाभ की है, वह हमें आराम से कुछ ऐसे काम कर लेने देती है, जिन्हें अँधेरा अपेक्षाकृत असभव या कठिन और अधिक खर्चीला बना देता।' कुछ भी हो, वूल्फीय दर्शन में अन्तिम कारणो के सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योकि वूल्फ के अनुसार, यद्यपि यान्त्रिक नियमो से प्रकृति की व्याख्या की जा सकती है, हम उसे उसके मूल तत्त्वो में घटित नही कर सकते, अत भौतिक घटनाओं की उसी रूप में व्याख्या करने के लिए जिस रूप में वे हमारे सामने प्रस्तुत होती है, हमें लगातार अन्तिम कारणो का सहारा लेना पडेगा। इसी प्रकार, लाइबनित्स की पदावली का ही अनुसरण करते हुए, वूल्फ ईश्वर के विषय में कहता है कि वह 'सभी सम्भव जगतो में से सर्वोत्तम' की रचना का स्वतन्त्र सकल्प करता है, किन्तु वूल्फ 'सर्वोत्तम' का अर्थ 'सभी दृष्टियो से सर्वोत्तम' नही, बल्कि 'मानव जाति के लिए सर्वोत्तम' समझता है। इस प्रकार, वूल्फ की आशावादिता उसके प्रयोजनता सम्बन्धी विचारो की ही भाँति छिछली और मनगढन्त है। इसीलिए इमैनुएल कान्ट ने प्रारम्भ में अधिकतर वूल्फ के विचारो से काम लेते हुए भी, इस प्रसग में उसका तिरस्कार किया और जिन विचारो को प्रश्रय दिया वे लाइबनित्स के अधिक समीप है।

कान्ट से सम्बन्ध

अपने प्रारम्भिक लेखो में कान्ट ने देश-सम्बन्धी प्रश्नो पर विचार किया—उदाहरण के लिए, देश में तीन ही आयाम क्यो हैं, तीन से अधिक आयाम वाले देश सम्भव हैं, अथवा नही, है तो वे सत्य हैं, अथवा असत्य। वूल्फीय देश के विचार से वह बहुत कुछ असन्तुष्ट हो चुका था और धीरे-धीरे उस विचारधारा पर पहुँच रहा था, जो वूल्फ के बजाय लाइबनित्स के मत से अधिक मिलती है और कान्ट के अलौकिक सौन्दर्यशास्त्र में व्यक्त हुई है।[1] वूल्फ के अनुसार 'सत्य' देश को 'काल्पनिक' देश से भिन्न समझना चाहिए, यद्यपि 'काल्पनिक' देश-सम्बन्धी चिन्तन से प्राप्त फलो को 'सत्य' देश पर प्रामाणिक रूप से घटित किया जा सकता है। 'सत्य' देश सह-स्थित वस्तुओ का क्रम है और उसे वस्तुओ से अलग नही किया जा सकता। इसकी पूर्णत उचित धारणा केवल ईश्वर में हो सकती है और वस्तुत वही इसकी निरन्तरता का प्रत्यक्ष कर सकता है। हम इसे सह-स्थित वस्तुओ के क्रम से पृथक् मानकर अमूर्त्त या काल्पनिक देश का विचार प्राप्त कर सकते है और यह समाग एव निरन्तर है। स्पष्ट कहा जाय तो गणित और भौतिकी का देश 'काल्पनिक' है, किन्तु गणित तथा भौतिकी के नियम 'सत्य' देश के सम्बन्ध में भी उचित हैं। यह न लाइबनित्स का मत है, न न्यूटन का, बल्कि दोनो के बीच समन्वय का एक सुझाव है। देश मात्र गुफित प्रत्यक्ष नही है। देश एक वास्तविक क्रम है, जिसमें भौतिक वस्तुएँ स्थित है वह देश होने से सत्य है। किन्तु, वह गणितज्ञ

१ 'लाइबनित्स का मत कि बोध गुफित विचार है—इस प्रकार गुफित कि हम जगत् को देश और काल में स्थित वस्तुओं की व्यवस्था समझ सकें—यद्यपि कान्ट व्यक्त रूप में इसका तिरस्कार कर देता है, अपने देश और काल-सम्बन्धी मत में, कि वे वेद्यता के आकार हैं, इसका अतिक्रमण नहीं विस्तार करता है, कि अनुभव इन्हीं के अन्तर्गत सम्भव है, कि इन्हीं के कारण जो आभासों के प्रसग में सत्य है वह स्वय वस्तुओं के प्रसग में सत्य नहीं होने पाता और ज्ञान उस सम्पूर्णता तक नहीं पहुँच पाता जिसे वह खोजता है।' (टी० एच० ग्रीन, ग्रन्थ, खण्ड ३, पृ० १३५)

का देश नही है। वह एक प्रकार से देश के विस्तार या प्रतीक से काम लेता है। इस प्रकार, वूल्फ न्यूटन के देश-सम्बन्धी विचार से सहमत नही है। किन्तु, वूल्फ के देश-सम्बन्धी मत में उसी प्रकार की असगतियाँ है, जैसी उसके विशिष्ट द्रव्यो के मत में दिखायी जा चुकी है। कान्ट ने देश की समस्या को उसी रूप में ग्रहण किया था, जिसमें उसे वूल्फ ने प्रस्तुत किया था और अपने पूर्व-आलोचना काल की कृतियो में हम कान्ट को लाइबनित्स और न्यूटन के मतो में समन्वय की खोज करते हुए पाते हैं।[1] उसके देश-सम्बन्धी चिन्तन में हम पाते है कि वह वूल्फ के 'सत्य' तथा 'काल्पनिक' देश के प्रत्ययो के स्थान पर एक प्रत्यय स्थापित करना चाहता है। उसका प्रश्न यह है कि किस अर्थ में देश को सत्य एव वैचारिक दोनो ही समझा जा

१ कान्ट द्वारा लाइबनित्स की आलोचना 'अप्रत्यक्ष वस्तुओं के तादात्म्य का नियम यह है कि यदि अ और ब से, जो अपनी सब आन्तरिक विशेषताओं (गुण और परिमाण) की दृष्टि से समान हैं, हम दो भिन्न प्रतीत होने वाली वस्तुओं के प्रत्यय प्राप्त करते हैं, तो हम भूल करते हैं, और हमें उन दोनो को एक ही वस्तु समझना चाहिए। लाइबनित्स यह स्वीकार न कर सका कि देश में उनके स्थानों के कारण, उन्हें हम अब भी अलग कर सकते हैं (क्योंकि दो परस्पर बाह्य देशो का, बिना यह कह सके कि वे एक ही हैं, बिलकुल समान और बराबर प्रत्यक्ष किया जा सकता है, अन्यथा हम सम्पूर्ण असीम देश एक घन इंच या उससे भी कम में रख लेते। लाइबनित्स इसे न मान सका, क्योंकि विचारो के द्वारा उत्पन्न भेद के अतिरिक्त वह वस्तुओं के बीच कोई भेद मानता ही नहीं, और इससे वस्तुत भिन्न प्रतिबिम्बन के किसी उपाय की अनुमति नहीं देता है, जैसे अन्तर्दृष्टि, और खासकर प्रागनुभवीय प्रतिभा की। इसके विपरीत, उसने सोचा कि इसे मात्र सह-अस्तित्व या क्रम के विचारो में घटित कर देना चाहिए, और वह साधारण बुद्धि के विरुद्ध अड गया, जिसे यह मानने के लिए कभी बाध्य न किया जा सकेगा कि एक स्थान पर पानी के एक बूंद का अस्तित्व दूसरे स्थान पर, पानी के बिलकुल उसी तरह के बूंद के अस्तित्व को असम्भव बना देता है।' (लाइबनित्स और वूल्फ के समय से तत्त्वविद्या की उन्नति)

सकता है ? वूल्फ के अर्थ में नही, क्योकि उसमें एक वृत्ताकार परिभाषा व्याप्त है 'एक साथ, अथवा सह्-स्थित वस्तुओ में देश पूर्व-कल्पित है ।' न्यूटन का मत कुछ अधिक सन्तोषप्रद नही है । वह मानता है कि देश वस्तुओ के देशगत अस्तित्व से पूर्व है और यह कि उसमें सत्यता है । साथ ही, यह कि सम्पूर्ण विश्व देश में स्थित है और कि सम्बन्धो के देशीय सस्थान का सम्बद्ध वस्तुओ से स्वतन्त्र अस्तित्व है । कान्ट अपनी शुद्ध बुद्धि की समीक्षा में स्थापित करता है कि देश एक आकार है जो हमारे ऐन्द्रिक अनुभव की सम्भावना में पूर्व-कल्पित है । यह किसी भी प्रकार बाहर से प्राप्त नही होता, किन्तु हमारे लिए वाह्यता होने का यह एक कारक है । यह सत्य वस्तु या स्वय में वस्तु नही है । किन्तु, इन्द्रियगत सहेतुक अवयवो से मुक्त, पूर्णत शुद्ध प्रत्यक्ष होने के कारण न्यूटन के गणित की आवश्यकताओ को यह किसी स्वतन्त्र अस्तित्व से भी अधिक पूरा कर देता है । दूसरी ओर, चूंकि यह प्रत्यक्ष या अपरोक्षानुभूति से सम्बन्धित है, जैसा लाइबनित्स और वूल्फ ने स्थापित किया था, यह पूर्व-स्थित वस्तुओ के बीच कोई सम्बन्ध या क्रम नही है, फिर भी यह आत्मगत या वैचारिक है, हमारे मनो से सम्बन्धित है और इस प्रकार न्यूटन के देश-सम्बन्धी मत की कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं ।

कान्ट के अनुसार देश और काल के अन्तर्गत ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष ही सम्पूर्ण अनुभव नही है । इसे पूरक के रूप में प्रत्ययन की आवश्यकता है, जो समझ का व्यापार है । कान्ट अपने इस विचार को लाइबनित्स के मत का पूर्णत प्रतियोगी समझता था । सम्भवत दोनो का विरोध उतना गहरा नही है । कान्ट ने अपनी शुद्ध बुद्धि की समीक्षा में, प्रत्यक्ष और प्रत्ययन के बीच, लाइबनित्स की अपेक्षा अधिक स्पष्ट भेद किया था । कान्ट दोनो में जाति-भेद मानता है, जब कि लाइबनित्स केवल अश-भेद । लाइबनित्स का प्रत्यक्ष इतना विस्तृत है कि उसमें चेतन तथा अचेतन सभी प्रकार के प्रत्ययन तथा प्रतिविम्बन आ जाते है । कान्ट का 'प्रत्यक्ष' केवल ऐन्द्रिक प्रतिविम्बन है । किन्तु वह निश्चय ही अमूर्त्त है और लाइबनित्स का गुफित प्रत्यक्ष, जो ऐन्द्रिक ज्ञान के लिए प्रयुक्त नाम है, अमूर्त्त है, किन्तु दोनो की अमूर्त्तता के अर्थ भिन्न हैं । कान्ट के विचार से, प्रत्यक्ष और प्रत्ययन का भेद किसी सम्पूर्ण मूर्त्त अनुभव में सम्मिलित अमूर्त तत्त्वो के बीच है, जब कि लाइबनित्स के विचार से वह भेद किसी एक ही गुण या व्यापार की पूर्णता के अशो या श्रेणियो के बीच है ।

इस प्रकार, कान्ट के लिए ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष इसलिए अमूर्त है कि उसकी सत्यता सदैव एक पूरक तत्त्व की अपेक्षा करती है, लाइबनित्स के लिए वह अमूर्त है, क्योंकि उसका विकास अभी अपूर्ण है, वह और अधिक पूर्णता की सामर्थ्य लिये हुए है। कान्ट में यह कमी है कि प्रत्यक्ष और प्रत्ययन में भेद करते समय वह विकास के विचार को उसमें कोई स्थान नही दे पाता, लाइबनित्स की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष के सामान्य गुण या व्यापार की व्याख्या उसके निम्नतम रूप में करने की है, उच्चतम रूप में नही। वह प्रत्यक्ष को मूलत आत्मचेतना के रूप में नहीं प्रस्तुत करता है, जो उसका सर्वाधिक विकसित या पूर्ण रूप है, बल्कि उसे मात्र प्रतिबिम्बन, अथवा एकता में बहुता के रूप में लेता है और यह दिखाता है कि चेतना और आत्म-चेतना बाद में जुडने वाली विशेषताएँ है। कान्ट ने लाइबनित्स के दर्शन में सुधार किया था, हीगेल ऐसा मानता है।[1]

लाइबनित्स ने विरोध और पर्याप्त युक्ति के नियमो में स्पष्ट सम्बन्ध स्थापित करने का कोई प्रयत्न नही किया, यद्यपि वह उन्हें किसी प्रकार परस्पर सगत मानता था। कान्ट की प्रवृत्ति दोनो नियमो के बीच भेद करने की और दोनो को पृथक् पृथक् अमूर्त मानने की है। इस सन्दर्भ में भी वह वूल्फ के मत से प्रारम्भ करता है कि पर्याप्त युक्ति का नियम विरोध के नियम में घटित किया जा सकता है। फलत, विरोध का नियम ज्ञान का सम्पूर्ण नियम बन जाता है। किन्तु, धीरे-धीरे वह देखता है कि विरोध के नियम का सम्बन्ध केवल ज्ञान के आकार से हो सकता है और इस प्रकार वह केवल एक आत्म-सगत ज्ञान-सस्थान दे सकता है, जो विश्वास-

१ 'लाइबनित्स के मतों ने कान्ट के मन का स्थायी परिवेश निर्मित किया था। निस्सदेह, जीवन के मध्यकाल में ह्यूम के अध्ययन से उसे वह रूप निश्चित करने में सहायता मिली थी, जिसमें उसने उन्हें समाविष्ट और रूपान्तरित किया, किन्तु उसका मन बराबर उन्हीं पर काम करता रहा, जैसा कि हम समीक्षा में प्रारम्भिक कृतियों की अपेक्षा किसी प्रकार कम नहीं पाते है, और यह अच्छा होगा कि हम उसे सशोधित एव विकसित लाइबनित्स के रूप में प्रस्तुत करें बजाय इसके कि उसका यही सम्बन्ध किसी अन्य से जोडें।' (टी०एच० ग्रीन, ग्रन्थ, खण्ड ३, पृ० १३४)

मूलक पूर्व-कल्पनाओ पर आधारित होगा । वह चिन्तन में क्रम तथा आवश्यक सम्बन्धो का निश्चय करा सकता है, किन्तु वह वास्तविकता के प्रति अनुपयुक्त है । वह वस्तुओ का तार्किक आधार दे सकता है, किन्तु वास्तविक आधार नही । अत, तत्त्वविद्या के एकमात्र नियम के रूप में विरोध का नियम अपर्याप्त है । ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करने के प्रसग में कान्ट यही दृष्टि अपनाता है । वह देकार्त्त के प्रदर्शन का निषेध कर देता है, जिसमें सबसे पूर्ण सत्ता की पूर्णता में अस्तित्व का अन्तर्भाव अनिवार्य माना गया है । कान्ट का कहना है कि अस्तित्व विधेय नही हो सकता । कहा जाय, कि किसी उद्देश्य में से उतना ही कुछ निकाला जा सकता है, जितना उसमें हो विरोध का नियम कभी मात्र विचार से वास्तविकता का विचार नही निकालने देगा । विरोध के नियम से नियन्त्रित शुद्ध विचार में हमेशा कुछ 'दिया हुआ' पूर्वकल्पित रहता है, फलत वास्तविकता को सदैव शुद्ध विचार से बाहर स्थित होना चाहिए । उदाहरण के लिए, किसी वस्तु का वास्तविक कारण मात्र युक्ति से कुछ अधिक होता है कारणगत सम्बन्ध केवल तार्किक सम्बन्ध नही होता । विचार की इसी दिशा का अनुकरण करने के कारण, कान्ट को तार्किक बोध तथा इन्द्रिय-बोध में अन्तर करना पडता है और वह 'अनुभव' को, जिसकी न कोई युक्ति दी गयी है, न व्याख्या की गयी है, वास्तविकता का आधार मानने पर, बल देता है । ऐसा करने में वह जॉन लॉक के मत का, किसी हद तक, स्मरण करता है । वह गणित की निश्चयात्मकता स्वीकार करता है, किन्तु तत्त्वविद्या, अथवा ज्ञान-मीमासा के निमित्त गणितीय पद्धति के प्रयोग का विरोध करता है । उसका आधार यह है कि यह पद्धति 'मात्र सश्लेषणात्मक' है, यानी कि इसमें वास्तविक अनुभव का विश्लेषण नही किया जाता है, बल्कि मन द्वारा रचित पूर्व-कल्पनाओ से निगमन किया जाता है । अपनी शुद्ध बुद्धि की समीक्षा में, कान्ट ने प्रागनुभवीय तथा उत्तरानुभवीय विचार एव अनुभव में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है । उसका कथन है कि प्रागनुभवीय केवल वही नही है, जो स्वत प्रामाण्य हो और जिसे विश्लेषणात्मक निर्णय द्वारा व्यक्त किया जा सके, बल्कि वह जो सम्पूर्ण विश्व के अनुभव में, अनुभव की सम्भावना के अनिवार्य हेतु के रूप में, व्याप्त है ।

फिर यहाँ लाइबनित्स के ही विचार का विस्तार किया गया प्रतीत होता है । वह 'सह-सम्भावना' पर बल देता है, यानी उस अनिवार्यता पर, जो वास्तविकता

के आधार के रूप में, वस्तु-संस्थान से प्रकट होती है। लाइबनित्स के लिए वास्तविक का अर्थ 'उपयुक्त' अर्थात् वह है, जिसका सर्वोत्तम सम्भव संस्थान या जगत् में स्थान हो कान्ट के लिए वास्तविक एक व्यवस्थित अनुभव है, जो अपनी सम्भावना के तार्किक प्रागनुभवीय हेतुओ से निर्मित होता है। इस प्रकार, कान्ट के दर्शन में लाइबनित्स के पर्याप्त युक्ति के नियम का प्रयोग अधिक परिमार्जित रूप में हुआ है, लाइबनित्स वास्तविक जगत् के अस्तित्व को सभी सम्भव जगतो में से सर्वोत्तम के चयन का फल मानता है। इसमें कुछ असगति है, जो दो स्वतन्त्र नियमो के युगपत् प्रयोग के कारण आ गयी है। लाइबनित्स के चिन्तन में सम्भव जगतो की समष्टि एक संस्थान है और नही भी है। यदि वह एक संस्थान होता तो ईश्वर के सर्वोत्तम सम्भव जगत् के चुनाव का निर्धारण सम्भावितो के सम्पूर्ण संस्थान के स्वभाव के आधार पर होता। सर्वोत्तम सम्भव जगत्, उस दशा में, उस संस्थान में स्थित सर्वोत्तम जगत् होता। तब तो लाइबनित्स के ईश्वर को अपना चुनाव करने के लिए एक कदम पीछे हटना पडता। मान लें, कि उक्त समष्टि एक संस्थान नहीं है, तो ईश्वर का चुनाव स्वच्छन्द है, कम से कम, किसी ऐसी युक्ति पर आधारित तो नही ही हो सकता जिसे हम भी समझ सकें। मानते है कि ईश्वर का चुनाव सर्वोत्तम सम्भव जगत् का ही होगा, किन्तु उसके सर्वोत्तम होने का कारण इसके सिवा और कुछ न होगा कि ईश्वर ने उसे चुना है। इस तरह, सम्भव वैचारिक जगतों की समष्टि में संस्थान का आभास है। वस्तुत, वह संस्थान नही है। लाइबनित्स की मूल असगति का यही कारण है कि वह ईश्वर को परस्पर व्यतिरिक्त चिद्बिन्दुओ के संस्थान का स्रोत (रचयिता) मानने के साथ ही, उसे सर्वोपरि चिद्बिन्दु भी मानता है, जिसके बिना चिद्बिन्दु संस्थान पूर्ण नही हो सकता। ठीक-ठीक समझे जाने पर पर्याप्त युक्ति का नियम हमें एक सर्वग्राही संस्थान कल्पित करने के लिए विवश करता है। लाइबनित्स इसे समझता था, किन्तु एक ओर व्यक्तिवादी प्रवृत्ति और दूसरी ओर स्पिनोज़ावाद का भय, इन्ही दोनो के कारण वह इस सत्य को पूर्णत अभिव्यक्त न कर सका।

कान्ट एक ही संस्थान की स्थापना करता है, केवल उसी की जिसका वास्तविक अस्तित्व है। उसके दर्शन में सम्भावित जगतो में से एक के चुनाव की कल्पना बिल्कुल नहीं की गयी है। किन्तु कान्ट के मत में 'स्वयं-में-वस्तु' का बहुत कुछ

वही कार्य है, जो लाइवनित्स के दर्शन में 'चुनाव' का । दोनो ही वास्तविक सस्थान के अतिरिक्त एक सम्भावित सत्ता की स्वीकृति के लिए मार्ग खोजते हैं, किन्तु कान्ट और लाइवनित्स के प्रयोजनो में अन्तर है । लाइवनित्स अधी अनिवार्यता के प्रत्यय से वचना चाहता है, कान्ट शुद्ध आपेक्षिकता से भागना चाहता है । दोनो ही महसूस करते हैं कि परस्पर सम्बद्ध वस्तुओ के सस्थान का मूल आधार किसी ऐसे तत्त्व में खोजना चाहिए जो उस सस्थान से वाहर हो । लाइवनित्स इस तत्त्व को जगत् का वास्तविक एव स्वतन्त्र 'उपादान' कारण मान लेता है और जव ससार से इसका सम्वन्ध दिखाने की समस्या उत्पन्न होती है, तो 'ईश्वरीय इच्छा' 'दैवी स्वत स्फुरण' आदि रूपको का सहारा लेकर स्थिति को झुठलाना चाहता है । कान्ट का आलोचनात्मक दर्शन उसे इस तत्त्व को एक 'व्यवस्थापक' प्रत्यय मानने के लिए वाध्य करता है, किन्तु उस पर-तत्त्व की यह व्याख्या केवल निषेधात्मक ही वन पाती है, क्योकि वैचारिक युक्ति उसके निरपेक्ष स्वभाव के विपय में कुछ भी नही कह सकती । कान्ट उसकी सत्यता को व्यावहारिक युक्ति द्वारा प्रमाणित मानता है, और उसी में वाध्यता एव स्वतन्त्रता का, प्रकृति तथा महिमा के क्षेत्रो का तथा यान्त्रिकता एव प्रयोजनता का समन्वय भी प्रदर्शित करता है । हम प्रातिभासिक जगत् की सन्तोषप्रद व्याख्या नही कर सकते, क्योकि हमें सर्वोपरि वुद्धि और उसके अन्तिम उद्देश्यो का कोई प्रत्ययात्मक ज्ञान नही । हम अन्तिम कारणो का अनुमान कर सकते है, किन्तु विना यान्त्रिक नियमों की सहायता के यह नही समझ सकते कि अन्तिम कारणो से वस्तु-जगत् का उत्पादन किस प्रकार होता है । साथ ही, जव हम प्रातिभासिक जगत् को यान्त्रिक सस्थान के रूप में लेते है, तो यह पाते है कि 'कोई भी मानवीय युक्ति (वस्तुत कोई भी सीमित वुद्धि जिसमें हमारी वुद्धि के गुण हो, कोटि में चाहे जितनी ऊँची हो) केवल यान्त्रिक नियमो से एक घास की पत्ती की उत्पत्ति को भी पूर्णत समझने की आशा नही कर सकती ।' कुछ दृष्टान्तो में हम उद्देश्यो के प्रति अनुकूलन की कल्पना कर सकते है । किन्तु हम एक ऐसी वुद्धि का प्रत्ययन कर सकते हैं, जो जगत् का विचार कर सकती है, हमारी तरह परोक्षत एक भाग से दूसरे भाग का नही, वल्कि पूर्ण से भाग का अपरोक्ष एव सम्पूर्ण रूप में और उस वुद्धि में अन्तिम और निमित्त कारण, स्वतन्त्रता और अनिवार्यता समन्वित होगी । उस वुद्धि के लिए जानना और

रचना करना एक होगे रचना उसका विचार होगा । इस प्रकार लाइवनित्स और कान्ट समान रूप से, वस्तुओ के अन्तिम निर्माण, अथवा अनुभव की पर्याप्त युक्ति को एक ऐसे तत्त्व में स्थापित करते हैं, जो स्वय अनुभव से परे है और जिसका अनुभव से सम्बन्ध अब भी व्याख्या की अपेक्षा करता है । लाइवनित्स का चिन्तन इसकी व्याख्या करने में असगत हो जाता है । वह एक साथ ही ईश्वर को सर्वोच्च चिद्बिन्दु तथा चिद्विन्दुओ का रचयिता यानी उनसे निर्मित जगत् की पर्याप्त युक्ति मान लेता है । ये दोनो बातें एक साथ कैसे सही हो सकती हैं कि जगत् का रचयिता स्वय जगत् का एक अवयव भी हो । फिर, यदि चिद्विन्दुओ का स्वभाव विश्व को प्रतिविम्वित करना है और ईश्वर जो शुद्ध कर्त्ता है विश्व को पूर्णत स्पष्ट और व्यतिरिक्त (पृथक्) रूप में प्रतिबिम्वित करता है, तो फिर ईश्वर से पृथक् चिद्विन्दुओ से निर्मित जगत् का कौन-सा स्थान हो सकता है । कान्ट इस असगति को अनुभव तथा स्वय-में-वस्तु का भेद कर किसी हद तक दूर कर लेता है । उसकी कठिनाई थोडा आगे हट कर यह रह जाती है कि जगत् से सम्बद्ध ईश्वर को हम कारणता, रचनात्मकता आदि दृष्टियो से समझने की चाहे जितनी कोशिश करें कभी भी निश्चित रूप से कोई व्याख्या नही कर सकते । जहाँ तक हमारे सैद्धान्तिक ज्ञान का प्रसग है, हम ईश्वर से जगत् का सम्बन्ध स्थापित करने में किसी उपयोगी परिकल्पना को स्वीकार कर ले सकते है, जिससे हम अपने ज्ञान में एकता ला सकते हैं, विश्वासवाद की भूलो से बच सकते हैं, किन्तु उक्त कठिनाई का कोई अन्तिम हल नही पा सकते ।

फिख्टे पर लाइवनित्स का प्रभाव

फिख्टे ने कान्ट के दर्शन से अनुभव से सम्पूर्णत वाह्य समझी जाने वाली स्व-केन्द्रित वस्तु को हटा कर उसके दर्शन में व्यवस्थित एकता लाने का प्रयत्न किया था । फिख्टे अपने को कान्टीय दर्शन का उचित रूप में व्याख्याता समझता था, किन्तु स्वय कान्ट के प्रतिवाद करने पर वह समझा कि वह स्वतन्त्र आलोचक था । फिख्टे का मूल विचार यह है कि कान्टीय अनुभव का आधार आत्म-चेतना (ममत्व) में है, जो स्वय ही ऐन्द्रिक अहम् और ऐन्द्रिक नाहम्, यानी विपयी और विषय के भेद का मूल है । मौलिक आत्म-चेतना से ही सम्पूर्ण अनुभव का उद्भव

वही कार्य है, जो लाइवनित्स के दर्शन में 'चुनाव' का। दोनो ही वास्तविक सस्थान के अतिरिक्त एक सम्भावित सत्ता की स्वीकृति के लिए मार्ग खोजते हैं, किन्तु कान्ट और लाइवनित्स के प्रयोजनो में अन्तर है। लाइवनित्स अधी अनिवार्यता के प्रत्यय से वचना चाहता है, कान्ट शुद्ध आपेक्षिकता से भागना चाहता है। दोनो ही महसूस करते है कि परस्पर सम्वद्ध वस्तुओ के सस्थान का मूल आधार किसी ऐसे तत्त्व में खोजना चाहिए जो उस सस्थान से वाहर हो। लाइवनित्स इस तत्त्व को जगत् का वास्तविक एव स्वतन्त्र 'उपादान' कारण मान लेता है और जब ससार से इसका सम्वन्ध दिखाने की समस्या उत्पन्न होती है, तो 'ईश्वरीय इच्छा' 'दैवी स्वत स्फुरण' आदि रूपको का सहारा लेकर स्थिति को झुठलाना चाहता है। कान्ट का आलोचनात्मक दर्शन उसे इस तत्त्व को एक 'व्यवस्थापक' प्रत्यय मानने के लिए वाध्य करता है, किन्तु उस पर-तत्त्व की यह व्याख्या केवल निषेधात्मक ही बन पाती है, क्योकि वैचारिक युक्ति उसके निरपेक्ष स्वभाव के विषय में कुछ भी नही कह सकती। कान्ट उसकी सत्यता को व्यावहारिक युक्ति द्वारा प्रमाणित मानता है, और उसी में वाध्यता एव स्वतन्त्रता का, प्रकृति तथा महिमा के क्षेत्रो का तथा यान्त्रिकता एव प्रयोजनता का समन्वय भी प्रदर्शित करता है। हम प्रातिभासिक जगत् की सन्तोषप्रद व्याख्या नही कर सकते, क्योकि हमें सर्वोपरि वुद्धि और उसके अन्तिम उद्देश्यो का कोई प्रत्ययात्मक ज्ञान नही। हम अन्तिम कारणो का अनुमान कर सकते हैं, किन्तु विना यान्त्रिक नियमों की सहायता के यह नही समझ सकते कि अन्तिम कारणो से वस्तु-जगत् का उत्पादन किस प्रकार होता है। साथ ही, जव हम प्रातिभासिक जगत् को यान्त्रिक सस्थान के रूप में लेते हैं, तो यह पाते है कि 'कोई भी मानवीय युक्ति (वस्तुत कोई भी सीमित वुद्धि जिसमें हमारी वुद्धि के गुण हो, कोटि में चाहे जितनी ऊँची हो) केवल यान्त्रिक नियमो से एक घास की पत्ती की उत्पत्ति को भी पूर्णत समझने की आशा नही कर सकती।' कुछ दृष्टान्तो में हम उद्देश्यो के प्रति अनुकूलन की कल्पना कर सकते है। किन्तु हम एक ऐसी वुद्धि का प्रत्ययन कर सकते हैं, जो जगत् का विचार कर सकती है, हमारी तरह परोक्षत एक भाग से दूसरे भाग का नही, वल्कि पूर्ण से भाग का अपरोक्ष एव सम्पूर्ण रूप में और उस वुद्धि में अन्तिम और निमित्त कारण, स्वतन्त्रता और अनिवार्यता समन्वित होगी। उस वुद्धि के लिए जानना और

रचना करना एक होगे रचना उसका विचार होगा । इस प्रकार लाइबनित्स और कान्ट समान रूप से, वस्तुओ के अन्तिम निर्माण, अथवा अनुभव की पर्याप्त युक्ति को एक ऐसे तत्त्व में स्थापित करते है, जो स्वय अनुभव से परे है और जिसका अनुभव से सम्बन्ध अब भी व्याख्या की अपेक्षा करता है । लाइबनित्स का चिन्तन इसकी व्याख्या करने में असगत हो जाता है । वह एक साथ ही ईश्वर को सर्वोच्च चिद्बिन्दु तथा चिद्बिन्दुओ का रचयिता यानी उनसे निर्मित जगत् की पर्याप्त युक्ति मान लेता है । ये दोनो बातें एक साथ कैसे सही हो सकती है कि जगत् का रचयिता स्वय जगत् का एक अवयव भी हो । फिर, यदि चिद्बिन्दुओ का स्वभाव विश्व को प्रतिबिम्बित करना है और ईश्वर जो शुद्ध कर्त्ता है विश्व को पूर्णत स्पष्ट और व्यतिरिक्त (पृथक्) रूप में प्रतिबिम्बित करता है, तो फिर ईश्वर से पृथक् चिद्बिन्दुओ से निर्मित जगत् का कौन-सा स्थान हो सकता है । कान्ट इस असगति को अनुभव तथा स्वय-में-वस्तु का भेद कर किसी हद तक दूर कर लेता है । उसकी कठिनाई थोडा आगे हट कर यह रह जाती है कि जगत् से सम्बद्ध ईश्वर को हम कारणता, रचनात्मकता आदि दृष्टियो से समझने की चाहे जितनी कोशिश करें कभी भी निश्चिन रूप से कोई व्याख्या नही कर सकते । जहाँ तक हमारे सैद्धान्तिक ज्ञान का प्रसग है, हम ईश्वर से जगत् का सम्बन्ध स्थापित करने में किसी उपयोगी परिकल्पना को स्वीकार कर ले सकते हैं, जिससे हम अपने ज्ञान में एकता ला सकते हैं, विश्वासवाद की भूलो से बच सकते हैं, किन्तु उक्त कठिनाई का कोई अन्तिम हल नही पा सकते ।

फिख्टे पर लाइबनित्स का प्रभाव

फिख्टे ने कान्ट के दर्शन से अनुभव से सम्पूर्णत बाह्य समझी जाने वाली स्व-केन्द्रित वस्तु को हटा कर उसके दर्शन में व्यवस्थित एकता लाने का प्रयत्न किया था । फिख्टे अपने को कान्टीय दर्शन का उचित रूप में व्याख्याता समझता था, किन्तु स्वय कान्ट के प्रतिवाद करने पर वह समझा कि वह स्वतन्त्र आलोचक था । फिख्टे का मूल विचार यह है कि कान्टीय अनुभव का आधार आत्म-चेतना (ममत्व) में है, जो स्वय ही ऐन्द्रिक अहम् और ऐन्द्रिक नाहम्, यानी विषयी और विषय के भेद का मूल है । मौलिक आत्म-चेतना से ही सम्पूर्ण अनुभव का उद्भव

होता है अनुभव की वस्तु और अनुभव का रूप दोनो उसी से प्राप्त किये जा सकते हैं। इस प्रकार, विषयी और विषय दोनो उसी मौलिक आत्म-चेतना में अन्तर्भूत हैं। इसलिए अनुभव से परे किसी सत्य या वास्तविकता का सकेत अनावश्यक होने के साथ ही निरर्थक भी है। फिख्टे ने विश्व की एकता का सर्वेश्वरवाद की पूर्णता तक समर्थन किया है। इसीलिए फिख्टे को 'कान्ट की शब्दावली में स्पिनोज़ा' कहा गया है।

कान्ट को 'स्वय-में-वस्तु' इसलिए कल्पित करनी पडी कि वह प्रत्यक्ष और प्रत्ययन, अथवा इन्द्रिय और बोध में पार्थक्य स्थापित करता है। वे सह-धर्मी हैं, किन्तु कान्ट उन्हें इस प्रकार लेता है जैसे वे बिरकुल स्वतन्त्र हो। इसीलिए उनके सयोग से प्रातिभासिक जगत् की उपलब्धि होती है। प्रत्यक्ष अपने आप से ही बोध के आकारो को, जिन्हें पाकर उसकी दृष्टिहीनता दूर होती है, विकसित नही कर सकता, और प्रत्ययन अपने लिए स्वय ही ऐन्द्रिक प्रदत्तो और अनुभव का निर्माण नही कर सकता, यद्यपि उनके बिना वह खोखला है। यह द्वैत प्रतीयमान जगत् की आवश्यकता की ओर सकेत करता है, भले ही वह जगत् हमारे बौद्धिक ग्रहण या प्रमाण-शक्ति की पहुँच के बाहर हो। कान्ट ने विश्वासमूलक दर्शन के विरुद्ध यह स्थापना की थी। वह लगातार यही कहता है कि लाइबनित्स ने अनुभव को प्रत्यय-सस्थान मान कर बडी भूल की थी, क्योकि उक्त सस्थान अपने आप में एक आत्म-सगत पूर्ण हो सकता है, पर वास्तविकता से उसका कोई निश्चित ससर्ग नही। उसके विचार से प्रत्यक्ष और प्रत्ययन का भेद मिटा देना वास्तविक और सत्य से हाथ धो डालना है।

अत, जब फिख्टे 'स्वय-में-वस्तु' का तिरस्कार कर देता है, तो वह लाइबनित्स के मत की ओर मुड जाता है और बदली हुई परिस्थितियो में उसके कुछ मुख्य विचारो को विकसित करता है। देकार्त्त के द्वैत से प्रतियोगिता के कारण, लाइ-बनित्स विषयी और विषय के भेद पर बल नही देता है, बल्कि विश्व को विषयियो की असीमता के रूप में प्रत्ययित करता है, जिसमें से प्रत्येक आत्म-परिपूर्ण एव 'जीवन के सागर में द्वीपीकृत' है। कान्ट के लिए विषयी और विषय का भेद बहुत महत्त्वपूर्ण है। फिख्टे यह भेद कायम रखते हुए भी, इसे आत्म-चेतना की एकता में शमित मानता है, अथवा यह कि उक्त चेतना की एकता से यह भेद अति अमूर्त

और अनिश्चित रूप में प्रवाहित होता है और उसी चेतना की एकता में सर्वाधिक पूर्ण रूप में घुलमिल जाता है। लाइबनित्स के अनुसार चिद्‌विन्दु की अवस्थाओ का सम्पूर्ण क्रम, उसके विश्व के सभी प्रत्यक्ष स्वय उसी के भीतर से स्वत स्पन्दित होते हैं, 'मानो जगत् में ईश्वर और उसके सिवा कुछ न हो', और प्रत्येक चिद्‌विन्दु में उपादान एव आकार दोनों ही होते है, जो वस्तुत एक ही बल या व्यापार की कोटियाँ है। इसी प्रकार, फिख्टे का अहम् जो पूर्णत स्वत स्पन्दित बल या प्राथमिक आत्म-चेतना है, अपने अन्तर से ऐन्द्रिक अहम् और नाहम्, अथवा विषयी और विषय को उत्पन्न करती है, अपनी ही कल्पना-शक्ति से अपने बाह्य जगत् को उभारती है, और इस बाह्य एव आभ्यन्तर के भेद को शुद्ध 'बौद्धिक प्रज्ञा' में शमित करने का निरन्तर प्रयास करती रहती है। फलत, फिख्टे प्रत्यक्ष और प्रत्ययन के बीच कान्ट द्वारा उठायी हुई दीवारो को गिरा कर, लाइबनित्स की स्थिति को स्वीकार करने लगता है कि सम्पूर्ण ज्ञान एक विस्तृत विकास-प्रक्रिया है, किन्तु उसकी विकास की व्याख्या लाइबनित्स की व्याख्या से भिन्न है।[1]

फिख्टे इन्द्रिय-जगत् को कल्पना के व्यापार का फल मानता है। मन ही सवेदनाओं का सर्जन करता है, किन्तु यह व्यापार अचेतन होने से हमारी कल्पना

१ 'फिख्टे के दर्शन की अवधारणा, ज्ञान-मीमासा (विज्ञे . . . मरर्) की अपेक्षा बाद की कृतियों में अधिक स्पष्ट रूप में व्यक्त हुई है, दैवी या आत्मिक व्यवस्था की है, जिसकी अभिव्यक्ति या उपलब्धि ससीम आत्माएं है, और जिसके प्रकाश में मानव जीवन तथा उसका परिवेश बुद्धि के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के उच्चतर स्तरों की ओर निरन्तर अग्रसर होते हुए प्रतीत होते है। इस प्रत्यय के अन्तर्गत, विचार के प्रतिरोध जो दर्शन में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं--सत्ता और विचार, मन और प्रकृति, आत्मा और शरीर, स्वतन्त्रता और नियमन, स्वाभाविक प्रेरणा और नैतिक प्रयत्न, यान्त्रिकता और प्रयोजनता--समन्वित हो जाते हैं। अपने निर्दिष्ट स्थानों पर, वे उन अनेक स्तरों के विभिन्न पक्ष प्रतीत होते है, जिनसे होकर आत्मिक विधान अपने उद्देश्यों को पूरा करता है।' (एडेम्सन का फिख्टे, पृ० २१६-२०)

सवेदनाओ को बाह्य वस्तुओ पर आरोपित कर देती है, यानी सवेदनाओ का वास्तवीकरण कर देती है। फिर भी, कल्पना से हमें मात्र भ्रम नही प्राप्त होते, वल्कि न्यूनाधिक पूर्णत अभिव्यक्त सत्य प्राप्त होते है 'यदि यह दिखाया जाय, जैसा कि प्रस्तुत दर्शन में दिखाया जायगा, कि कल्पना के इसी व्यापार पर हमारी चेतनता, हमारे जीवन, हमारे अपने लिए होने की सम्भावना निर्भर है, कहा जाय कि हमारा अहम् रूप होना, तो कल्पना का यह व्यापार अशेष नही हो सकता, जब तक हम अपने अहम् से अनुचय न करें, जो करने में अन्तर्विरोध होगा, क्योकि जो भी अनुचय करता है अपने आप से नही कर सकता। तब तो कल्पना का यह व्यापार हमें छलता नही है, बल्कि हमें सत्य देता है, सम्भावित सत्य मात्र।' लगता है कि हमारे वस्तु-ज्ञान में दो पक्ष है। जहाँ तक वह सवेदना (यानी मन द्वारा अचेतन रूप से रचित विचार) है, वह नाहम् का उत्पाद है, वस्तु, जहाँ तक वह हमारे द्वारा चेतन रूप में 'अर्जित' विचार है या जिसमें किसी वस्तु का सकेत है, वह अहम् का उत्पाद है, विपयी। किन्तु अहम् और नाहम् का व्यापार अन्योन्यप्रेपित है, और उन दोनो का स्रोत मौलिक आत्मचेतना में है, जिससे वे अनिवार्यत उद्गत होते हैं।

फिख्टे का लाइवनित्स से सम्वन्ध स्पष्ट करने के लिए शेलिग् के शब्दो से भी सहायता ली जा सकती है 'लाइबनित्स के समय से, यदि हम गौण मतो को जो नगण्य है छोड दें, हम देखते है कि वास्तविक या ससीम को सामान्यत वैचारिक के क्षेत्र में रखा जाता है। सम्पूर्ण वास्तविक जगत् का अपने आप में कोई अस्तित्व नही, यदि है तो केवल आत्मा के पुन प्रस्तुतनो में। फिख्टे इस प्रत्ययवाद को अपनाता है, जो वास्तविक की स्वतन्त्र सत्ता का निपेध है, और इस सन्दर्भ में वह लाइबनित्स से आगे नही जाता है। उनके बीच यह भेद है। लाइबनित्स यह नही समझा सकता कि आत्मा या चिद्विन्दु उन प्रभावो का विपयी क्यो है जो उसमें ससीम प्रतिविम्वन उत्पन्न करते है, अथवा, यदि वह इसका कारण खोजने का प्रयत्न करता है, तो इसे ईश्वर में यानी असीम में स्थित करने के लिए विवश होता है, जिससे वह अपरिहार्य असगतियो में उलझ जाता है। दूसरी ओर, फिख्टे यह पाता है कि आत्मा के ससीम स्वभाव की व्याख्या स्वय आत्मा के पूर्णत स्वतन्त्र व्यापार में निहित है और इसका फल यह है कि आत्मा अपने ही व्यापार से अपने लिए अपने आपको ससीम बना कर निरपेक्ष सर्व से पृथक् कर लेता है, और अनुगमत

अपने आप पर भविष्य में इस निरपेक्ष सर्व का चिन्तन न करने तथा केवल निषेधो, सीमाओ, अपनी असीमता की परिधियो का चिन्तन करने की अनिवार्यता का आरोप कर लेती है।' अत, यह कहा जा सकता है कि लाइबनित्स के दर्शन में सकल्प और बुद्धि (रोचन तथा प्रत्यक्ष) वस्तुओ के समवर्त्ती तत्त्व (उदाहरणार्थ, ईश्वर का सकल्प उसके बोध से पूर्व नही, उसका बोध उसके सकल्प से पूर्व नही है) हैं, जब कि फिख्टे का दर्शन मूलत व्यावहारिक प्रत्ययवाद है, जिसमें सकल्प अन्तिम एव सबल है। लाइबनित्स के दर्शन में 'सर्वोत्तम का नियम' (असीम शुभ सकल्प की अभिव्यक्ति के रूप में नैतिक व्यवस्था का वास्तवीकरण करने की प्रवृत्ति) वास्तविक का निर्धारण (मात्र सम्भव अस्तित्व से व्यतिरिक्त रूप में) करता है, जब कि फिख्टे के दर्शन में वह सम्पूर्ण वास्तविकता या वस्तुओ के एक सस्थान का अन्तिम आधार है।[1]

शोपेनहावर

अपने दर्शन के मुख्य नियमो के चुनाव में शोपेनहावर, अचेतन रूप से, फिख्टे का ही अनुसरण करता है।[2] उसके चिन्तन का प्रारम्भिक बिन्दु वास्तविक विषयी के स्वभाव का कान्टीय विभाजन है। फिख्टे की भाँति, शोपेनहावर के दर्शन में भी सकल्प ही पारमार्थिक सत्ता है। सकल्प 'बोधगम्य स्वभाव' है, जो 'ऐन्द्रिक स्वभाव' का स्रोत है, सामान्य रूप में, सकल्प एक शुद्ध व्यापार है, जिससे आभासो के सस्थान का उद्गम होता है। इस प्रकार, सकल्प एव विचार का योग (फार्श्टेलुग् = प्रतिबिम्बन, आभास) ही जगत् है। निरपेक्ष शुद्ध रूप में सकल्प का ही व्यावहारिक व्यापार है, जो सापेक्ष, अथवा अन्योन्य हेतुमत् को जन्म देता है और एक प्रकार से व्याख्यातीत है, क्योकि हमारा बोध हेतुमत् की, अथवा प्राति-

१ फ़िख्टे, शेलिग् तथा लाइबनित्स के तुलनात्मक सदर्भों के लिए, देखें, वालेस हीगेल का तर्कशास्त्र, अध्याय ११, १२ तथा १३।

२ एडेम्सन के अनुसार, निराशावाद के अतिरिक्त, जो उसके दर्शन के लिए अनिवार्य नहीं है, शोपेनहावर के दर्शन में ऐसा कुछ नहीं जो फ़िख्टे के परवर्ती काल के ग्रन्थो में न मिलता हो। एडेम्सन के फ़िख्टे का पृ० २१६ देखें।

भासिक जगत् की सीमाओ का अतिक्रमण नही कर सकता । किन्तु इस पारमार्थिक सकल्प में ऐसा कोई तत्त्व नही जिसे हम नैतिक स्वभाव बता सकें । जगत् सर्वोत्तम की उपलब्धि के मार्ग पर अग्रसर नही है, बल्कि यह नित्य सकल्प के अस्तित्व में एक दुर्घटना है, और परम शुभ की प्राप्ति का यह उपाय नही है कि हम इस सकल्प (जीवित रहने के सकल्प) को अपने में स्वतन्त्र प्रसार दें, बल्कि इसका यथा-सम्भव दमन करें । 'सकल्प और विचार के रूप में जगत्' शब्दावली लाइबनित्स के द्रव्य सम्बन्धी मत का स्मरण कराता है, जिसमें द्रव्य को सारत रोचन और प्रत्यक्ष का योग माना गया था । किन्तु फिख्टे की भाँति शोपेनहावर ने भी सकल्प को तात्त्विक प्राथमिकता प्रदान की है, जैसा लाइबनित्स ने नही किया था । फिर, शोपेनहावर कान्ट के वर्गों को कारणता में घटाकर पर्याप्त युक्ति के नियम को बहुत महत्त्वपूर्ण बना देता है । इस नियम को वह प्रातिभासिक जगत् का अनुशासक मानता है । 'हमारे सभी विचार परस्पर नियमित सम्बन्ध में स्थित है, जिसके आकार का प्रागनुभवीय निर्धारण सम्भव है, और जिसके कारण जो कुछ आत्म-परिपूर्ण एव स्वतन्त्र है, जो कुछ व्यतिरिक्त और असपृक्त है, हमारे लिए वस्तु नही बन सकता । इस सम्बन्ध को ही पर्याप्त युक्ति का नियम अपनी सार्वभौमिकता द्वारा अभिव्यक्त करता है ।' विरोध के नियम को शोपेनहावर पर्याप्त युक्ति के नियम के अधीन मानता है । यह चिन्तन का एक सामान्य नियम है, जिसे आगमन से प्राप्त किया जाता है और 'पर-तर्क द्वारा सिद्ध' निर्णय के रूप में प्रयुक्त किया जाता है । यह दूसरे निर्णयो का आधार या पर्याप्त युक्ति हो सकता है । किन्तु यहाँ स्पष्टत शोपेनहावर के तार्किक सिद्धान्त तथा तत्त्वविद्या में असगति है । उसका निरपेक्ष या पारमार्थिक सकल्प वस्तुत विरोध के नियम से, अपने अमूर्त रूप में, निर्धारित है, क्योकि सकल्प वह है, जो निरपेक्षत है, जो सभी सम्बन्धो से पृथक् है, जो किसी रहस्यमय विधि से भेदो के सस्थान को उत्पन्न कर सकता है, किन्तु जिसका तादात्म्य उन सबसे पूर्णत स्वतन्त्र है । इस प्रकार, शोपेनहावर यद्यपि पर्याप्त युक्ति के नियम को पहले की अपेक्षा अधिक गहन एव व्यापक अर्थ देता है, इसे ही विरोध के नियम का भी आधार बना देता है, किन्तु अपने दर्शन की गतिविधि में इसे कोई परिवर्तन नही करने देता ।

हर्बार्ट

लाइबनित्स से सम्बन्ध रखने वाले दार्शनिको की शृंखला में हर्बार्ट एक ऐसा दार्शनिक है, जो पर्याप्त युक्ति के नियम को बिल्कुल हटा देना चाहता है। उसके अनुसार, दार्शनिक चिन्तन का उद्देश्य साधारण चेतना में व्याप्त असगत विचारो का सगत विचारो में रूपान्तर करना है।[1] हर्बार्ट रूपान्तर का अर्थ अनुचय समझता है। अनुभव का प्रत्येक अश प्रदत्त है, अत, उसमें कुछ-न-कुछ वास्तविकता अवश्य है। यह वास्तविकता, हेतुओ तथा अन्य वस्तुओ से सम्बन्धो से भिन्न, अपने आप में कुछ है। वास्तविक सदैव कुछ होता है, किसी प्रकार का 'यह' या 'वह'। किन्तु यह, फिख्टे के अर्थ में, निरपेक्ष स्थिति या निषेध रहित स्वीकृति है। इसमें निरपेक्ष आत्म-तादात्म्य है, इसलिए यह पूर्णत सरल है। यह लाइबनित्स के चिद्बिन्दु की भाँति, अपनी एकता में गुणो की बहुता लिए हुए द्रव्य नही है। यह शुद्ध गुण है, जिसमें कोई परिमाणात्मक तत्त्व या पक्ष नही है। अत, यह न तो विभाज्य सम्पूर्णता है और न अन्तररहित निरन्तरता। चिद्बिन्दुओ की भाँति इन 'वास्तविको' की असीम सख्या है और प्रत्येक शेष से भिन्न है। किन्तु वे पूर्णत अपरिवर्तनीय हैं, उनमें कोई लाइबनित्स के प्रत्यक्ष की समधर्मी विशेषता नही और वे अभेद्य नही है, क्योकि उनकी किसी भी सख्या को देश के एक ही बिन्दु में स्थित समझा जा सकता है। चिद्बिन्दुओ की ही भाँति, कोई 'वास्तविक' दूसरे पर क्रिया नही कर सकता, अन्यथा, वे निरपेक्ष नही रह सकते। और प्रत्येक 'वास्तविक' अनुभव की किसी एक ही घटना का अपरोक्ष कारण बन सकता है, अत जगत् की स्थिर विविधता प्रत्येक 'वास्तविक' की 'आत्म-सरक्षण' की शक्ति का परिणाम है। अनुभव के वास्तविक परिवर्तन 'वास्तविको' के विविध रूपो में प्रस्तुत होने के परिणाम हैं और वे इसलिए ऐसा करते है कि एक दूसरे के साथ

१ 'मात्र अपरोक्षित अनुभव, अथवा मात्र ऐंद्रिक ज्ञान केवल समस्याएँ प्रस्तुत करता है, यह रिक्त स्थानों के सकेत देता है, जिन पर विचार करने से पहले पहल केवल विरोध गहरे हो जाते हैं।' (वालेस हीगेल का मानस दर्शन, पृ० ६३)

विभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया करते हैं, यद्यपि इससे उनके मूल स्वभाव में कोई परिवर्तन नही होता, जैसा वर्ण-विरोध के आभास से स्पष्ट है। साथ ही, 'वास्तविको' के विभिन्न पारस्परिक सम्बन्धो का कारण यह है कि उन्हें किसी एक विन्दु पर एक साथ तथा एक दूसरे से पृथक् प्रत्ययित किया जा सकता है। फलत, आत्मा को, जो एक 'वास्तविक' है, शक्तियो, विभागो, गुणो आदि से युक्त नही प्रदर्शित किया जाना चाहिए। आत्मा पूर्णत सरल है और उसमें 'आत्म-सरक्षण' के अतिरिक्त कुछ नही है। यह 'आत्म-सरक्षण' 'वास्तविको' के परस्पर सम्बन्धित हो सकने की स्थायी सभावना है। इसमें स्वभावत मन के व्यापारो एव विशेषताओ का कुछ भी नही है। इन व्यापारो एव विशेषताओ को मन और आत्मा के अतिरिक्त अन्य वस्तुओ पर भी आरोपित किया जाना चाहिए। वे आभासो के नाम हैं, अथवा किन्ही 'वास्तविको' के, जो एक दूसरे के साथ किन्ही सम्बन्धो में स्थित हैं, पक्ष कहे जा सकते हैं। 'वास्तविको' की प्रातिभासिक प्रतिक्रियाओ का गणितीय आकलन सम्भव है। स्मरण रहे कि हर्बार्ट ही ऐंद्रिक मनोविज्ञान में गणितीय विधियो के प्रयोग का जन्मदाता है।[१] हर्बार्ट के लिए, यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि वह विरोध के नियम के अमूर्त्त प्रयोग का पक्षधर था। फिख्टे के प्रभाव को यदि छोड दिया जाय, तो यह मानना होगा कि हर्बार्ट का सम्पूर्ण प्रयत्न, पर्याप्त युक्ति के नियम के विना ही, लाइवनित्स के दर्शन को सगठित करने का था।

हीगेल लाइवनित्स के दर्शन में व्याप्त द्वैत का निराकरण

हम ऊपर देख चुके हैं कि लाइवनित्स ने विरोध और पर्याप्त युक्ति के नियमो की स्थापना द्वारा एक ऐसा द्वन्द्व स्थापित कर दिया कि जर्मन दार्शनिको की भावी परम्परा इसी के समन्वय में लग गयी। हीगेल ने भी इसे उठाया। उसने वूल्फ

१ हर्बार्ट का गणितीय विधियों का प्रयोग फ्रेशनर-सम्प्रदाय की मनोभौतिकी तथा आधुनिक शरीर विज्ञान पर आधारित मनोविज्ञान में पाये जाने वाले प्रयोगों से भिन्न है। पूर्ण विवरण के लिए, देखें, वालेस हीगेल का मानस दर्शन। हर्बार्ट के मनोविज्ञान में लाइवनित्स के अचेतन तथा लघु प्रत्यक्ष के सिद्धान्तों का भी उपयोग किया गया है।

से विपरीत दिशा में सोचा। उसके विचार से पर्याप्त युक्ति का नियम विरोध के नियम में पूर्व-कल्पित है और ये दोनो ही पृथक्-पृथक् आत्म-चेतनता के नियम की अमूर्त्त अभिव्यक्ति करते है। वास्तविक न पूर्णत स्व-स्थ है, जैसा कि वह होता यदि विरोध का नियम ही सर्वोपरि होता, न वह पूर्णत स्व-भिन्न है, जैसा कि वह होता यदि पर्याप्त युक्ति का नियम ही सर्वोपरि होता। वास्तविक स्व-भिन्न होकर ही स्व-स्थ होता है। कोई भी निर्णय न तो पूर्णत विश्लेषणात्मक होता है, न पूर्णत सश्लेषणात्मक। किसी विषयी पर किसी गुण का आरोप करने में हम केवल दूसरी वस्तुओ से भेद का आरोप नही करते, बल्कि जिससे भेद करते हैं उससे एकता का भी आरोप करते है।ससार एक ऐसी पूर्ण एकता का सस्थान है, जिसमें स्थित प्रतियोगी एक दूसरे के विरुद्ध नही विपरीत होते है। निरपेक्ष विरोध या निरपेक्ष भेद मात्र अनुचय है। जैसा लाइबनित्स ने कहा था, यह कहने का अर्थ कि कोई दो वस्तुएँ बिलकुल एक-सी नही होती यह होता है कि कोई दो वस्तुएँ पूर्णत भिन्न नही होती है। अ और अ-भिन्न की सार्थक प्रतियोगिता में, दोनो में कुछ समानता भी होनी चाहिए। कहा जाय, कि दोनो के भेद का कोई आधार होना चाहिए, यानी किसी एकता की पीठिका होनी चाहिए। दूसरी ओर, तादात्म्य में, यहाँ तक कि किसी वस्तु के आत्म-तादात्म्य में भी कुछ भेद अन्तर्भूत है। शुद्ध आधार या निरपेक्ष प्राथमिक तत्त्व होता ही नही, जो पर्याप्त कारण से स्वतन्त्र हो। हीगेल ससार को स्वय में एक निरपेक्ष सस्थान मानता है। जिस जगत् को हम जानते हैं वही एक जगत् है, और वह मात्र प्रातिभासिक सस्थान नहीं है, अर्थात् अपने विषमावयवो की अभिव्यक्ति नही है, न अनिर्धारित सकल्प-जैसे किसी अपने से भिन्न तत्त्व का उत्पाद है और न ही वह किसी पारमार्थिक निरपेक्ष का उत्पाद है। ससार अनन्त पारस्परिक निर्धारणो का सस्थान है, फिर भी स्थिर सस्थान नही है, न अनन्तत दुहराये जाने वाले वृत्ताकार परिवर्तनो का ही सस्थान है, क्योंकि यह मानने पर स्रोत या आश्रय के रूप में किसी बाह्य निरपेक्ष की पूर्व-कल्पना अपेक्षित होगी। वस्तुत यह उसका विकास है, जिसका अन्त उसके प्रारम्भ में है, जिसका पूरण स्वतन्त्र है, क्योंकि सर्वग्राहक होने से वह पूर्णत स्व-निर्धारित है।

हीगेल कहता है कि 'लाइबनित्स की निगाह में धारणा थी, जब उसने पर्याप्त आधार का कथन किया था और उसके दृष्टिकोण से वस्तुओ का अध्ययन करने पर

वल दिया था ।' धारणा से हीगेल का अर्थ 'एक वास्तविक एव स्वाभाविक रूप में निर्धारित और इसलिए स्वत क्रियावान् अवयव है ।' इस कथन से लाइवनित्स के चिद्विन्दु का भलीभाँति कथन हो सकता है, यदि हम चिद्विन्दु की निरपेक्ष विशिष्टता, उसका स्वतन्त्र इकाइयो की असीम शृखला से पृथक्करण ध्यान से हटा दें, अथवा चिद्विन्दु के प्रत्यय में से वह सव निकाल दें, जो विरोध के नियम के फलस्वरूप, या अपरोक्ष आत्म-तादात्म्य के नियम की अमूर्त्त रूप में व्याख्या के कारण है । यह पृथक्करण लाइवनित्स के चिद्विन्दु के प्रत्यय का एक आवश्यक अंग है । फलत , जहाँ एक ओर उसका चिन्तन विश्व के ऐसे दृष्टिकोण का सकेत करता है, जिसमें उसके अवयव आन्तरिक सगठन के माध्यम से एक सस्थान का निर्माण करते हैं, वही दूसरी ओर वह इस चिन्तन को तत्त्वविद्या के स्तर तक विकसित नही कर पाता, जैसे वह अपने तार्किक विश्लेषण में विरोध और पर्याप्त युक्ति के नियमो को समन्वित नही कर पाता है । लाइवनित्स के चिद्विन्दु, मुख्यत परम चिद्विन्दु जिसमें सभी कुछ एकीकृत करने का असफल प्रयत्न किया गया था, के विचार को हीगेल ने 'धारणा' में पूर्ण करने का प्रयास किया है । 'धारणा' में सभी कुछ अन्तर्भूत है, और उसके अन्तर्भाव की उपलब्धि तार्किक पूरण में हो जाती है । चिद्विन्दु की भाँति 'धारणा' न काल में है और न देश में, इसमें दोनों ही सम्मिलित हैं । अन्तर यह है कि लाइवनित्स का पूरण एक आधारभूत गुण (जो प्रत्यक्ष की स्पष्टता एव पृथक्ता है) एक निरन्तर अभिवृद्धि है, जव कि हीगेल उसे अपेक्षाकृत अमूर्त्त से प्रारम्भ कर सहसम्वन्धित अनुचय से होती हुई, अपेक्षाकृत मूर्त्त (जिसमें दोनो का समन्वय हो जाता है) तक पहुँचने वाली द्वन्द्वात्मक गति ठहराता है । लाइवनित्स के लिए, पूरण में अल्प से महत् की ओर गति होती है, हीगेल का पूरण भागो से पूर्णों का, अस्पष्ट तथा अनिर्धारित से निश्चित एव निर्धारित का विकास है ।

लाइवनित्स कहता है कि चिद्विन्दु अपने से वाहर नही जा सकता, उसके भीतर कुछ भी वाहर से नही आ सकता, उसे वाह्य प्रभाव छू नही सकता, हीगेल इसे यूं प्रस्तुत करता है विचार, अथवा आत्म-चेतना ही वास्तविकता है—विश्व, फलत न उसके पार कुछ है और न वह अपने पार जा सकती है । वैचारिक रूप से उसका विभाजन किया जा सकता है, किन्तु वस्तुत 'उससे वाह्य' कुछ है ही

नही वह जायगी कहाँ। इसी प्रकार, वैचारिक रूप से चिद्‌विन्दु को सक्रिय और अक्रिय तत्वो, या चेतन सत्ता तथा प्राथमिक पदार्थ में बाँट दिया जा सकता है, किन्तु विभाजन वैचारिक होने से आदान-प्रदान की कोई गुंजाइश नही। लाइवनित्स 'प्रत्यक्ष' को अपने निम्नतम रूप या प्रतिविम्बन या अभिव्यक्ति मान कर चेतना एव आत्म-चेतना को उसका पूरण या विकास दिखाता है, हीगेल प्रतिविम्बन या व्यापक अर्थ में सम्बन्ध को अपने उच्चतम रूप में लेकर उसे आत्म-चेतना ठहराता है और उसके लघु रूपो को अमूर्त्त, अथवा अपूर्ण पूर्वाभास दिखाता है। हीगेल तथा लाइवनित्स दोनों ही के लिए विश्व सर्वत्र आगिक है। इसका कोई भी अग ऐसा नही जो आत्म-निर्धारित न हो, क्योकि सम्पूर्ण और उसके अगो में पूर्ण एकता है, अत किसी भी अग की स्वतन्त्र वास्तविकता स्थापित नही की जा सकती। हीगेल के अनुसार उक्त एकता मात्र दृष्टान्त नही है, वह वहुत ही घनिष्ठ एकता है, जो अपने को सम्भवत अधिकतम भेदो में व्यक्त करती है। वह आत्म-चेतना को ही मूर्त्त एव अमूर्त्त रूप में सम्पूण के प्रत्येक भाग का सत्य मानता है। सक्षेपत, यह कहा जा सकता है कि लाइवनित्स के द्रव्य सम्वन्धी विचार में, द्रव्य को विषयी के रूप में वस्तुओ का अन्तिम सत्य स्थापित करने का जो सकेत व्याप्त था उसे हीगेल ने व्यक्त कर दिया।

लाइवनित्स की परिकल्पनाओ का लोज़े द्वारा पुनर्निर्माण

लोज़े के विचार से हीगेल ने अपने 'साहसपूर्ण अद्वैत' में 'मानवीय शक्तियो द्वारा प्राप्य से वहुत अधिक की प्रतिज्ञा की थी' किन्तु 'उसके कार्यान्वियन के दोषो के कारण उसके मुख्य विचार का मूल्य वहुत कम हो गया।'[१] लोज़े के ख्याल से हीगेल का मुख्य विचार 'प्रतियोगियो का समन्वय' है, यानी सम्पूर्ण ज्ञान की व्यवस्थित एकता में विचार की असगतियो को समन्वित कर देना। लोज़े की 'विचार' की व्याख्या हीगेल की व्याख्या से वहुत भिन्न है। लोज़े की व्याख्या तथा विचार की असगतियो के समन्वय की विधि हीगेल की अपेक्षा हर्वार्ट के समीप

१ लोज़े, अथवा लोत्से तत्त्वविद्या, पु० १, अ० ७, §८८ (अग्रेजी अनुवाद भाग १, पृ० २०६)

है । हर्बार्ट की भाँति, वह विचार को विश्लेषणात्मक मानता है । विचार सत्ता या वास्तविकता का निर्माण नही, उसकी व्याख्या करता है । अत , विज्ञान, अथवा दर्शन का कार्य वास्तविकता के सम्पूर्ण विकास का प्रदर्शन करते हुए किसी सर्वव्यापक सस्थान की स्थापना नही, वल्कि ज्ञान को एकाकार करना तथा साधारण अनुभव में अन्तर्भूत असगतियो को दूर करना है । विचार वस्तुओ के आन्तरिक स्वभाव में प्रविष्ट नही हो सकता । वह वस्तुओ के स्वभाव को इस हद तक नहीं समझ सकता कि उनका निर्माण कर सके । भौतिक विज्ञान की भाषा में, विचार वर्णन कर सकता है, व्याख्या नही कर सकता । वह घटनाओ के विवरण प्रस्तुत कर सकता है, वस्तुओ के सम्बन्धो को सामान्य नियमो द्वारा व्यक्त कर सकता है, और सम्भवत उन नियमो को एक सस्थान में व्यवस्थित कर सकता है, किन्तु विचार यह नही वता सकता कि वस्तुएँ अपने आप में क्या हैं, वे मूलत कहाँ से आयीं और वे इसी प्रकार की क्यो हैं, किसी अन्य प्रकार की क्यो नही हैं । सक्षेपत, विचार पूर्ण रूप में विरोध के नियम द्वारा शासित है । पर्याप्त युक्ति का नियम (लाइवनित्स के अर्थ में) इसकी पहुँच के वाहर है । 'वास्तविकता विचार की अपेक्षा असीमत सम्पन्न है हम जानते हैं कि वस्तुत वास्तविकता के स्वभाव से जो फल प्राप्त होते हैं वे हमारे लिए अचिन्त्य हैं । वह हमें शिक्षा देती है कि सत्ता और अ-सत्ता, जैसा कि उनके विषय में सोचना हमारी विवशता थी, प्रत्येक विषयी के प्रतियोगी विधेय नही है, वल्कि उनके वीच एक विकल्प है जो उन दोनों के सयोग से उत्पन्न हो जाता है और जिसकी रचना हम विचार में नही कर सकते । इस प्रकार, यह समझा जा सकता है कि इतने स्वच्छन्द कथन का साहस किस तरह हुआ कि विरोध ही वास्तविक के सत्य का निर्माण करता है । जिन्होंने इसे प्रयुक्त किया उन्होने उसे विरोधी समझा, जो तार्किक नियमो से श्रेष्ठ हो—जो वस्तुत उनके उचित प्रयोग का खण्डन नही करता है, किन्तु इस प्रकार के प्रयोग के फलस्वरूप जिसका कोई भावात्मक अनुमान नही किया जा सकता ।"[1]

१ लोत्ज़े तत्त्वविद्या, पु० १, अ० ६, ९७६ (अंग्रेज़ी अनुवाद, भाग १, पृ० १७८–७९)

लोज़े द्वारा फ़िख्टे, शेलिंग् और हीगेल के प्रत्ययवाद के खण्डन का मुख्य कारण यह है कि उक्त दार्शनिको ने 'प्राकृतिक दर्शन' की उचित व्याख्या न की। उनके विचार में अपनी निरपेक्षता का इतना अधिक आत्म-विश्वास था कि उन्होंने अपने प्राकृतिक दर्शन में तथ्यो की उपेक्षा की। अत वैज्ञानिक की हैसियत से लोज़े के लिए विचार को 'प्रत्ययवाद के ऊँचे घोडे' से उतारना जरूरी हो गया। उसने उसे साधारण निरीक्षण एव वर्णन का काम सौंपने का निश्चय किया। 'चिकित्सा-शास्त्र ने जिसके अध्ययन को मैंने अपने जीवन का कार्य चुना था, मेरे लिए भौतिक विज्ञान का ज्ञान अर्जित करना आवश्यक कर दिया, और फलत (सक्षेप में) मैंने देखा किस प्रकार हीगेल के विचारो का बहुत बडा भाग अथवा, जिस रूप में प्रस्तुत किये गये है, पूरे के पूरे सम्पूर्णत असाध्य है।'[1] चिकित्सा-शास्त्र के अध्ययन के ही कारण, लोज़े अपने इस प्रमुख विचार तक पहुँचा कि घटनाओ के सम्बन्धो की व्याख्या के लिए व्यापक रूप में यान्त्रिकता को स्वीकार किया जाना चाहिए। जोहैन्स म्यूलर (१८०१-५८) जो 'आधुनिक शरीर-विज्ञान का जन्मदाता' माना जाता है, यान्त्रिकता के विचार की जीवन-सम्बन्धी घटनाओ में व्याप्ति दिखा कर जीवन-विज्ञान सम्बन्धी चिन्तन में क्रान्ति कर चुका था। लोज़े ने एक लम्बा कदम उठा कर यान्त्रिकता की परिभाषा इस प्रकार की 'सभी सार्वभौम नियमो का सम्बन्ध-सूत्र, जिसके अनुसार सृष्ट जगत् का प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दूसरे व्यक्ति पर क्रिया करता है।'[2] वह यान्त्रिकता के क्षेत्र में निर्जीव एव सजीव पिण्डों की घटनाओ ही को नही, मानसिक घटनाओ को भी सम्मिलित कर लेता है। 'जगत् के निर्माण में यान्त्रिकता का व्यापार, बिना किसी अपवाद के, अपने विस्तार में सार्वभौम है।' यान्त्रिकता के प्रत्यय से सभी विज्ञान अनुशासित है, क्योकि विरोध का नियम हमारे सम्पूर्ण चिन्तन का नियम है और यह नियम केवल अनुभव के प्रदत्तो को ग्रहण कर सकता है और उनके नियमो को व्यवस्थित कर सकता है।

१ विरोध लेख, पृ० ७।

२ वही, पृ० ५७।

है । ह्र्बार्ट की भाँति, वह विचार को विश्लेषणात्मक मानता है । विचार सत्ता या वास्तविकता का निर्माण नही, उसकी व्याख्या करता है । अत , विज्ञान, अथवा दर्शन का कार्य वास्तविकता के सम्पूर्ण विकास का प्रदर्शन करते हुए किसी सर्वव्यापक सस्थान की स्थापना नही, बल्कि ज्ञान को एकाकार करना तथा साधारण अनुभव में अन्तर्भूत असगतियो को दूर करना है । विचार वस्तुओ के आन्तरिक स्वभाव में प्रविष्ट नही हो सकता । वह वस्तुओ के स्वभाव को इस हद तक नही समझ सकता कि उनका निर्माण कर सके । भौतिक विज्ञान की भाषा में, विचार वर्णन कर सकता है, व्याख्या नही कर सकता । वह घटनाओ के विवरण प्रस्तुत कर सकता है, वस्तुओ के सम्वन्धो को सामान्य नियमो द्वारा व्यक्त कर सकता है, और सम्भवत उन नियमो को एक सस्थान में व्यवस्थित कर सकता है, किन्तु विचार यह नही बता सकता कि वस्तुएँ अपने आप में क्या है, वे मूलत कहाँ से आयी और वे इसी प्रकार की क्यो है, किसी अन्य प्रकार की क्यो नही है । सक्षेपत, विचार पूर्ण रूप में विरोध के नियम द्वारा शासित है । पर्याप्त युक्ति का नियम (लाइवनित्स के अर्थ में) इसकी पहुँच के वाहर है । 'वास्तविकता विचार की अपेक्षा असीमत सम्पन्न है हम जानते है कि वस्तुत वास्तविकता के स्वभाव से जो फल प्राप्त होते है वे हमारे लिए अचिन्त्य है । वह हमें शिक्षा देती है कि सत्ता और अ-सत्ता, जैसा कि उनके विषय में सोचना हमारी विवशता थी, प्रत्येक विषयी के प्रतियोगी विधेय नही है, वल्कि उनके वीच एक विकल्प है जो उन दोनों के सयोग से उत्पन्न हो जाता है और जिसकी रचना हम विचार में नही कर सकते । इस प्रकार, यह समझा जा सकता है कि इतने स्वच्छन्द कथन का साहस किस तरह हुआ कि विरोध ही वास्तविक के सत्य का निर्माण करता है । जिन्होने इसे प्रयुक्त किया उन्होने उसे विरोधी समझा, जो तार्किक नियमो से श्रेष्ठ हो—जो वस्तुत उनके उचित प्रयोग का खण्डन नही करता है, किन्तु इस प्रकार के प्रयोग के फलस्वरूप जिसका कोई भावात्मक अनुमान नही किया जा सकता ।"[1]

१ लोज़े तत्त्वविद्या, पु० १, अ० ६, ९७६ (अंग्रेज़ी अनुवाद, भाग १, पृ० १७८–७९)

लोजे द्वारा फिख्टे, शेलिंग् और हीगेल के प्रत्ययवाद के खण्डन का मुख्य कारण यह है कि उक्त दार्शनिको ने 'प्राकृतिक दर्शन' की उचित व्याख्या न की। उनके विचार में अपनी निरपेक्षता का इतना अधिक आत्म-विश्वास था कि उन्होंने अपने प्राकृतिक दर्शन में तथ्यो की उपेक्षा की। अत वैज्ञानिक की हैसियत से लोजे के लिए विचार को 'प्रत्ययवाद के ऊँचे घोडे' से उतारना जरूरी हो गया। उसने उसे साधारण निरीक्षण एव वर्णन का काम सौंपने का निश्चय किया। 'चिकित्सा-शास्त्र ने जिसके अध्ययन को मैंने अपने जीवन का कार्य चुना था, मेरे लिए भौतिक विज्ञान का ज्ञान अर्जित करना आवश्यक कर दिया, और फलत (सक्षेप में) मैंने देखा किस प्रकार हीगेल के विचारो का वहुत वडा भाग अथवा, जिस रूप में प्रस्तुत किये गये हैं, पूरे के पूरे सम्पूर्णत असाध्य हैं।'[1] चिकित्सा-शास्त्र के अध्ययन के ही कारण, लोजे अपने इस प्रमुख विचार तक पहुँचा कि घटनाओ के सम्बन्धो की व्याख्या के लिए व्यापक रूप में यान्त्रिकता को स्वीकार किया जाना चाहिए। जोहैन्स म्यूलर (१८०१-५८) जो 'आधुनिक शरीर-विज्ञान का जन्मदाता' माना जाता है, यान्त्रिकता के विचार की जीवन-सम्बन्धी घटनाओ में व्याप्ति दिखा कर जीवन-विज्ञान सम्बन्धी चिन्तन में क्रान्ति कर चुका था। लोजे ने एक लम्बा कदम उठा कर यान्त्रिकता की परिभाषा इस प्रकार की 'सभी सार्वभौम नियमो का सम्बन्ध-सूत्र, जिसके अनुसार सृष्ट जगत् का प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दूसरे व्यक्ति पर क्रिया करता है।'[2] वह यान्त्रिकता के क्षेत्र में निर्जीव एव सजीव पिण्डों की घटनाओ ही को नही, मानसिक घटनाओ को भी सम्मिलित कर लेता है। 'जगत् के निर्माण में यान्त्रिकता का व्यापार, विना किसी अपवाद के, अपने विस्तार में सार्वभौम है।' यान्त्रिकता के प्रत्यय से सभी विज्ञान अनुशासित हैं, क्योंकि विरोध का नियम हमारे सम्पूर्ण चिन्तन का नियम है और यह नियम केवल अनुभव के प्रदत्तो को ग्रहण कर सकता है और उनके नियमो को व्यवस्थित कर सकता है।

१ विरोध लेख, पृ० ७।
२ वही, पृ० ५७।

किन्तु, लोजे इससे भी सहमत नही है कि यान्त्रिकता हमें जगत् की वास्तविकता की अन्तिम व्याख्या दे सकती है। विज्ञान के नियम घटनाओ के नियम हैं, वे स्वय वस्तुओ की व्याख्या नही करते। हम कह सकते हैं कि वस्तुओ का सार दूसरी वस्तुओ के सम्वन्धो में स्थित होना है। किन्तु स्वय वस्तु सम्वन्धो से कुछ अधिक है और यान्त्रिकता केवल सम्वन्धो का विवरण प्रस्तुत करती है। अत, 'यान्त्रिकता का व्यापार' जहाँ 'विस्तार की दृष्टि से जगत् के निर्माण में सार्वभौम है' वही 'अपने महत्त्व की दृष्टि से पूरी तरह गौण है।' जैसे मात्र विचार वास्तविकता के प्रति अपूर्ण है, उसी प्रकार यान्त्रिकता, अर्थात् नियमो का वह सस्थान जिसे खोजना और प्रकट करना विज्ञान का कार्य है, नित्यत अनिवार्य सस्थान नही है कि वस्तुओ के स्वभाव तक का निर्माण कर दे। वह तो केवल एक विधि है जिससे सर्वोपरि विचार, अथवा शुभ ने स्वतन्त्र रूप से अपने को व्यक्त करने का निर्णय किया है। अत, विचार नही शुभता सर्वोपरि है, और 'यान्त्रिकता की स्थापना करना निरपेक्ष का प्रथम नैतिक कार्य है। यह तथ्य कि सार्वभौम नियमो का राज्य है मुझे उसी ससार में बोधगम्य प्रतीत होता है जिसका सर्वोपरि नियम नैतिक हो, दूसरा ससार (यदि मैं अपने लिए इसकी धारणा बनाने का प्रयत्न कर पाता, जो मेरे लिए अनर्गल है) मुझे लगता है कि वन सकता था—विना इस क्रमिकता के सूत्र वाला ससार, पुरानी तत्त्वविद्या के अर्थ में विना इस सत्यता का ससार।' लोज़े के लिए, अन्तिम सत्य एक व्यक्तित्वधारी ईश्वर है, जो उच्चतम नैतिक आदर्शों को अपने सामने रखता है और एक 'उचित नियमो के सस्थान की जो जगत् का शासन करता है' स्थापना की है, जिससे उन आदर्शों को सर्वोत्तम विधि से प्राप्त किया जा सके। विचार पूर्ण अनुभव की प्राप्ति का साधन है, यान्त्रिकता सर्वोत्तम की उपलब्धि का साधन है। ईश्वर से वाह्य 'वस्तुओ का स्वभाव' है ही नही जो उसकी इच्छा को सीमित कर सके। किन्तु उसकी इच्छा स्वच्छन्द नही है, वल्कि सर्वोत्तम के पूर्ण विचार से शासित है।

इस सब में लाइवनित्स का प्रभाव वहुत स्पष्ट है। लोज़े के अनुसार, हम वास्तविक जगत् को चिद्‌विन्दु जगत् मानने के लिए विवश हैं, क्योंकि यान्त्रिकता के वावजूद, जो वस्तुओ के पारस्परिक सम्वन्धो को नियन्त्रित करने वाले नियमो का सस्थान है, स्वय वस्तुएँ या तथ्य हैं, जिन्हे चिद्‌विन्दु प्रत्ययित किया जा सकता है।

और नियम तथा तथ्य दोनो ही एक सार्वभौम एव सर्व-व्यापक द्रव्य की अपेक्षा करते हैं, जो केवल विचार की स्थापना है, किन्तु भावना के लिए एक सत्ता है, और तथ्यो के क्षेत्र में उच्चतम नैतिक उद्देश्यो को नियमो द्वारा प्राप्त कराती है, किन्तु बिना व्यक्तित्ववान् ईश्वर के विचार के इसे समझा नही जा सकता । वस्तुओ को चिद्-बिन्दु समझना चाहिए, क्योकि प्रकृति को सर्वत्र जीव-व्याप्त समझना है । सभी वस्तुओ को 'सवेदन और भोग के प्रकार' प्रदान किये गये हैं ।[1] अन्यथा हमें सम्पूर्ण प्रकृति को मानवीय चेतना के नाट्य का यन्त्र मात्र समझना होगा यह एक ऐसी दृष्टि है, जो हमारी 'इच्छाओ' एव 'आकाक्षाओ' को कभी सन्तुष्ट न कर सकेगी । किन्तु यह चिद्बिन्दु विद्या 'अविस्तृत अणुओ की परिकल्पना' से अधिक कुछ नही है । लोजे यह नही मानता कि विचार इस चिद्बिन्दु विद्या के सत्य का निर्धारण कर सकता है, क्योकि यह वस्तुओ के स्वभाव की परिकल्पना है,और विचार वस्तुओ के सम्बन्धों का ही होता है । 'चिद्बिन्दु विद्या एक प्रत्यय है जिसके सत्य होने का हमें विश्वास है, फिर भी जिससे हम इससे अधिक कुछ भी आशा नही कर सकते कि कल्पना के स्वप्नो से यह शायद उस प्रकार का हो जो वास्तविक तथ्यो का खण्डन नही करते ।'

लोजे यहाँ कान्ट से अधिक सहमत है, लाइबनित्स से नही । वह चिद्बिन्दुओ को लाइबनित्स की भाँति पूर्णत पृथक् नही मानता, जिससे उनके सम्बन्ध उन्ही में सिमटे रहें । यदि लाइबनित्स का मत सत्य है, तो 'जब कि कोई भी अग (वास्तविक जगत् का) दूसरे को सीमित नही करता, सब कुछ इस प्रकार होता है मानो वे सभी ऐसा कर रहे हो, तदनुसार, जब कि यह किसी पूर्ण का निर्माण नही करता, इसकी ओर ध्यान देने वाली बुद्धि को लगेगा कि यह ऐसा ही करता है, और, एक शब्द में, इसकी वास्तविकता उस आन्तरिक सगति की रिक्त एव भ्रमपूर्ण अनुकृति है जिसके लिए कहा गया था कि यही अन्तिम युक्ति है कि इसकी उपलब्धि क्यो सम्भव है ।' लोजे के अनुसार, 'प्रत्येक एकाकी वस्तु या घटना को एक अस्तित्व का स्थिर या क्षणिक व्यापार समझा जा सकता है, उसकी वास्तविकता एव द्रव्य को इसी एक

१ लघु विश्व, पु० ३, अ० ४, §३ (अग्रेजी अनुवाद, भाग १, पृ० ३६०)

किन्तु, लोज़े इससे भी सहमत नही है कि यान्त्रिकता हमें जगत् की वास्तविकता की अन्तिम व्याख्या दे सकती है। विज्ञान के नियम घटनाओ के नियम हैं, वे स्वय वस्तुओ की व्याख्या नही करते। हम कह सकते हैं कि वस्तुओ का सार दूसरी वस्तुओ के सम्वन्धो में स्थित होना है। किन्तु स्वय वस्तु सम्वन्धो से कुछ अधिक है और यान्त्रिकता केवल सम्वन्धो का विवरण प्रस्तुत करती है। अत, 'यान्त्रिकता का व्यापार' जहाँ 'विस्तार की दृष्टि से जगत् के निर्माण में सार्वभौम है' वही 'अपने महत्त्व की दृष्टि से पूरी तरह गौण है।' जैसे मात्र विचार वास्तविकता के प्रति अपूर्ण है, उसी प्रकार यान्त्रिकता, अर्थात् नियमो का वह सस्थान जिसे खोजना और प्रकट करना विज्ञान का कार्य है, नित्यत अनिवार्य सस्थान नहीं है कि वस्तुओ के स्वभाव तक का निर्माण कर दे। वह तो केवल एक विधि है जिससे सर्वोपरि विचार, अथवा शुभ ने स्वतन्त्र रूप से अपने को व्यक्त करने का निर्णय किया है। अत, विचार नही शुभता सर्वोपरि है, और 'यान्त्रिकता की स्थापना करना निरपेक्ष का प्रथम नैतिक कार्य है। यह तथ्य कि सार्वभौम नियमो का राज्य है मुझे उसी ससार में वोधगम्य प्रतीत होता है जिसका सर्वोपरि नियम नैतिक हो, दूसरा ससार (यदि मैं अपने लिए इसकी धारणा वनाने का प्रयत्न कर पाता, जो मेरे लिए अनर्गल है) मुझे लगता है कि वन सकता था—विना इस क्रमिकता के सूत्र वाला ससार, पुरानी तत्त्वविद्या के अर्थ में विना इस सत्यता का ससार।' लोज़े के लिए, अन्तिम सत्य एक व्यक्तित्वधारी ईश्वर है, जो उच्चतम नैतिक आदर्शों को अपने सामने रखता है और एक 'उचित नियमो के सस्थान की जो जगत् का शासन करता है' स्थापना की है, जिससे उन आदर्शों को सर्वोत्तम विधि से प्राप्त किया जा सके। विचार पूर्ण अनुभव की प्राप्ति का साधन है, यान्त्रिकता सर्वोत्तम की उपलब्धि का साधन है। ईश्वर से वाह्य 'वस्तुओ का स्वभाव' है ही नही जो उसकी इच्छा को सीमित कर सके। किन्तु उसकी इच्छा स्वच्छन्द नही है, वल्कि सर्वोत्तम के पूर्ण विचार से शासित है।

इस सव में लाइवनित्स का प्रभाव वहुत स्पष्ट है। लोज़े के अनुसार, हम वास्तविक जगत् को चिद्‌विन्दु जगत् मानने के लिए विवश हैं, क्योकि यान्त्रिकता के वावजूद, जो वस्तुओ के पारस्परिक सम्वन्धो को नियन्त्रित करने वाले नियमो का सस्थान है, स्वय वस्तुएँ या तथ्य हैं, जिन्हें चिद्‌विन्दु प्रत्ययित किया जा सकता है।

और नियम तथा तथ्य दोनो ही एक सार्वभौम एव सर्व-व्यापक द्रव्य की अपेक्षा करते हैं, जो केवल विचार की स्थापना है, किन्तु भावना के लिए एक सत्ता है, और तथ्यों के क्षेत्र में उच्चतम नैतिक उद्देश्यो को नियमो द्वारा प्राप्त कराती है, किन्तु बिना व्यक्तित्ववान् ईश्वर के विचार के इसे समझा नही जा सकता । वस्तुओं को चिद्-बिन्दु समझना चाहिए, क्योंकि प्रकृति को सर्वत्र जीव-व्याप्त समझना है । सभी वस्तुओं को 'संवेदन और भोग के प्रकार' प्रदान किये गये है ।[1] अन्यथा हमें सम्पूर्ण प्रकृति को मानवीय चेतना के नाटय का यन्त्र मात्र समझना होगा यह एक ऐसी दृष्टि है, जो हमारी 'इच्छाओं' एव 'आकाक्षाओं' को कभी सन्तुष्ट न कर सकेगी । किन्तु यह चिद्बिन्दु विद्या 'अविस्तृत अणुओ की परिकल्पना' से अधिक कुछ नहीं है । लोजे यह नही मानता कि विचार इस चिद्बिन्दु विद्या के सत्य का निर्धारण कर सकता है, क्योंकि यह वस्तुओ के स्वभाव की परिकल्पना है,और विचार वस्तुओं के सम्बन्धों का ही होता है । 'चिद्बिन्दु विद्या एक प्रत्यय है जिसके सत्य होने का हमें विश्वास है, फिर भी जिससे हम इससे अधिक कुछ भी आशा नही कर सकते कि कल्पना के स्वप्नो से यह शायद उस प्रकार का हो जो वास्तविक तथ्यो का खण्डन नही करते ।'

लोजे यहाँ कान्ट से अधिक सहमत है, लाइबनित्स से नही । वह चिद्बिन्दुओं को लाइबनित्स की भाँति पूर्णत पृथक् नही मानता, जिससे उनके सम्बन्ध उन्ही में सिमटे रहें । यदि लाइबनित्स का मत सत्य है, तो 'जब कि कोई भी अग (वास्तविक जगत् का) दूसरे को सीमित नही करता, सब कुछ इस प्रकार होता है मानो वे सभी ऐसा कर रहे हों, तदनुसार, जब कि यह किसी पूर्ण का निर्माण नही करता, इसकी ओर ध्यान देने वाली बुद्धि को लगेगा कि यह ऐसा ही करता है, और, एक शब्द में, इसकी वास्तविकता उस आन्तरिक सगति की रिक्त एव भ्रमपूर्ण अनुकृति है जिसके लिए कहा गया था कि यही अन्तिम युक्ति है कि इसकी उपलब्धि क्यो सम्भव है ।' लोजे के अनुसार, 'प्रत्येक एकाकी वस्तु या घटना को एक अनिवार्य या स्थिर या क्षणिक व्यापार समझा जा सकता है, उसकी वास्तविकता एव द्रव्य को हमी ...

१ लघु विश्व, पु० ३, अ० ४, §३ (अंग्रेजी अनुवाद, भाग १, पृ० २६०)

किन्तु, लोजे इससे भी सहमत नही है कि यान्त्रिकता हमें जगत् की वास्तविकता की अन्तिम व्याख्या दे सकती है। विज्ञान के नियम घटनाओ के नियम है, वे स्वय वस्तुओ की व्याख्या नही करते। हम कह सकते हैं कि वस्तुओ का सार दूसरी वस्तुओ के सम्वन्धो में स्थित होना है। किन्तु स्वय वस्तु सम्वन्धो से कुछ अधिक है और यान्त्रिकता केवल सम्वन्धो का विवरण प्रस्तुत करती है। अत, 'यान्त्रिकता का व्यापार' जहाँ 'विस्तार की दृष्टि से जगत् के निर्माण में सार्वभौम हैं' वही 'अपने महत्त्व की दृष्टि से पूरी तरह गौण है।' जैसे मात्र विचार वास्तविकता के प्रति अपूर्ण है, उसी प्रकार यान्त्रिकता, अर्थात् नियमो का वह सस्थान जिसे खोजना और प्रकट करना विज्ञान का कार्य है, नित्यत अनिवार्य सस्थान नहीं है कि वस्तुओ के स्वभाव तक का निर्माण कर दे। वह तो केवल एक विधि है जिससे सर्वोपरि विचार, अथवा शुभ ने स्वतन्त्र रूप से अपने को व्यक्त करने का निर्णय किया है। अत, विचार नही शुभता सर्वोपरि है, और 'यान्त्रिकता की स्थापना करना निरपेक्ष का प्रथम नैतिक कार्य है। यह तथ्य कि सार्वभौम नियमो का राज्य है मुझे उसी ससार में वोधगम्य प्रतीत होता है जिसका सर्वोपरि नियम नैतिक हो, दूसरा ससार (यदि मैं अपने लिए इसकी धारणा वनाने का प्रयत्न कर पाता, जो मेरे लिए अनर्गल है) मुझे लगता है कि वन सकता था—विना इस क्रमिकता के सूत्र वाला ससार, पुरानी तत्त्वविद्या के अर्थ में विना इस सत्यता का ससार।' लोजे के लिए, अन्तिम सत्य एक व्यक्तित्वधारी ईश्वर है, जो उन्नतम नैतिक आदर्शों को अपने सामने रखता है और एक 'उचित नियमो के सस्थान की जो जगत् का शासन करता है' स्थापना की है, जिससे उन आदर्शों को सर्वोत्तम विधि से प्राप्त किया जा सके। विचार पूर्ण अनुभव की प्राप्ति का साधन है, यान्त्रिकता सर्वोत्तम की उपलब्धि का साधन है। ईश्वर से वाह्य 'वस्तुओ का स्वभाव' है ही नही जो उसकी इच्छा को सीमित कर सके। किन्तु उसकी इच्छा स्वच्छन्द नही है, वल्कि सर्वोत्तम के पूर्ण विचार से शासित है।

इस सव में लाइवनित्स का प्रभाव वहुत स्पष्ट है। लोजे के अनुसार, हम वास्तविक जगत् को चिद्विन्दु जगत् मानने के लिए विवश हैं, क्योकि यान्त्रिकता के वावजूद, जो वस्तुओ के पारस्परिक सम्वन्धो को नियन्त्रित करने वाले नियमो का सस्थान है, स्वय वस्तुएँ या तथ्य हैं, जिन्हें चिद्विन्दु प्रत्ययित किया जा सकता है।

लाइबनित्स के अन्य प्रभाव

दर्शन के क्षेत्र से वाहर लाइवनित्स के मतो का बहुत व्यापक प्रभाव पडा। लेसिंग, और हर्डर की कृतियो ने उन्हें जर्मन साहित्य में व्याप्त किया।[1] अग्रेजी साहित्य में, पोप के 'मनुष्य पर लेख' में, यद्यपि उसके मत के व्यग्य का रूप दिया गया है, 'देवविद्या' का प्रभाव स्पष्ट है। साहित्य में ही नही, प्राकृतिक विज्ञान में भी उसका प्रभाव वितरित हुआ था। अगी के विषय में उसका यह विचार कि वह छोटे-छोटे अगियो का व्यवस्थित समूह है जीव-विज्ञान में अनेक प्रकार से व्यक्त हुआ है। श्वान का कोष-सिद्धान्त इसी विचार का वैज्ञानिक परीक्षण समझा जा सकता है। जोहैन्स मुलर का कोषो को 'आगिक चिद्‌विन्दु' सज्ञा देना लाइवनित्स के प्रभाव को प्रमाणित करता है। लाइवनित्स के लघु प्रत्यक्षो के विचार का ही प्रभाव था कि मनोविज्ञान में 'अचेतन' प्रक्रियाओ की खोज हुई और सवेदनाओ एव प्रत्यक्षो का ऐसे तत्त्वो में विश्लेषण किया जाने लगा, जो पृथक्-पृथक् प्रत्यक्ष के स्तर तक नही पहुँच पाते। हार्टमैन का 'अचेतन का दर्शन' वस्तुत लाइबनित्स के दर्शन से प्रभावित है। 'जो वास्तविक है, वह व्यक्ति है' जैसे आधुनिक कथन हमें लाइवनित्स के दर्शन का ही स्मरण कराते हैं। इतना ही नही, उसका प्रभाव डॉनर-जैसे धर्मशास्त्रियो, क्रूम रावर्ट्‌सन-जैसे दर्शन के अध्यापको तथा डिलमैन जैसे व्याख्याताओ पर भी पडा था। लाइवनित्स ने चिन्तन के सभी क्षेत्रो से, दार्शनिको की सभी पीढियो से अपने दर्शन की सामग्री सकलित की थी और उसने आने वाली पीढ़ियो को वह सब उतनी ही उदारता के साथ प्रदान की, जितनी उदारता से अतीत ने उसे उस सामग्री का ऋण दिया था। 'वह वहुत-सी वस्तुओ में न केवल शिक्षित था, वल्कि इतना शिक्षित था जितना कोई मनुष्य हो सकता है, और उसका समझना या ज्ञान अर्जित करना सर्जन का एक व्यापार भी था।'

१ देखिए, मर्ज लाइवनित्स (व्लैकवुड सीरीज)

अस्तित्व के द्रव्य का प्रस्तुत रूप, उसके स्वभाव एव आकार को इसी के उद्‌घाटन की एक सगत अवस्था ।' इस प्रकार, लोज़े लाइबनित्स के पूर्व-स्थापित सगति के विचार का तिरस्कार कर देता है । यान्त्रिकता का प्रत्यय इसका स्थान ले लेता है । इसी प्रत्यय से उन सम्बन्धो का विवरण प्रस्तुत किया जा सकता है, जिनमें विचार वस्तुओ को पाता है । यान्त्रिक नियमो से ही आत्मा की घटनाओ और शरीर की घटनाओ के सम्बन्धो का भी विवरण दिया जा सकता है या कहें कि दोनो के सम्बन्धो को नियमो के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है । इन्हें समझाने के लिए पूर्व-स्थापित सगति की आवश्यकता नही है । उदाहरणार्थ, यह दिखाया जा सकता है कि स्नायविक गति मानसिक गति (सवेदना) में परिणत हो जाती है । विचार अनुभव में अनिवार्यत प्राप्त सम्बन्ध का विवरण देने के अतिरिक्त कुछ नही कर सकता । विज्ञान को 'सैद्धान्तिक अवसरवाद', अथवा देकार्त्त के अनुयायियो द्वारा स्थापित निरपेक्ष सत्तात्मक 'अवसरवाद' की अपेक्षा 'व्यावहारिक अवसरवाद' में सन्तोष करना चाहिए ।

लोज़े ने कान्ट के प्रभाव में लाइबनित्स के विचारो का रूपान्तर किया है । वह लाइबनित्स की ही भाँति विरोध और पर्याप्त युक्ति के नियमो को अलग रखता है, किन्तु वह विरोध के नियम को प्रयोग में सार्वभौम मानते हुए भी, महत्त्व में गौण प्रदर्शित करता है । लाइबनित्स के अनुसार, यान्त्रिकता प्रयोजनता के अधीन है, और निमित्त कारण अन्तिम कारण के । किन्तु, विरोध के नियम की समवर्त्ती प्राथमिकता, ईश्वर के बोध में 'सभव' वस्तुओ, 'सारो' या विचार क्षेत्र के प्रत्ययन से, प्राप्त हो जाती है । लोज़े 'सभव' के क्षेत्र का निराकरण करके, 'सर्वोत्तम के नियम' को सर्वोपरि मानता है और ईश्वर की इच्छा को विरोध के नियम से भी स्वतन्त्र, निरपेक्ष नैतिक मूल्य के आदर्श के अतिरिक्त सबसे स्वतन्त्र मानता है । हमें विरोध के नियम की अवहेलना असगत लगती है, किन्तु ईश्वर तो ऐसे विश्व का भी निर्माण कर सकता था, जिसमें विरोध के नियम की प्रवृत्ति ही न हो । किन्तु, जिस प्रकार लाइबनित्स विरोध और पर्याप्त युक्ति के नियमो के सम्बन्ध की व्याख्या न कर सका, उसी प्रकार लोज़े एक का दूसरे के अधीन होना नही समझा पाता । कहता है कि इस प्रकार की व्याख्या मानवीय विचार से परे है ।

लाइबनित्स के अन्य प्रभाव

दर्शन के क्षेत्र से बाहर लाइबनित्स के मतो का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा। लेसिंग, और हर्डर की कृतियो ने उन्हें जर्मन साहित्य में व्याप्त किया।[1] अंग्रेजी साहित्य में, पोप के 'मनुष्य पर लेख' में, यद्यपि उसके मत के व्यंग्य का रूप दिया गया है, 'देवविद्या' का प्रभाव स्पष्ट है। साहित्य में ही नही, प्राकृतिक विज्ञान में भी उसका प्रभाव वितरित हुआ था। अंगी के विषय में उसका यह विचार कि वह छोटे-छोटे अंगियो का व्यवस्थित समूह है जीव-विज्ञान में अनेक प्रकार से व्यक्त हुआ है। श्वान का कोष-सिद्धान्त इसी विचार का वैज्ञानिक परीक्षण समझा जा सकता है। जोहैन्स मुलर का कोषो को 'आंगिक चिद्‌बिन्दु' संज्ञा देना लाइबनित्स के प्रभाव को प्रमाणित करता है। लाइबनित्स के लघु प्रत्यक्षो के विचार का ही प्रभाव था कि मनोविज्ञान में 'अचेतन' प्रक्रियाओ की खोज हुई और संवेदनाओ एव प्रत्यक्षो का ऐसे तत्त्वो में विश्लेपण किया जाने लगा, जो पृथक्-पृथक् प्रत्यक्ष के स्तर तक नही पहुँच पाते। हार्टमैन का 'अचेतन का दर्शन' वस्तुत लाइबनित्स के दर्शन से प्रभावित है। 'जो वास्तविक है, वह व्यक्ति है' जैसे आधुनिक कथन हमें लाइबनित्स के दर्शन का ही स्मरण कराते हैं। इतना ही नही, उसका प्रभाव डॉनर-जैसे धर्मशास्त्रियो, क्रूम रावर्ट्‌सन-जैसे दर्शन के अध्यापको तथा डिलमैन जैसे व्याख्याताओ पर भी पडा था। लाइबनित्स ने चिन्तन के सभी क्षेत्रो से, दार्शनिको की सभी पीढियो से अपने दर्शन की सामग्री संकलित की थी और उसने आने वाली पीढियो को वह सब उतनी ही उदारता के साथ प्रदान की, जितनी उदारता से अतीत ने उसे उस सामग्री का ऋण दिया था। 'वह बहुत-सी वस्तुओ में न केवल शिक्षित था, बल्कि इतना शिक्षित था जितना कोई मनुष्य हो सकता है, और उसका समझना या ज्ञान अर्जित करना सर्जन का एक व्यापार भी था।'

१ देखिए, मर्ज लाइबनित्स (ब्लैकवुड सीरीज)

चिद्बिन्दु विद्या
(१७१४)

चिद्‌बिन्दु विद्या

प्रारम्भिक टिप्पणी

चिद्‌विन्दु विद्या[1] लाइबनित्स के परवर्ती ग्रन्थो में से एक है। इसे अपनी मृत्यु से दो वर्ष पूर्व, १७१४ ई० के आस-पास, उसने 'वियना' में लिखा था। 'वियना' की अन्तिम यात्रा में, सम्भवत 'प्रशा' की रानी सोफिया शारलॉट के माध्यम से, 'सेवॉय' के सैनिक राजकुमार यूगिनी से उसकी भेंट हुई थी। यूगिनी ने लाइवनित्स के एक अन्य उच्च कोटि के ग्रन्थ देवविद्या[2] के विषय में सुना था, जो उस समय (१७१० ई०) तक प्रकाशित हो चुका था। इसे पढने के बाद, राजकुमार यूगिनी ने लाइवनित्स से अपने दर्शन के मुख्य सिद्धान्तो का एक सक्षिप्त विवरण लिखकर देने का आग्रह किया था। ठीक पता नही चलता कि उक्त विवरण उसे चिद्‌बिन्दु विद्या के रूप में मिला था, अथवा 'प्रकृति और महिमा के नियमो'[3] के रूप में। पर, उसे पाकर राजकुमार इतना प्रसन्न हुआ था कि उसने उसे अमूल्य मणि की भाँति पिटारे में सैंत कर रखा। इस वात को, सम्भवत विनोदपूर्ण अतिशयोक्ति का पुट देते हुए, लाइवनित्स को उसके एक मित्र काउन्ट बॉनेवाल ने इस प्रकार सूचित किया था—"वह तुम्हारे लेख को उसी प्रकार रखते है, जैसे नेपल्स के पादरी

१ ऐर्डमैन ने, १८४० में प्रकाशित करते समय, इसका नाम 'ला मानेडॉलॉजी' रखा था। कोह्लर, ने १७२० में जर्मन सस्करण 'लेह्र्ज़ात्से यूबर डाइ मानेडॉलॉजी' शीर्षक के अन्तर्गत निकाला था। जर्मन से लैटिन अनुवाद प्रकाशित करते समय 'प्रिंसिपिया फिलॉसॉफिई स्यू थीसेस इन ग्रेशियन प्रिंसिपिस, यूमिनेई' शीर्षक दिया गया। रावर्ट लैटा के सस्मरण में 'द मानेडॉलॉजी' शीर्षक प्रयुक्त हुआ है। हम इसे 'चिद्‌विन्दु विद्या' नाम दे रहे है।

२ मूल थियॉडिसो।

३ प्रिंसिप्‌ल्स्‌ ऑव्‌ नेचर एण्ड ऑव्‌ ग्रेस।

सन्त जैनुएरिस का रक्त रखते है । वह मुझे उसको चूम तो लेने देते हैं, किन्तु शीघ्र ही फिर पिटारे में बन्द कर देते है ।'

चिद्बिन्दु विद्या फ्रासीसी भाषा में लिखी गयी थी । किन्तु १८४० ई० से पहले, जब तक ऐर्डमैन ने हैनोवर के राजकीय पुस्तकालय से पाण्डुलिपि खोज कर लाइबनित्स के दार्शनिक ग्रन्थो का सग्रह तैयार नही किया था, वह अपने मूल रूप में प्रकाशित न हो सकी थी । जर्मन और लैटिन अनुवाद १७२० और '२१ में प्रकाशित हुए थे, जिनमें उसे काफी समय तक 'प्रकृति और महिमा के नियम' के साथ एक ही जिल्द में रखा गया, क्योकि दोनो में से कौन-सा ग्रन्थ राजकुमार यूगिनी के लिए लिखा गया था सदिग्ध है । विस्तार और उद्देश्य की दृष्टियो से दोनो कृतियाँ समान और सम्भवत एक ही समय की लिखी हुई हैं । गरहार्ड्ट के मत से राजकुमार यूगिनी के लिए लिखी गयी पुस्तक 'चिद्बिन्दु विद्या' नहीं 'प्रकृति और महिमा के नियम' हैं । निस्सन्देह, 'प्रकृति और महिमा के नियम' दोनों कृतियो में से प्रथम प्रतीत होती है ।

विषय-वस्तु की दृष्टि से चिद्बिन्दु विद्या को लाइबनित्स के दर्शन का उपोद्घात न समझ कर उसके उन सिद्धान्तो का सक्षिप्त कथन समझना चाहिए, जिन्हें उसने अपने अनेक दार्शनिक लेखो में व्यक्त किया था और देवविद्या में बिना किसी विशेष क्रम के प्रतिपादित किया था । चिद्बिन्दु विद्या की पाण्डुलिपि के किनारों पर देव-विद्या के उन अवतरणों के सन्दर्भ देकर जिनमें वही विचार विस्तारपूर्वक व्यक्त हुए हैं उसने उक्त तथ्य प्रमाणित किया है । इसीलिए ऐर्डमैन ने चिद्बिन्दु विद्या को लाइबनित्स के दर्शन का 'बृहद् कोश' (जर्मन अर्थ में) कहा है और उसे समझने के लिए लाइबनित्स के सम्पूर्ण चिन्तन से अवगत होना आवश्यक बताया है । सम्भवत, पहली बार पढ कर उसे ठीक-ठीक समझ पाना कठिन है ।

चिद्बिन्दु विद्या में द्रव्य' की मीमासा की गयी है । समझने में सुविधा के लिए, उसे दो भागो में बाँटा जा सकता है । प्रथम भाग में, रचित और अरचित, उन सभी द्रव्यो के मौलिक स्वभाव की व्याख्या रखी जा सकती है, जिनसे विश्व

१ सब्स्टेन्स ।

का सत्य निर्मित है। दूसरे भाग में उन सम्बन्धो की व्याख्या रखी जा सकती है, जिनके माध्यम से वे द्रव्य एक ससार में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार, १ से ४८ अवतरणो तक प्रथम भाग तथा ४९ से ९० तक द्वितीय भाग होगा। प्रथम भाग को फिर तीन खण्डो में बाँटा जा सकता है (क) १–१८, रचित[1] द्रव्यो का स्वभाव समझाया गया है, (ख) १९–३०, रचित द्रव्यो के तीन बडे समूह बनाये गये हैं और (ग) ३१–४८, चिन्तन के दो महत्त्वपूर्ण नियमो—अविरोध और पर्याप्त युक्ति के नियम—के सहारे रचित द्रव्यो के उच्चतम विभाग (आत्म-चेतन द्रव्य) से अरचित द्रव्य (ईश्वर) तक पहुँचने का मार्ग दिखाया गया है। इस प्रकार, दार्शनिक दृष्टि डालते हुए, सम्पूर्ण विश्व को क्रमबद्ध स्वतन्त्र सत्ताओ से निर्मित दर्शाया गया है। चिद्‌बिन्दु विद्या का दूसरा भाग भी, जिसमें द्रव्यो के पारस्परिक सम्बन्धो की विस्तृत व्याख्या है, तीन मुख्य उपभागो में बाँटा जा सकता है—(क) ४९-६०, पूर्व स्थापित सगति की परिकल्पना एव 'सभाव्य ससारो में सर्वोत्तम ससार' की धारणा के आधार पर, द्रव्यो के आन्तरिक सम्बन्धो के सामान्य नियम निर्धारित किये गये हैं, (ख) ६१-८२, द्रव्यो के विशिष्ट वर्गों के सम्बन्धो को पहले की अपेक्षा अधिक विस्तार से समझाया गया है तथा अगी की समस्याओ एव जन्म और मृत्यु आदि की समस्याओ का समावेश करते हुए, आत्मा और शरीर के सम्बन्धो पर प्रकाश डाला गया है, और (ग) ८३-९०, सम्बन्धो के सम्पूर्ण सस्थान का एक ईश्वर में समाहार तथा निमित्त और अन्तिम कारणो के भेद एव सगति को (जिसे शरीर और आत्मा के भेद का आधार पाया गया था) प्रकृति के भौतिक क्षेत्र एव दैवी स्वभाव ('ग्रेस') के नैतिक क्षेत्र के समानधर्मी भेद और सगति के विचार से पूर्ण किया गया है। यह कहा जा सकता है कि ईश्वर को 'ससार-यन्त्र के शिल्पी और आत्माओ के स्वर्गीय नगर के शासक' रूपो में देखते हुए, दोनो की व्याख्याएँ की गयी है। इस सक्षिप्त विश्लेषण से 'चिद्‌बिन्दु विद्या' की चिन्तन-धारा समझने में सहायता ली जा सकती है, यद्यपि उक्त ग्रन्थ का पाठ इतना सघटित है कि यथेष्ट विभाजन सम्भव नही।

१ क्रियेटेड्।

(राबर्ट लैटा का अंग्रेजी अनुवाद एम० बोट्रो के पाठ से किया गया है। उसने हैनोवर में उपलब्ध पाण्डुलिपियो का मिलान किया और ऐर्डमैन की कुछ भूलों को भी सुधारा था। प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद का पाठ लैटा के सस्करण में पृष्ठ २१७ से २७१ तक मिलता है।)

१ चिद्विन्दु, जिसकी हम यहाँ चर्चा करेंगे, और कुछ नही, एक सरल द्रव्य है, जो यौगिको मे सम्मिलित होता है। 'सरल' का अर्थ 'भागरहित' है।

(देवविद्या—१०)

२ और सरल द्रव्य अवश्य है, क्योकि यौगिक है। यौगिक[1] सरल द्रव्यो[2] के सकलन, अथवा समूह ही तो होते हैं।

१ लाइवनित्स ने यहाँ सामान्य अर्थ में 'यौगिक' की चर्चा की है। 'प्रकृति और महिमा के नियम' के समानार्थक अवतरण में 'यौगिक द्रव्य' पद मिलता है। दोनो ही दशाओ में 'यौगिक' का अर्थ 'पिण्ड' समझना चाहिए। अन्य सदर्भों में उसने स्पष्ट किया है कि सयत भाजण में यह द्रव्य नहीं है।

२. यहाँ एक मौलिक कठिनाई है यदि चिद्विन्दुओ की भाँति 'सरल' द्रव्य अपरिमाणात्मक है, तो क्या यौगिको को जो उन्हीं के सकलन मात्र हैं कोई बोधगम्य अर्थ दिया जा सकता है ? क्या सकलन में उन तत्त्वो का ही समावेश नहीं होता, जो कितने ही लघु होने पर भी परिमाण हैं ? लाइवनित्स ने ही दूसरी जगह स्पष्ट किया है कि कोई भी परिमाणात्मक अवयव पूर्ण रूप से सरल नहीं हो सकता। यह मौलिक कठिनाई लाइवनित्स के दर्शन को आद्योपान्त प्रभावित करती है। सचमुच, यह प्रत्येक व्यक्तिवादी या आणविक दर्शन की कठिनाई है। लाइवनित्स ने 'जीवित अणु', 'उर्वरा सरलता', 'असीम परिधि अभिव्यक्त करने वाले केन्द्र' आदि परिकल्पनाएँ प्रस्तुत कर आणविकता के परिहार के निमित्त बार-बार सकेत किया है। किन्तु, इतने से हम कठिनाइयो का पार नहीं पाते। हम मन ही मन सोचते हैं क्या 'सरल' और 'यौगिक' नितान्त सापेक्ष पद नहीं

३ अव, जहाँ भाग[1] नही होते वहाँ न विस्तार हो सकता है, न आकार (रूप), न विभाज्यता । ये चिद्‌विन्दु प्रकृति के वास्तविक अणु तथा, एक शब्द मे, वस्तुओ के तत्त्व[2] हैं ।

४ इन अणुओ के विघटन का भय मानने की आवश्यकता नही, क्योकि ऐसी कोई विधि समझ मे नही आती, जिससे, भौतिक साधनो द्वारा, किसी सरल द्रव्य का नाश किया जा सके ।

(देन०—८९)

५ उसी कारण से, कोई ऐसी भी विधि समझ मे नही आती, जिससे किन्ही भौतिक साधनो द्वारा किसी सरल द्रव्य को उत्पन्न किया जा सके, क्योकि भागो के मेल (सघटन[3]) से उसका निर्माण नही किया जा सकता ।

है, जिसके कारण पूर्ण सरल वस्तु की खोज में हमें अँधेरी राहो में भटकना पड सकता है ? इमैनुएल काण्ट ने अपनी द्वितीय विरुद्धनाफिका ('एटीनॉमी') में वे अँधेरी राहें दिखा दी हैं । काण्ट के रोचक विश्लेषण तथा समीक्षा के लिए, हीगेल का तर्कशास्त्र, पुस्तक १, भाग २, अध्याय १, अश ए, टिप्पणी देखिए ।

१ देशगत भेद ।

२ तुलना के लिए, लाइबनित्स के 'नूतन शास्त्र' ('न्यू सिस्टम') का तीसरा अवतरण देखिए रावर्ट लैटा द मानेडॉलॉजी एण्ड अदर फिलॉसॉफिकल राइटिंग्स, पृ० ३०० । सामान्य भौतिक अणुओं में आकार और विस्तार होता है, चाहे वे भौतिक अर्थ में विभाज्य न हो । देश में स्थित होने के कारण, वैचारिक रूप से उनका असीम विभाजन सम्भव है । इस प्रकार, लाइबनित्स के लिए सभी मात्र भौतिक अणु असत् हैं ।

३ लाइबनित्स के अनुसार, प्रकृति धीरे-धीरे, कण-कण कर, व्यक्त होती है, जिसमें वह वस्तुएँ उत्पन्न करती है । किन्तु, चिद्‌विन्दु में भाग नहीं होते, इसलिए, ये भाग में भाग के जुडने से उत्पन्न नहीं हो सकते । पर, यह कहा जा सकता है

६ इस प्रकार, कहा जा सकता है कि चिद्विन्दु अचानक ही प्रकट तथा लुप्त हो सकता है। यूं भी कह सकते है कि वह केवल सृष्टि द्वारा अस्तित्व प्राप्त कर सकता है और उसका अन्त केवल लय होने से हो सकता है, जब कि वह, जो यौगिक है, भागो से ही उत्पन्न और समाप्त होता है।[1]

७ पुनश्च, यह समझाने की कोई विधि नही कि चिद्विन्दु के गुण में परिवर्तन कैसे किया जा सकता है, अथवा किसी अन्य रचित वस्तु के माध्यम[2] से, उसमें आन्तरिक परिवर्तन कैसे किया जा सकता है, क्योकि किसी वस्तु में देशगत परिवर्तन, अथवा किसी ऐसी गति का विचार असम्भव है, जिसे उत्पन्न किया जा सके, जिसका निर्देशन किया जा सके, या जिसे घटाया अथवा वढाया जा सके, यद्यपि यौगिको

कि प्रत्येक चिद्विन्दु में आन्तरिक विकास होता है, जो क्रमिक है, वह पूर्ण, अथवा पूर्ण रूप से वास्तवीकृत* उत्पन्न नहीं होता। तब वह प्राकृतिक साधनो से उत्पन्न क्यों नहीं किया जा सकता ?

* आब्जेक्टिफाइड्।

१ तुलना के लिए देखिए, स्पिनोज़ा अपने नीतिशास्त्र, अध्याय ५, उपपत्ति २३ में मानव मन की नित्यता के प्रसग में क्या कहता है। वह सृष्टि के विचार का तिरस्कार करता है। किन्तु, लाइवनित्स के अनुसार, रचित चिद्विन्दु होते हैं, जिनकी सृष्टि काल की घटना नहीं, क्योकि काल और भौतिक घटनाचक्र सवद्ध हैं। चिद्विन्दु काल तथा देश में नहीं है, वल्कि उनका नियमन करते हैं।

२ अन्य वस्तुओं द्वारा न तो चिद्विन्दु के स्वभाव में परिवर्तन किया जा सकता है, न उन अवस्थाओं में ही, जिनमें स्वभाव-परिवर्तन के विना ही परिवर्तन सम्भव है।

के प्रसग में, जिनके भागो में परिवर्तन होते है,[1] यह सब सम्भव है। चिद्बिन्दुओ में झरोखे नही होते, जिनसे होकर कुछ भीतर आ सके या बाहर जा सके। आकस्मिक गुण द्रव्यो से अपने को अलग नही कर सकते, न उनसे बाहर ही जा सकते है, जैसा सम्प्रदायवादियों[2] की 'इन्द्रिय-सवेद्य जातियाँ' करती थी। इस प्रकार, चिद्बिन्दु में बाहर से[3] न कोई द्रव्य आ सकता है, न आकस्मिक गुण।

१ यहाँ यह विचार अन्तर्भूत है कि पिण्डो में सभी प्रकार के परिवर्तन भागो के पारस्परिक स्थानान्तरण से ही होते है और यह स्थानान्तरण गति की मात्रा तथा दिशा-सम्बन्धी परिवर्तनो पर निर्भर है।

२ यहाँ लाइबनित्स की दृष्टि टॉमस एक्वीनस तथा डेमोक्रिटस के दर्शन से अनुप्राणित सम्प्रदायवादी (स्कॉलैस्टिक) सिद्धान्तो पर, केन्द्रित प्रतीत होती है। सम्प्रदायवादी दर्शन में 'जातियों' ('स्पिशीज़') के प्रतिबिम्बो, अथवा पदार्थ-सम्बन्धी गुणों के अपदार्थ प्रतिनिधियो की स्थापना की गयी थी। टॉमस एक्वीनस के अनुसार, वस्तुओं के आकस्मिक गुणो का ज्ञान 'इन्द्रिय-सवेद्य जातियों' ('सेन्सिबल् स्पिशीज़'), अथवा विशिष्ट प्रतिबिम्बों द्वारा होता है, वस्तुओं के सारो ('एसेंसेज़्') का ज्ञान बोध-सम्बन्धी ('इन्टेलिजिबल्') 'जातियों', अथवा सामान्य प्रतिबिम्बो द्वारा होता है। सम्प्रदायवादी मत के अनुसार, हमारे भीतर स्थित ऐन्द्रिक या बौद्धिक 'जातियों' और बाह्य वस्तुओ में स्थित आकस्मिक गुणों के बीच कुछ स्वाभाविक समानता है। स्पष्ट रूप से किसी ने न बताया कि वह कौन-सी समानता है। इस सन्दर्भ में, अनेक प्रकार की अस्पष्ट सम्मतियाँ ही उपलब्ध है।

३ इमेनुएल काण्ट ने सकेत किया था कि वस्तुओं में दो प्रकार के परिमाण हो सकते है (क) 'गहन' ('इन्टेंसिव्'), जिसे देशगत भागो में नहीं बाँटा जा सकता, और (ख) 'विस्तृत' ('एक्स्टेंसिव्'), जिसे इस प्रकार के भागो में बाँटा जा सकता है। उदाहरणार्थ, ऊँचाई से गिरने वाला पत्थर अपने गहन परिमाण का कुछ भाग खो देता है, यद्यपि उसके देशगत भागों में कोई कमी नहीं आती।

८ तथापि चिद्विन्दुओ मे कुछ गुण अवश्य होने चाहिए, अन्यथा वे सत्तायुक्त वस्तु न होगे ।' और यदि सरल द्रव्यो में गुणभेद न होगा, तो वस्तुओ में परिवर्तनो के ज्ञान का कोई साधन न रह जायगा । क्योकि यौगिक मे जो कुछ भी है, उन्ही सरल तत्त्वो से आया होगा, जिनसे वह वना है, और चिद्विन्दुओ मे यदि कोई गुण न होता, तो उन्हें एक दूसरे से पृथक् पहचाना भी न जाता, चूंकि वे परिमाण में भिन्न[२] नही होते । अत , देश परिपूर्ण होने से, उसका प्रत्येक भाग,

इसी प्रकार, किसी अर्थ में सरल द्रव्य गुण का त्याग भी कर सकता है और ग्रहण भी । देखिए, काण्ट क्रिटिक ऑव् प्योर रीज़न्, माइक्ल्जॉन का अनुवाद, पृ० १२५ । काण्ट की युक्ति यह है कि आत्मा की सरलता, अथवा उसमें भागों का अभाव, अनिवार्यत आत्मा की अविनश्वरता का प्रमाण नहीं है, क्योंकि यद्यपि उसमें भाग नहीं होते, वह अपनी चेतनता तथा अन्य सारभूत गुणो को खो दे सकती है । देखिए, वही, पृ० २४५ । काण्ट के गहन परिमाण से लाइवनित्स की प्रत्यक्षीकरण ('पर्सेप्शन्') तथा रोचन ('एपीटीशन्') की श्रेणियो से तुलना कीजिए ।

१ इस वाक्य के वाद लाइवनित्स ने आगे दिया हुआ वाक्य मूल पाण्डुलिपि में लिखा था, किन्तु सशोधन करते समय काट दिया । "और यदि सरल द्रव्य असत् होते तो यौगिक भी कुछ न रहते ।" यह वाक्य इस बात पर वल देता है कि 'अगुण वस्तु' को 'कुछ नहीं' से अलग नहीं किया जा सकता । देखिए, हीगेल तर्कशास्त्र, वालेस् का अनुवाद, पृ० १५८ से आगे । परिमाण निरन्तर गुण की अपेक्षा करता है । देखिए, रावर्ट लैटा मॉनेडॉ०, इन्ट्रोडक्शन, भाग २, पृ० २७ से आगे । सम्भवत , लाइवनित्स के मत में यह भी अन्तर्भूत है कि प्रत्येक चिद्विन्दु में एक से अधिक गुणो का होना आवश्यक है । हर्वार्ट (१७७६–१८४१) जिसकी चिद्विन्दु-विद्या पर लाइवनित्स का गहरा प्रभाव है, अपने चिद्विन्दुओं को 'प्राथमिक गुण' कहता है और यह मानता है कि कोई भी द्रव्य तव तक पूर्ण सरल नहीं हो सकता जव तक उसमें, अन्तत , एक ही गुण न हो ।

२ इमैनुएल काण्ट के मत से वे 'गहन' परिमाण में भिन्न हो सकते हैं ।

किसी भी गति मे, ठीक उतना ही प्राप्त करेगा जितना उसमें पहले था और वस्तुओ की कोई भी अवस्था दूसरी से भिन्न[1] न जानी जा सकेगी ।

ऊपर, अवतरण ७ के अन्तर्गत दी हुई टिप्पणी २ देखिए । लाइबनित्स ने गुण और परिमाण में उसी प्रकार स्पष्ट अन्तर किया है, जैसे अरस्तू ने 'पिऑन' (गुण सम्बन्धी) और 'पोसॉन' (सख्या, अथवा आयाम-सम्बन्धी) में । फिर भी, कुछ दृष्टियो से उसका 'अक्षुण्णता का नियम' ('लॉ ऑव् कॉन्टीनुइटी') भिन्न मत का सकेत देता है ।

१ ऐर्डमैन के पाठ का अनुवाद इस प्रकार है 'वस्तुओ की एक अवस्था दूसरी से पृथक् नहीं पहचानी जा सकेगी ।' १७०६ में, लाइबनित्स द्वारा बॉसेज को लिखे हुए पत्र में 'जैसा डेकार्ट्‌स् के अनुयायी चाहते है, यदि हम परिपूर्ण स्थान और पदार्थ को एकाकारता मान लेते, केवल इनमें गति और जोड देते, तो, परिणामत , यह भी मानना पडता कि वस्तुओ के बीच कभी कुछ भी घटित नहीं होता, केवल समान वस्तुओ की स्थानापन्नता होती रहती है, मानो सम्पूर्ण विश्व अपनी धुरी के चारों ओर घूमने वाला एक पूर्णतया एकाकार पहिया है, अथवा एक ही केन्द्र के चारों ओर परिभ्रमित एक अनेक वृत्तो का समूह है, जिनमें से प्रत्येक वृत्त बिलकुल एकन्से पदार्थ का बना हुआ हो । ऐसी स्थिति में तो वस्तुओं की किसी एक क्षण की अवस्था से दूसरे क्षण की अवस्था से भिन्न समझ पाना देवदूतों तक के लिए असम्भव हो जाता, क्योकि घटनाओ में अनेकरूपता न रह जाती । इसलिए, आकार, माप और गति के अतिरिक्त किन्हीं प्रकारो की स्वीकृति, जिनसे पदार्थ के रूपों में भेद उत्पन्न हो सकें, आवश्यक है, और मै यह नहीं देख पा रहा हूँ कि उन प्रकारो को कहां से लिया जाय कि वे बोधगम्य हो, जब तक उन्हें चेतन सत्ताओं से ही प्राप्त न किया जाय ।' अवाछित अर्थबोध की सम्भावना से बचने के लिए ध्यान रखना चाहिए कि लाइबनित्स के चिद्‌बिन्दु देश में नहीं स्थित है, क्योंकि वह भौतिक घटनाओं के बीच एक सम्बन्ध है । फिर, उसने बॉसेज को ही १७१२ में लिखा "देश सह-स्थित घटनाओं का क्रम है, जैसे काल उत्तरोत्तर घटनाओं का

९ वस्तुत, प्रत्येक चिद्विन्दु के लिए दूसरे चिद्विन्दुओ से भिन्न होना आवश्यक है। क्यो के प्रकृति में कोई दो वस्तुएँ पूर्ण रूप से समान नही है और न ऐसी ही है कि उनमें आन्तरिक भेद या कम-से-कम, स्वाभाविक गुण पर आधारित भेद (सज्ञा-सम्वन्धी') पाना सम्भव न हो।

क्रम है। चिद्विन्दुओं के वीच, देशगत या निरपेक्ष, किसी भी प्रकार की, न निकटता है, न दूरी, और यह कहना कि वे किसी एक विन्दु पर एकत्रित है, अथवा सम्पूर्ण देश में विखरे हुए हैं अपने मन के गल्पो को व्यक्त करना है, जिसमें हम कल्पना द्वारा अपने समक्ष वह प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते है, जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती, केवल समझा भर जा सकता है।" वुल्फ के मत से, काण्ट 'क्रिटिक ऑव प्योर रीज़न्' में लाइवनित्स के देश-सम्वन्धी विचार की उचित व्याख्या करने में भ्रम कर गये है। 'क्रिटिक', माइक्ल्जॉन का अनु०, पृ० १६१-६६ देखिए। रावर्ट लैटा माने०, टिप्पणी १५, पृ० २२१; इन्ट्रो०, भाग ४, पृ० १६८ से आगे।

१ यह 'अदृश्य तत्त्वो के तादात्म्य' ('आइडेंटिटी ऑव इन्डिसर्निबुल्स्') का नियम है। रा० लैटा वही, इन्ट्रो०, भाग २, पृ० ३६ देखिए। लाइवनित्स नव्य लेख, पु० २, अ० २७, अश ३ (ए० २७७ वी) से तुलना कीजिए। काण्ट द्वारा समीक्षा के लिए देखिए 'क्रिटिक', वही संस्करण, पृ० २०२। सम्भवत, इस नियम का कथन, पहले-पहल,, क्यूजा के निकोलस (१४०१-६४) की कृतियों में मिलता है। वह कहता है 'वहुत-सी वस्तुएँ विलकुल एक-सी नहीं हो सकतीं, क्योंकि उस अवस्था में वहुत-सी वस्तुएँ न होकर केवल एक वस्तु होगी। इसलिए सभी वस्तुएँ परस्पर समान और असमान होती है ('द वेनेशियन सैपिएन्तिई', २३)। 'द दॉक्ता इग्नोरैंशिया, ३ १ के इस कथन से तुलना कीजिए "सभी वस्तुएँ, अनिवार्यत, एक दूसरे से भिन्न होनी चाहिए। एक ही जाति के विविध व्यक्तियों में, अनिवार्य रूप से, पूर्णता की श्रेणियों में विविधता होती है। ससार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें किसी प्रकार का अनोखापन न हो, वह अनोखापन जो किसी अन्य वस्तु में नहीं मिलता।" उसके सिद्धान्तो में लाइवनित्स के दर्शन

१० मै यह भी स्वीकृत मानता हूँ कि प्रत्येक रचित सत्ता, फलत रचित चिद्विन्दु, परिवर्तन का विषय है। इससे भी अधिक, यह परिवर्तन प्रत्येक मे निरन्तर होता रहता है।[1]

११ अभी जो कहा गया हे उससे यह निष्पन्न होता है कि चिद्विन्दु के स्वाभाविक[2] परिवर्तनो का स्रोत कोई आन्तरिक तत्त्व है, क्योकि वाह्य कारण उनकी आन्तरिक सत्ता को प्रभावित नही कर सकता।

(देव० ३९६, ४००)

के सकेत भरे पडे हैं। फ़ाल्केन्बर्ग आधुनिक दर्शन का इतिहास देखिए। ज़िमरमैन का एक रुचिकर लेख, 'निकोलस क्यूज़ेनस एल्स् वारलौफ़र् लाइबनित्से-न्स्' द्रष्टव्य है। लाइबनित्स की दार्शनिक कृतियो में कहीं क्यूजा के निकोलस का नामोल्लेख नहीं मिलता, किन्तु, एक पत्र में जो 'ऐक्टा एर्यूदितोरम' के नाम लिखा गया था (१६९७), लाइबनित्स उसके गणितज्ञ होने की चर्चा करता है। 'अन्तरग गुण वे है जो वस्तुएँ अपने में रखती हैं, जैसे रूप, गति आदि। जब कि बहिरग गुण वे हैं जो दूसरी वस्तुओ के सम्बन्धो से उत्पन्न होते है, जैसे प्रत्यक्ष किया जाना, इच्छित होना आदि। पोर्ट रॉयल लॉजिक, भाग १, अ० २, बेन्स का अनुवाद, पृ० ३७ से तुलना करें। 'कुछ ऐसे प्ररूप (मोड्ज़्) होते है, जिन्हें आन्तरिक कहा जा सकता है, क्योकि उन्हें द्रव्य में स्थित समझा जाता है, जैसे गोल, चौकोर आदि। दूसरे वे हैं जिन्हें बाह्य कहा जा सकता है, क्योकि उन्हें किसी ऐसे अवयव से लिया जाता है जो द्रव्य में नहीं है, जैसे प्रीत, दृष्ट, इच्छित, जो किसी अन्य वस्तु के व्यापारो से लिये हुए नाम हैं। इसी को सम्प्रदायो में 'वाह्य सज्ञा' कहा गया है।

१ रचित द्रव्यो में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, भले ही होता हुआ मालूम न हो। कारण यह है कि जब बहुत कम मात्रा में परिवर्तन होता है तो लगता है कोई परिवर्तन नहीं हो रहा। यहाँ हमें अक्षुण्णता या निरन्तरता के नियम का प्रयोग मिलता है।

२ ये परिवर्तन जो चमत्कारों की कोटि में नहीं आते, अथवा वे जो चिद्-विन्दु की रचना या नाश में सम्मिलित नहीं होते।

१२ किन्तु, परिवर्तन के तत्त्व[१] के साथ ही परिवर्तनो का एक विशिष्ट क्रम होना चाहिए, जिसके लिए कहा जा सकता है कि वह सरल द्रव्यो का निजी स्वभाव तथा उनके प्रकार निश्चित करता है।

१३ परिवर्तनो का यह विशिष्ट क्रम इकाई मे, या उसमें जो सरल है, एक वहुता उत्पन्न कर देगा, क्योंकि सभी स्वाभाविक परिवर्तन धीरे-धीरे होते है। अत, कुछ वदल जाता है और कुछ विना वदला हुआ[२] रह जाता है। फलत, सरल द्रव्य अनेक प्रकार से प्रभावित और सम्वन्धित होता है, यद्यपि उसमे भाग नही होते।[३]

१ इस अवतरण के प्रारम्भ में, लाइवनित्स ने लिखा था "और सामान्यत यह कहा जा सकता है कि ऊर्जा परिवर्तन के तत्त्व के अतिरिक्त कुछ नहीं।" सम्भवत, वाद में उसने अनुभव किया कि ऊर्जा की धारणा उस तत्त्व के लिए उपयुक्त नहीं, जिसे अगले अवतरणो में उसने प्रत्यक्षीकरण और रोचन कह कर व्यक्त किया है।

२ निरन्तरता का नियम प्रत्येक वस्तु निरन्तर वदल रही है और इस परिवर्तन के प्रत्येक अश में दोनो ही तत्त्व सम्मिलित हैं—एक स्थिर रहने वाला और दूसरा वदलता रहने वाला। यूँ भी कह सकते हैं प्रतिक्षण कोई भी वस्तु 'होती है' और 'नहीं होती'—कुछ और ही वनती जा रही है। जो 'है' वह इसलिए कि पूरी तरह से कुछ और नहीं वन सकी है।

३ इसकी तथा अगले अवतरण की व्याख्या के लिए लाइवनित्स का 'वेलीं के विचारो का उत्तर' (१७०२) लेख (ऐ० १८६ वी०) देखें। "अणु के समान आत्मा की अवस्था परिवर्तन की अवस्था है—एक प्रवृत्ति है। अणु में अपना स्थान वदलने की प्रवृत्ति होती है, आत्मा में अपना विचार वदलने की प्रत्येक अपनी अवस्था की सीमा के अनुसार, सरलतम एव सर्वाधिक एकाकार रूप में, अपने आप वदलता रहता है। (मुझसे पूछा जायगा) तव अणु के परिवर्तन में इतनी सरलता (जिसे हमेशा सीधी रेखा पर होने वाली तथा उसी रफ्तार से होने वाली गति समझा जाता है) और आत्मा के परिवर्तन में इतनी विविधता क्यों है ? कारण यह है कि

१४ प्रक्रिया की अवस्था ही को, जिसमे इकाई या सरल द्रव्य की वहुता सन्निहित है और, जो उसे प्रस्तुत करती है, प्रत्यक्षीकरण[1] कहा जाता है, जिसका अन्तर्बोध या चेतना से भेद करना है, जैसा आगे ज्ञात होगा। इस प्रसग मे कार्तीय मत नितान्त दोषपूर्ण है, क्योकि वह उन प्रत्यक्षो की सत्ता को, जिनका हमारी चेतना को आभास नही

अणु (जैसा कल्पित है, क्योकि प्रकृति में ऐसी कोई वस्तु नहीं) में, यद्यपि भाग हैं, ऐसी कोई वस्तु नहीं जो उसकी प्रवृत्ति में विविधता उत्पन्न कर सके, क्योकि यह माना जाता है कि ये भाग अपने सम्बन्धो को नहीं वदलते, जब कि दूसरी ओर, आत्मा में, यद्यपि वह पूर्णतया अविभाज्य है, वहुमुखी प्रवृत्ति होती है, या यह कहें कि उसमें वतमान विचारो की वहुता होती है, जिनमें से प्रत्येक, अपनी अन्तर्वस्तु के स्वभाव के अनुसार किसी विशिष्ट परिवर्तन की ओर अग्रसर होता है, और जिनमें से सभी, आत्मा के ससार की अन्य सभी वस्तुओं से स्वभावत सम्बद्ध होने के कारण, आत्मा में एक साथ विद्यमान रहते हैं। एपीक्यूरस के अणुओ में सत्ता इसीलिए नहीं है कि उनमें इस प्रकार के सम्बन्ध नहीं हे। ऐसी एक भी वस्तु नहीं, जिसे अन्य सभी वस्तुओ को अभिव्यक्त करने वाली न माना जा सके। फलत , उसकी अनेकरूपता के कारण, पदार्थमय अणु की अपेक्षा आत्मा की तुलना विश्व से करनी चाहिए, जिसे वह अपने दृष्टि-विन्दु के अनुसार प्रतिविम्बित करती है और एक तरह से ईश्वर से भी तुलना करनी चाहिए जिसकी असीमता को वह अपनी ससीनता में प्रतिविम्बित करती है, क्योकि उसमें असीम का प्रत्यक्ष उलझा हुआ और अपूर्ण रहता है।" आगे परिशिष्ट, पृ० ५-८ देखें।

१ 'वॉसेज को पत्र' (१७०६) से तुलना करें 'चूंकि प्रत्यक्षीकरण एक में अनेक वस्तुओं की अभिव्यक्ति के सिवा कुछ नहीं है, सभी चेतन सत्ताओं, अथवा चिद्‌विन्दुओं में प्रत्यक्ष-शक्ति होना आवश्यक है।' आरनौल्ड के पत्र में भी कुछ इसी तरह की वात हे 'सम्पूर्ण पदार्थ की निरन्तरता और विभाज्यता के कारण थोडी-सी भी गति का पास के पिण्डों पर प्रभाव पडता है, और, फलत , एक पिण्ड

१२ किन्तु, परिवर्तन के तत्त्व[1] के साथ ही परिवर्तनो का एक विशिष्ट क्रम होना चाहिए, जिसके लिए कहा जा सकता है कि वह सरल द्रव्यो का निजी स्वभाव तथा उनके प्रकार निश्चित करता है।

१३ परिवर्तनो का यह विशिष्ट क्रम इकाई में, या उसमें जो सरल है, एक बहुता उत्पन्न कर देगा, क्योकि सभी स्वाभाविक परिवर्तन धीरे-धीरे होते है। अत, कुछ बदल जाता है और कुछ बिना बदला हुआ[2] रह जाता है। फलत, सरल द्रव्य अनेक प्रकार से प्रभावित और सम्बन्धित होता है, यद्यपि उसमें भाग नही होते।[3]

१ इस अवतरण के प्रारम्भ में, लाइबनित्स ने लिखा था "और सामान्यत यह कहा जा सकता है कि ऊर्जा परिवर्तन के तत्त्व के अतिरिक्त कुछ नहीं।" सम्भवत, बाद में उसने अनुभव किया कि ऊर्जा की धारणा उस तत्त्व के लिए उपयुक्त नहीं, जिसे अगले अवतरणो में उसने प्रत्यक्षीकरण और रोचन कह कर व्यक्त किया है।

२ निरन्तरता का नियम . प्रत्येक वस्तु निरन्तर बदल रही है और इस परिवर्तन के प्रत्येक अश में दोनो ही तत्त्व सम्मिलित है—एक स्थिर रहने वाला और दूसरा बदलता रहने वाला। यूं भी कह सकते हैं प्रतिक्षण कोई भी वस्तु 'होती है' और 'नहीं होती'—कुछ और ही बनती जा रही है। जो 'है' वह इसलिए कि पूरी तरह से कुछ और नहीं बन सकी है।

३ इसकी तथा अगले अवतरण की व्याख्या के लिए लाइबनित्स का 'बेली के विचारो का उत्तर' (१७०२) लेख (ऐ० १८६ बी०) देखें। "अणु के समान आत्मा की अवस्था परिवर्तन की अवस्था है—एक प्रवृत्ति है। अणु में अपना स्थान बदलने की प्रवृत्ति होती है, आत्मा में अपना विचार बदलने की प्रत्येक अपनी अवस्था की सीमा के अनुसार, सरलतम एव सर्वाधिक एकाकार रूप में, अपने आप बदलता रहता है। (मुझसे पूछा जायगा) तब अणु के परिवर्तन में इतनी सरलता (जिसे हमेशा सीधी रेखा पर होने वाली तथा उसी रफ्तार से होने वाली गति समझा जाता है) और आत्मा के परिवर्तन में इतनी विविधता क्यों है ? कारण यह है कि

१४ प्रक्रिया की अवस्था ही को, जिसमें इकाई या सरल द्रव्य की वहुता सन्निहित है और, जो उसे प्रस्तुत करती है, प्रत्यक्षीकरण[1] कहा जाता है, जिसका अन्तर्बोध या चेतना से भेद करना है, जैसा आगे ज्ञात होगा। इस प्रसग मे कार्तीय मत नितान्त दोषपूर्ण है, क्योकि वह उन प्रत्यक्षो की सत्ता को, जिनका हमारी चेतना को आभास नही

अणु (जैसा कल्पित है, क्योंकि प्रकृति में ऐसी कोई वस्तु नहीं) में, यद्यपि भाग हैं, ऐसी कोई वस्तु नहीं जो उसकी प्रवृत्ति में विविधता उत्पन्न कर सके, क्योंकि यह माना जाता है कि ये भाग अपने सम्बन्धों को नहीं वदलते, जव कि दूसरी ओर, आत्मा में, यद्यपि वह पूर्णतया अविभाज्य है, बहुमुखी प्रवृत्ति होती है, या यह कहें कि उसमें वर्तमान विचारो की बहुता होती है, जिनमें से प्रत्येक, अपनी अन्तर्वस्तु के स्वभाव के अनुसार किसी विशिष्ट परिवर्तन की ओर अग्रसर होता है, और जिनमें से सभी, आत्मा के ससार की अन्य सभी वस्तुओं से स्वभावत सम्बद्ध होने के कारण, आत्मा में एक साथ विद्यमान रहते हैं। एपीक्यूरस के अणुओ में सत्ता इसीलिए नहीं है कि उनमें इस प्रकार के सम्बन्ध नहीं हैं। ऐसी एक भी वस्तु नहीं, जिसे अन्य सभी वस्तुओं को अभिव्यक्त करने वाली न माना जा सके। फलत, उसकी अनेकरूपता के कारण, पदार्थमय अणु की अपेक्षा आत्मा की तुलना विश्व से करनी चाहिए, जिसे वह अपने दृष्टि-बिन्दु के अनुसार प्रतिविम्बित करती है और एक तरह से ईश्वर से भी तुलना करनी चाहिए जिसकी असीमता को वह अपनी ससीमता में प्रतिबिम्बित करती है, क्योंकि उसमें असीम का प्रत्यक्ष उलझा हुआ और अपूर्ण रहता है।" आगे परिशिष्ट, पृ० ५–८ देखें।

१ 'वॉसेज को पत्र' (१७०६) से तुलना करें 'चूंकि प्रत्यक्षीकरण एक में अनेक वस्तुओं की अभिव्यक्ति के सिवा कुछ नहीं है, सभी चेतन सत्ताओं, अथवा चिद्‌विन्दुओं में प्रत्यक्ष-शक्ति होना आवश्यक है।' आरनौल्ड के पत्र में भी कुछ इसी तरह की वात है 'सम्पूर्ण पदार्थ की निरन्तरता और विभाज्यता के कारण थोडी-सी भी गति का पास के पिण्डों पर प्रभाव पडता है, और, फलत, एक पिण्ड

होता, स्वीकार नही करता ।[१] इसी से, उन्हें यह मानना पडा कि मन (स्पिरिट) ही केवल चिद्‌विन्दु है और पशुओ के आत्मा नही होती, न अन्य चेतन सत्ताएँ हैं । इस प्रकार, जन-समूह की भाँति, वे भी विलम्बित अचेतनता तथा मृत्यु में अन्तर न कर सके ।[२] इससे फिर

के वाद दूसरे पर पडता हुआ, यह एक असीमता तक धीरे-धीरे घटता हुआ चला जाता है, और इस प्रकार, हमारा शरीर अवश्य ही किसी न किसी रूप में अन्य सभी पिण्डो के परिवर्तनो से प्रभावित होता है। अव, आत्मा के कुछ कम या अधिक उलझे हुए प्रत्यक्ष हमारे शरीर के सभी स्पन्दनों के सहवर्ती होते है, और इसीलिए हमारी आत्मा में विश्व के सभी स्पन्दनों का कुछ-न-कुछ विचार होना आवश्यक है। मेरी समझ से तो प्रत्येक अन्य आत्मा या द्रव्य में भी उनका कुछ-न-कुछ प्रत्यक्षीकरण या अभिव्यजन होगा ।'

१ कार्तीय मत (डेकार्ट् स् के सम्प्रदाय का मत) में जन्तुओं और वनस्पतियों को शुद्ध यान्त्रिक रचना, जीवित स्वत चालित यन्त्र, विस्तार के भाग, अथवा पूर्ण रूप से विचार से पृथक् समझा जाता है। देखिए, डेकार्ट् स् ऑन मैथड, भाग ५, मेडिटेशन, २ तथा ६, प्रिंसिपिया फिलॉसॉफिई, १ ४८ ।

२ 'निद्रा जो मृत्यु की मूर्ति है, मूर्च्छाएं, रेशम के कीडे का अपने कोये में वन्द हो जाना, डूवी हुई मक्खियो का कोई सूखाचूर्ण छिडक दिये जाने पर जी उठना (जव कि ऐसा न करने पर वे मरी ही रह जातीं), अवावीलो में जो सर्दियों में अपने घर सरकण्डों में वनाती हैं और जहाँ वे जीवन के किसी लक्षण के विना ही पायी जाती हैं, फिर से जान आ जाना, मनुष्यो के दृष्टान्त, जिनमें वे वर्फ में जम जाने, डूवने या फाँसी लगा लेने के वाद जिलाये गये हैं ये सब वातें मेरी सम्मति को पुष्ट करती हैं कि इन विभिन्न दशाओ में केवल दर्जे का भेद है, और यदि मृत्यु के दूसरे रूपो में पुन जीवन सचरित करने के साधन हमारे पास नहीं हैं, तो, शायद, इसलिए कि हम नहीं जानते उन दशाओ में क्या करना चाहिए या इसलिए कि हम जानते तो हैं किन्तु हमारे हाथ, हमारे यन्त्र और हमारी औषधियाँ वैसा कर नहीं

उन्होंने सम्प्रदायवादियो की भूल दुहरायी कि आत्माएँ (शरीर से) बिलकुल पृथक् हैं, और असयत मन वाले व्यक्तियो को तो यहाँ तक विश्वास करा दिया कि आत्माएँ मर्त्य हैं।[1]

पातों, विशेष कर जब बहुत शीघ्रता से लय होता है और बहुत दूर तक हो चुकता है। तदनुसार, हमें उन धारणाओ से सन्तोष नहीं करना चाहिए जो जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध में साधारण लोगों में पायी जाती हैं, जब कि हमें दोनों प्रकार के दृष्टान्त और (जो इससे भी अधिक है) ठोस युक्तियाँ, उपलब्ध हैं जो विपरीत (परिणामों को) प्रमाणित करती हैं। आरनोल्ड को पत्र (१६८७)।

१ देकात आत्मा के अमरत्व को अन्तत ईश्वर की इच्छा पर निर्भर मानता है। उसकी पुस्तक, मेडिटेशन की भूमिका रूप में सलग्न सक्षेप देखिए। लाइबनित्स का प्रतिवाद इस प्रकार है 'आत्मा का अमरत्व, जिस रूप में देकार्त ने स्थापित किया है, किसी काम का नहीं है और हमें कुछ भी सन्तोष नहीं दे सकता। क्योंकि यह मान लेने पर कि आत्मा एक द्रव्य है और यह कि किसी द्रव्य का नाश नहीं होता, आत्मा की हानि न होगी, जैसे प्रकृति में वस्तुत किसी वस्तु की हानि नहीं होती, किन्तु, पदार्थ की भाँति, आत्मा की आकृति में परिवर्तन होगा, और जैसे वही पदार्थ जिससे मनुष्य बना है कभी वनस्पतियो में और जन्तुओं में रहा है वैसे ही आत्मा का अमर होना भी सम्भव है, यह ठीक है, किन्तु उसे अगणित परिवर्तनों से गुजरना होगा और पिछली अवस्थाओं का कुछ भी स्मरण न होगा। किन्तु स्मृति के अभाव में यह अमरत्व नैतिक दृष्टि से बिलकुल बेकार है, क्योंकि पुरस्कार और दण्ड के विचार से असगत है। महाशय, इस शर्त पर चीन का राजा होने से आपको क्या लाभ कि पहले जो थे उसे भूल जाओगे? क्या यह वैसा ही नहीं होगा कि जिस क्षण ईश्वर तुम्हारा नाश करता है, उसी क्षण चीन में एक राजा की सृष्टि करता है?' अपने दृष्टि-बिन्दु से देकार्त कह सकता है 'यद्यपि मन की सभी घटनाओं में परिवर्तन कर दिया जा सकता है—उदाहरणार्थ, वह कुछ वस्तुओं का चिन्तन करे, अन्य का सकल्प करे और अन्य का प्रत्यक्ष करे—मन स्वत इन परिवर्तनों के साथ नहीं बदलता। जब कि इसके विपरीत, यदि मानव

होता, स्वीकार नही करता ।[१] इसी से, उन्हें यह मानना पडा कि मन (स्पिरिट) ही केवल चिद्विन्दु है और पशुओ के आत्मा नही होती, न अन्य चेतन सत्ताएँ है । इस प्रकार, जन-समूह की भाँति, वे भी विलम्बित अचेतनता तथा मृत्यु में अन्तर न कर सके ।[२] इससे फिर

के वाद दूसरे पर पडता हुआ, यह एक असीमता तक धीरे-धीरे घटता हुआ चला जाता है, और इस प्रकार, हमारा शरीर अवश्य ही किसी न किसी रूप में अन्य सभी पिण्डो के परिवर्तनो से प्रभावित होता है। अव, आत्मा के कुछ कम या अधिक उलझे हुए प्रत्यक्ष हमारे शरीर के सभी स्पन्दनों के सहवर्ती होते है, और इसीलिए हमारी आत्मा में विश्व के सभी स्पन्दनों का कुछ-न-कुछ विचार होना आवश्यक है। मेरी से तो प्रत्येक अन्य आत्मा या द्रव्य में भी उनका कुछ-न-कुछ प्रत्यक्षीकरण या अभिव्यजन होगा ।'

१ कार्तीय मत (डेकार्ट्स् के सम्प्रदाय का मत) में जन्तुओं और वनस्पतियों को शुद्ध यान्त्रिक रचना, जीवित स्वत चालित यन्त्र, विस्तार के भाग, अथवा पूर्ण रूप से विचार से पृथक् समझा जाता है । देखिए, डेकार्ट्स् ऑन मैथड, भाग ५, मेडिटेशन, २ तथा ६; प्रिंसिपिया फिलॉसॉफिई, १ ४८ ।

२ 'निद्रा जो मृत्यु की मूर्ति है, मूर्च्छाएं, रेशम के कीडे का अपने कोये में वन्द हो जाना, डूवी हुई मक्खियो का कोई सूखाचूर्ण छिडक दिये जाने पर जी उठना (जव कि ऐसा न करने पर वे मरी ही रह जातीं), अवावीलो में जो सर्दियों में अपने घर सरकण्डो में वनाती है और जहाँ वे जीवन के किसी लक्षण के विना ही पायी जाती है, फिर से जान आ जाना; मनुष्यों के दृष्टान्त, जिनमें वे वर्फ में जम जाने, डूवने या फांसी लगा लेने के वाद जिलाये गये है ये सव वातें मेरी सम्मति को पुष्ट करती है कि इन विभिन्न दशाओं में केवल दर्जे का भेद है, और यदि मृत्यु के दूसरे रूपो में पुन जीवन सचरित करने के साधन हमारे पास नहीं है, तो, शायद, इसलिए कि हम नहीं जानते उन दशाओ में क्या करना चाहिए या इसलिए कि हम जानते तो है किन्तु हमारे हाथ, हमारे यन्त्र और हमारी ओषधियां वैसा कर नहीं

उन्होने सम्प्रदायवादियो की भूल दुहरायी कि आत्माएँ (शरीर से) बिलकुल पृथक् है, और असयत मन वाले व्यक्तियो को तो यहाँ तक विश्वास करा दिया कि आत्माएँ मर्त्य है ।[1]

पातीं, विशेष कर जब बहुत शीघ्रता से लय होता है और बहुत दूर तक हो चुकता है । तदनुसार, हमें उन धारणाओं से सन्तोष नहीं करना चाहिए जो जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध में साधारण लोगों में पायी जाती है, जब कि हमें दोनों प्रकार के दृष्टान्त और (जो इससे भी अधिक है) ठोस युक्तियाँ, उपलब्ध है जो विपरीत (परिणामों को) प्रमाणित करती हैं । आरनोल्ड को पत्र (१६८७) ।

१ देकार्त आत्मा के अमरत्व को अन्तत ईश्वर की इच्छा पर निर्भर मानता है । उसकी पुस्तक, मेडिटेशन की भूमिका रूप में सलग्न सक्षेप देखिए । लाइबनित्स का प्रतिवाद इस प्रकार है 'आत्मा का अमरत्व, जिस रूप में देकार्त ने स्थापित किया है, किसी काम का नहीं है और हमें कुछ भी सन्तोष नहीं दे सकता । क्योंकि यह मान लेने पर कि आत्मा एक द्रव्य है और यह कि किसी द्रव्य का नाश नहीं होता, आत्मा की हानि न होगी, जैसे प्रकृति में वस्तुत किसी वस्तु की हानि नहीं होती, किन्तु, पदार्थ की भाँति, आत्मा की आकृति में परिवर्तन होगा, और जैसे वही पदार्थ जिससे मनुष्य बना है कभी वनस्पतियों में और जन्तुओं में रहा है वैसे ही आत्मा का अमर होना भी सम्भव है, यह ठीक है, किन्तु उसे अगणित परिवर्तनों से गुजरना होगा और पिछली अवस्थाओं का कुछ भी स्मरण न होगा । किन्तु स्मृति के अभाव में यह अमरत्व नैतिक दृष्टि से बिलकुल बेकार है, क्योंकि पुरस्कार और दण्ड के विचार से असगत है । महाशय, इस शर्त पर चीन का राजा होने से आपको क्या लाभ कि पहले जो थे उसे भूल जाओगे ? क्या यह वैसा ही नहीं होगा कि जिस क्षण ईश्वर तुम्हारा नाश करता है, उसी क्षण चीन में एक राजा की सृष्टि करता है ?' अपने दृष्टि-बिन्दु से देकार्त कह सकता है 'यद्यपि मन की सभी घटनाओं में परिवर्तन कर दिया जा सकता है—उदाहरणार्थ, वह कुछ वस्तुओं का चिन्तन करे, अन्य का सकल्प करे और अन्य का प्रत्यक्ष करे—मन स्वत इन परिवर्तनों के साथ नहीं बदलता । जब कि इसके विपरीत, यदि मानव

१५ आन्तरिक तत्त्व की वह क्रिया जो एक प्रत्यक्ष से दूसरे तक परिवर्तन या प्रवाह उत्पन्न करती है प्रेरणा कही जा सकती है। यह सत्य है कि इच्छा सदैव ही पूर्ण रूप से समग्र प्रत्यक्ष को प्राप्त नही कर सकती, किन्तु वह उसका कुछ अश सदैव प्राप्त कर लेती है और (इस प्रकार) नवीन प्रत्यक्षों तक पहुँचती रहती है।

१६ सरल द्रव्य में निहित वहुता का हमे अपने में अनुभव होता है, जव हम पाते है कि सूक्ष्मतम विचार मे, जिसकी हमे चेतना होती है,

शरीर के किसी अग के रूप में परिवर्तन हो जाता है तो वह वैसा ही नहीं रह जाता।' देकार्त मेडिटेशन, सलग्न सक्षेप देखिए। मुझे यह असम्भव नहीं लगता कि इस अवतरण के अन्तिम शब्दों को लिखते समय लाइवनित्स के ध्यान में, अन्य व्यक्तियों के अतिरिक्त, घुमक्कड आयरलैण्ड निवासी 'ईसाइयत रहस्यमय नहीं' का लेखक जॉन टोलैण्ड (१६७०–१७०२) था, जो १७०२ में वर्लिन में था और जिसने लाइवनित्स से सक्षिप्त पत्र व्यवहार किया था, जिसमें आत्मा के अमरत्व की समस्या का उल्लेख है। लाइवनित्स ने राजकुमारी सोफ़िया शारलॉट को एक उदार व्यंग्य के लहज़े में लिखा था कि टोलैण्ड सरलता से प्रश्न के किसी भी पक्ष का समर्थन कर सकता है। 'प्रकृति और महिमा के सिद्धान्तों' के चौथे अवतरण से तुलना करें।

१ अपनी कृतियों में से वहुतों में लाइवनित्स ने 'रोचन'॥ के लिए 'प्रवृत्ति' शब्द का प्रयोग किया है। ऊर्जा एक प्रकार का रोचन या प्रवृत्ति है, अथवा वह केवल वही नहीं है जो वस्तुत गति इत्यादि के रूप में प्रस्तुत होता है, वल्कि उसमें कुछ अव्यक्त ('पोटेंशियल') भी सम्मिलित रहता है। और सत्य अर्थ में नहीं, वैचारिक अर्थ में वह एक वस्तु का दूसरी पर प्रभाव है। समानता और अन्तर की दृष्टि से लाइवनित्स के रोचन की स्पिनोजा की कार्यता ('कोनेटस') से तुलना करें। लाइवनित्स के 'प्रकृति और महिमा के नियम' का दूसरा अवतरण भी देखें।

॥ एपीटीशन्।

विषय की प्रकारता अवगुफित है। इस प्रकार, उन सभी लोगो को जो आत्मा को सरल द्रव्य मानते है, चिद्‌विन्दु में वहुता स्वीकार करनी चाहिए। और श्री बेली[1] को इसमें उस प्रकार की कोई भी कठिनाई

१ एक 'प्रोटेस्टेंट' पादरी के पुत्र, पियरे वेली का जन्म लैंगुएडॉक के अन्तर्गत कारलाट नामक स्थान पर, १६४७ में हुआ था। उसकी शिक्षा टोलंज नामक विश्वविद्यालय में हुई, जहाँ जेसुएट शिक्षको के प्रभाव में आकर वह रोमन कैथलिक हो गया। किन्तु उसकी रोमन कैथलिक आस्था टिकाऊ न थी और अपने पुराने विश्वास को पुन प्राप्त करने पर चर्च द्वारा दण्डित होने से बचने के लिए वह जेनेवा चला गया। कुछ समय तक इधर-उधर घूमने के बाद वह सेडान विश्वविद्यालय में दर्शन का अध्यापक (१६७५) हो गया। किन्तु, बेली और कुछ दूसरे अध्यापकों के 'स्वतन्त्र विचारों' के कारण लूई चौदहवें ने १६८१ में इस प्रोटेस्टेंट विश्वविद्यालय को चुपचाप बन्द कर दिया। वेली रॉटरडेम के एक नये खुले हुए विश्वविद्यालय में इतिहास और दर्शन के अध्यापक पद पर चला गया। १६८४ में, नवीन पुस्तको की समीक्षा के निमित्त उसने 'नोवेल्स् द ला रिपब्लिक दे लेटर्स्' नामक मासिक पत्रिका की स्थापना की, जिसका लाइवनित्स की कृतियो में प्राय उल्लेख मिलता है। १६९३ में, राजनीतिक एव धार्मिक कारणो के बहाने उसका अध्यापक पद छीन लिया गया और तब उसने अपना समय अपने 'इतिहास एव समीक्षा-कोश' (१६९५-९६) में लगाया, जो विश्वकोशों एव अगली शताब्दी के विश्वकोश आन्दोलन का अग्रदूत बना। अन्य कृतियो के साथ, उसने धर्मार्थ दण्ड के विरुद्ध एक लघु ग्रन्थ तथा कैल्विन मत के विरुद्ध मैम्बर्ग के आक्षेपो के उत्तर प्रकाशित किये। १७०६ में उसकी मृत्यु हो गयी। लाइबनित्स की 'देवविद्या' का अधिकाश वेली को युक्तियों के उत्तर देने में पूरा हुआ है, वह विश्वास और तर्क के समन्वय की असम्भावना का प्रतिपादन करता था। इस प्रसग में बहुत मतभेद है कि बेली ने सच्चाई के साथ धर्म के मामलों में विश्वास की आवश्यकता के साथ दार्शनिक सन्देहवाद का गठबन्धन किया है। सम्भवत, इस प्रसग में वह देकार्त का अनुसरण करना चाहता था। लगता है लाइबनित्स बेली के धार्मिक

नही होनी चाहिए थी जैसी उन्होने अपने कोश में 'रोरेरियस'[1] लेख लिखते समय अनुभव की।

१७ और यह भी अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि प्रत्यक्ष और वह जो उस पर निर्भर है यान्त्रिक आधारो पर व्याख्येय नही है, अर्थात् चित्रो और गतियो द्वारा। यदि मान लें कि एक ऐसा यन्त्र बनाया जा सकता है जो विचार, अनुभव और प्रत्यक्षीकरण करता हो और जो अनुपातो को कायम रखते हुए इतना बढ सकता हो कि हम उसके

विश्वास की सच्चाई को स्वीकार करता था। उसने अपने लेखो में सर्वत्र बेली के प्रति बड़ा सम्मान प्रकट किया है और उसकी मृत्यु के बाद लिखा. 'हमें विश्वास करना चाहिए कि बेली अब उस प्रकाश द्वारा प्रबुद्ध हो गया है जो पृथ्वी को दिया नहीं जाता, क्योंकि सभी प्रतीतियो से वह सदैव एक शुभेच्छापूर्ण व्यक्ति रहा है।'

१ बेली के कोश के अधिकाश की भांति, 'रोरेरियस' लेख भी मुख्यत पाद-टिप्पणियों से युक्त कहा जा सकता है। जेरोम रोरेरियस (१४८५–१५६६) एक इतालियन था जो हगरी के फर्दिनद के दरबार में पोप के दूत के रूप में रहता था। वह सम्राट् चार्ल्स पचम का इतना अधिक प्रशंसक था कि किसी विद्वान् के मुंह से यह सुन कर कि वह ओटो तथा फ्रेडरिक बार्बरोसा से हीन है, एक छोटा-सा ग्रन्थ लिखने के लिए प्रेरित हुआ, जिसमें उसने दिखाया कि मनुष्य छोटे पशुओं की अपेक्षा कम बुद्धिमान् होते है। लिखे जाने के लगभग सौ वर्ष बाद यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ, जब पशुओ की आत्मा के सम्बन्ध में देकार्त के विचारो को लेकर विवाद छिडा हुआ था। बेली ने रोरेरियस के नाम का उपयोग कर, इस अवसर पर, उक्त प्रश्न का पूर्ण विवेचन किया, जिसके विस्तार में उसने लाइबनित्स की सम्मतियों का उद्‌घाटन एव आलोचना की। बेली खेद प्रकट करता है कि देकार्त की स्थिति का समर्थन इतना कठिन तथा उसका सत्य होना इतना असम्भाव्य है। कहीं ऐसा होता तो सच्चे विश्वास के लिए बहुत सहायक होता। कथन का अर्थ

भीतर उसी तरह जा सके जैसे किसी यन्त्रालय मे चले जाते है, तो उसकी आन्तरिक परीक्षा करने पर, हमें एक दूसरे पर क्रिया करने वाले भाग ही मिलेंगे, ऐसा कुछ नही मिलेगा जिससे किसी प्रत्यक्ष[1] की व्याख्या की जा सके। इसलिए, सरल द्रव्य मे ही प्रत्यक्ष की खोज

यह है कि कार्तीय मत में मनुष्य और पशुओं के बीच, 'जो नाशवान् हैं', बहुत बड़ा अन्तर करते हुए आत्मा के अमरत्व में विश्वास का पोषण किया गया है। बेली को ऐसा प्रतीत होता है कि लाइबनित्स ने (जिसे वह 'यूरोप के श्रेष्ठतम मनों में से एक' कहता है) कुछ ऐसे सुझाव (सामान्यत समस्या का हल प्राप्त करने के निमित्त) दिये है जिन्हें विकसित करना उपयोगी है। ये सुझाव उसके 'नवीन सस्थान' (न्यू सिस्टम) लेख में मिलते है, जो २७ जून, १६९५ (बेली के कोश के दूसरे खण्ड के निकलने से एक साल पहले) की 'जर्नल द सैवेंस' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। बेली के आक्षेप मुख्य रूप से पूर्व-स्थापित सगति और सरल द्रव्यों से उनकी सभी स्थितियों के सहज विकास के विरुद्ध है। प्रस्तुत अनुवाद, परिशिष्ट, पृ० ५–८ देखिए।

१ कहने का तात्पर्य यह है कि यदि हमारे पास इतने शक्तिशाली सूक्ष्म-वीक्षण यन्त्र होते जो मस्तिष्क में स्थित स्नायुकोषों और स्नायुतन्तुओं की सभी जटिलताओं को किसी बडे मान में हमारे सामने ला सकते, तब भी हम आकारों और गतियों से आगे कभी न बढ़ पाते। लाइबनित्स 'जन्तुओं की आत्मा की व्याख्या' (१७१०) से तुलना कीजिए 'यदि जो जीवित है उसमें यान्त्रिकता के अतिरिक्त कुछ नहीं है, अर्थात् वह मात्र पदार्थ है, जिसमें स्थान, विस्तार और आकार के भेद हैं, तो उससे यान्त्रिकता के अतिरिक्त कुछ भी निगमित नहीं किया जा सकता, न समझाया जा सकता है, जिसका मतलब उन भेदों के अतिरिक्त कुछ नहीं जिनके अभी मैं नाम ले चुका हूँ। क्योंकि किसी वस्तु को स्वतन्त्र रूप में लेने से उन धर्मों के भेदो के अतिरिक्त जिनसे वह निर्मित है और कुछ नहीं निगमित किया जा सकता। न समझाया जा सकता है। इसलिए हम आसानी से इस नतीजे पर पहुँच सकते है कि किसी चक्की या घडी में ऐसा कोई तत्त्व नहीं

करनी चाहिए, किसी यौगिक या किसी यन्त्र[1] मे नही। आगे, सरल द्रव्य में इसके (नाम से, प्रत्यक्ष और उनके परिवर्तनो के) अतिरिक्त कुछ नही मिल सकता। इसी में सरल द्रव्यो के सभी व्यापार समाहित हो सकते है।

१८ सभी सरल द्रव्यो या रचित चिद्विन्दुओ को चेतन सत्ताएँ[2]

जो देखता हो कि उसमें क्या होता है, और इससे कोई अन्तर नहीं पडता कि "यन्त्र" में स्थित वस्तुएं ठोस है या द्रव्य है या दोनो से बनी हुई है। इसके बाद हम यह भी जानते है कि स्थूल और सूक्ष्म पिण्डो में कोई सारभूत अन्तर नहीं होता, केवल विस्तार का अन्तर होता है, जिससे यह प्राप्त होता है कि यदि यह नहीं समझा जा सकता कि किसी "यन्त्र" में प्रत्यक्ष किस प्रकार प्रस्फुटित होता है चाहे वह द्रवों से बना हो चाहे ठोसो से, तो यह समझना उतना ही कठिन है कि किसी अपेक्षाकृत सूक्ष्म "यन्त्र" में प्रत्यक्ष कैसे उत्पन्न होता है, क्योंकि यदि हमारी इन्द्रियां सूक्ष्म होतीं तो भी यही लगता कि हम स्थूल "यन्त्र" का प्रत्यक्ष कर रहे है, जैसा सम्प्रति हम करते है।' देखिए, नव्य लेख, परिचय, पृ० ४०० (ऐ० २०३ ए)।

१ यन्त्र का अर्थ हमेशा 'भागो के वाहर भाग' होता है। यह सभी यौगिकों की विशेषता है, किन्तु किसी सरल द्रव्य की नहीं। इस प्रकार, यह कभी नहीं कहा जा सकता कि पदार्थ चिन्तन करता है। पदार्थ को किसी विचारशील या, कम-से-कम, प्रत्यक्ष कर सकने वाले तत्व की अपेक्षा रहती है।

२ 'चेतन सत्ता' से मूल अंग्रेजी के 'एन्टेलेकी' का अर्थ व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है। उक्त अंग्रेजी शब्द यूनानी भाषा के 'एन्तेलेंख़िया' का रूपान्तर है, जिसका प्रयोग पूर्ण हो जाने या चरम उपलब्धि के अर्थ में मिलता है। अरस्तू ने प्रकृति में एक अव्यक्त सामर्थ्य की कल्पना की है, जो क्रमश विकास के उच्चतर रूपों में व्यक्त होती रहती है। इस रूपान्तर की वाहिका प्रकृति के अन्तराल में निरन्तर होती रहने वाली एक प्रक्रिया है, जिसे उसने 'एनर्गिया' कहा है। अरस्तू के अर्थ में 'एन्तेलेंख़िया' पूर्णता की, अथवा उपलब्धि की वह अवस्था है, जिसमें

कहा जा सकता है, क्योंकि उनमें एक परिपूर्णता होती है, एक अन्त पर्याप्तता होती है, जो उन्हे अपने आन्तरिक व्यापारो

'एर्नेगिया' का पर्यवसान होता है । मेताफिजिका, खण्ड थीता, अश ८, १०५० ए की २२ वीं पक्ति देखिए । अरस्तू का कथन है 'क्योंकि क्रिया अन्त है और वास्तविकता क्रिया है ।' अरस्तू क्रिया, बल्कि प्रक्रिया, और व्यक्त वास्तविकता में कोई स्पष्ट अन्तर न कर सका था । 'द एनिमा' की दूसरी पुस्तक के अश १ में आत्मा (प्सीखो)की परिभाषा के निमित्त वह कहता है 'अब, वास्तविकता शब्द के दो अभिप्राय है, जो, क्रमश ज्ञान के अधिकृत होने और ज्ञान के वास्तविक अभ्यास के सवादी हैं । यह स्पष्ट है कि आत्मा प्रथम अर्थ में वास्तविकता है, अर्थात् ज्ञान के अधिकृत अर्थ में, क्योंकि निद्रित और जाग्रत, दोनो अवस्थाओं में आत्मा पूर्वकल्पित है, और इनमें से जाग्रत की वास्तविक ज्ञान से सगति है, निद्रित की अधिकृत किन्तु अप्रयुक्त ज्ञान से सगति है, और व्यक्ति के इतिहास में ज्ञान का स्थान उसके प्रयोग या अभ्यास से पहले है ।

यही कारण है कि आत्मा किसी प्राकृतिक पिण्ड की, जिसमें जीवन अव्यक्त रूप में है, वास्तविकता का पहला स्तर है ।' वह वास्तविकता के दो स्तर मानता है जिनमें ज्ञान होने और ज्ञान के अभ्यास की भाँति अव्यक्त और व्यक्त का सम्बन्ध है । लाइबनित्स की चेतन सत्ता एक स्वतन्त्र द्रव्य है जिसमें अपने परिवर्तन का तत्व मौजूद रहता है । वह उसे चेतन सत्ता इसलिए नहीं कहता कि वह पूर्ण उपलब्धि की अवस्था है, बल्कि इसलिए कि उसमें असीम पूर्णताओं का बीज छिपा रहता है, जो उसे विकसित होने की प्रवृत्ति देता है । इस प्रकार, लाइबनित्स की चेतन सत्ता किसी वस्तु की अन्तिम अवस्था नहीं है, जिसका वस्तु की अव्यक्त सामर्थ्य से विरोध हो बल्कि वह (विकास की) एक प्रवृत्ति है जिसे लाइबनित्स मात्र सामर्थ्य और पूर्ण विकसित अवस्था के बीच मानता है । पेरे बोवेत को पत्र में वह लिखता है "प्राचीनों के रूप या चेतन सत्ताएं ऊर्जाओ के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं ।' राबर्ट लैटा की पुस्तक, इन्ट्रो०, भाग ३, पृ० ६१, १०५ देखिए । अरस्तू की मेताफिजिका में—एच० ३, १०४४ ए–७–में एक कथन है, जिसे

का स्रोत, या यह कहें, अशारीर[*] स्व-चालित[1] यन्त्र बना देती है ।

(देव०-८७)

१९ यदि हम प्रत्येक वस्तु को जो हमारे समझाये हुए अर्थ में प्रत्यक्ष और इच्छा से युक्त हो आत्मा नाम दे, तो सभी सरल द्रव्यो या चिद्-विन्दुओ को आत्मा कहा जा सकेगा, किन्तु भाव मात्र-प्रत्यक्ष से कुछ अधिक होता है । इसलिए, मै समझता हूँ, ठीक होगा कि उन सरल द्रव्यो के लिए जिनमें केवल प्रत्यक्ष है सामान्य नाम चिद्विन्दु या चेतन सत्ता पर्याप्त माना जाय और आत्मा नाम उन्हें दिया जाय जिनके प्रत्यक्ष अधिक स्पष्ट एव स्मृति[2] द्वारा अनुगमित हो ।

लाइबनित्स के चिद्बिन्दु या चेतन सत्ता के विचार के सन्दर्भ में देखा जा हैं' 'और द्रव्य उसी अर्थ में एक है जिसे हम समझा चुके है, और जैसा कुछ लोग कहते हैं, एक इकाई या बिन्दु होने के अर्थ में नहीं, प्रत्येक एक सम्पूर्ण सत्ता और एक निश्चित स्वभाव है ।'

[*] इन्कार्पोरिएल्

१ कहने का भाव यह है कि वे उस प्रकार के यन्त्र नहीं है जैसे मनुष्य बनाता है, बल्कि पूरी तरह अपने आप गतिमान् होने वाले यन्त्र या ऐसे यन्त्र हैं जिनमें अपनी सभी अवस्थाओं या दशाओ का आधार या तत्त्व शेष सब कुछ से इतने स्वतन्त्र रूप में रहता है, मानों ससार में उनके और ईश्वर के अतिरिक्त कुछ न हो । इस अर्थ में, केवल चिद्विन्दु आत्मचालित या स्वचालित यन्त्र हैं । शरीर स्व-चालित यन्त्रो में, जहां तक वे सशरीर हैं, यह स्वतन्त्रता या आत्मनिर्भरता नहीं कही जा सकती । ६६४ से तुलना कीजिए । स्पिनोजा आत्मा के लिए कहता है कि यह 'किन्हीं नियमो के अनुसार कार्य करती है, मानो एक प्रकार का आध्यात्मिक स्वचालित यन्त्र हो ।'

२ इस प्रकार, स्मृति, अचेतन प्रत्यक्ष से पृथक्, चेतनता का चिह्न है ।

२० क्योकि हम अपने आप में एक अवस्था का अनुभव करते हैं जिसमें न तो हमे कुछ स्मरण होता है और न कोई विशिष्ट प्रत्यक्ष ही होता है, जैसे जव हम मूर्च्छित होते है, अथवा गहन स्वप्नरहित निद्रा से अभिभूत होते हैं। इस अवस्था में आत्मा, प्रत्यक्षत , मात्र-चिद्‌विन्दु से भिन्न नही होती, किन्तु यह अवस्था वनी नही रहती, और आत्मा इसे पार कर लेती है, अत आत्मा मात्र-चिद्‌विन्दु से अधिक है।

(देव०–६४)

२१ और यह निष्पन्न नही होता कि इस अवस्था मे सरल द्रव्य प्रत्यक्षरहित होता है। वैसा तो, सचमुच, हो ही नही सकता, क्योकि कारण पहले ही दिये जा चुके है, फिर भी वह नष्ट नही हो सकता, और वह विना किसी न किसी तरह प्रभावित हुए भी नही रह सकता और यह प्रभाव[1] उसके प्रत्यक्ष के सिवा और कुछ नही। किन्तु जब छोटे-छोटे प्रत्यक्षो का वहुत वडा समूह हो जाता है, जिसमें कुछ भी स्पष्टता न हो, तो कोई भी स्तब्ध रह जाता है, जैसे जव कोई उसी मार्ग पर लगातार अनेक वार घूमता है तो घुमनी आने लगती है, जो मूर्च्छित भी कर दे सकती है और किसी चीज को पहचानने नही देती।[2]

यह विचार आधुनिक लेखकों द्वारा पोषित मत के अनुकूल है कि चेतन सवेदना में स्मृति पूर्व-कल्पित है, क्योंकि किसी सवेदना को हम तभी जान सकते हैं जब दूसरी सवेदनाओं से तुलना कर सकें। लाइवनित्स ने अपनी प्रारम्भिक कृतियो में से एक में साकेतिक रूप में लिखा था कि शरीर 'क्षणिक मन, अथवा स्मृति विरहित मन है।'—थ्योरिया मोतुस् ऐव्स्त्रैक्ताइ (१६७१)

१ लाइवनित्स ने मूलत 'प्रकारान्तर' (वेरियेशन्) लिखा था।

२ लाइवनित्स का विचार-विन्दु यह है कि इस प्रकार की स्थितियों में भी वाह्य जगत् से हमारे कुछ विशेष प्रकार के सम्वन्ध अवश्य ही बने रहते हैं, यद्यपि चेतनता कुछ समय के लिए इतनी क्षीण हो जाती है कि वह अप्रत्यक्ष रहती है।

मृत्यु कुछ समय के लिए जीवधारियो को इस अवस्था में रख दे सकती है ।[1]

२२. और चूंकि सरल द्रव्य की प्रत्येक वर्तमान अवस्था उसकी पूर्वावस्था का स्वाभाविक परिणाम होती है, इस तरह कि उसका वर्तमान भविष्य मे मिलकर दीर्घकालीन हो जाता है,[2]

(देव०—३५०)

२३. और चूंकि सुस्ती से जागने पर, हमें अपने प्रत्यक्षो की चेतना होती है, (हम जानते है कि) जागने से तुरन्त पहले हमने प्रत्यक्ष किये होगे, यद्यपि हमें उनकी चेतना न थी, क्योकि स्वाभाविक रूप से एक प्रत्यक्ष दूसरे प्रत्यक्ष से ही उत्पन्न हो सकता है, जैसे एक गति स्वाभाविक रूप से गति ही उत्पन्न हो सकती है ।[3]

(देव०—४०१-४०३)

२४ इस प्रकार मालूम होता है कि हमारे प्रत्यक्षो में यदि कुछ भी विशिष्ट अथवा यूं कहे, आकर्षक और सुवासित न होता, तो हम

१. चिद्‌विन्दु-विद्या §१४, टिप्पणी २३ देखिए ।

२. चिद्‌विन्दु-विद्या §७८ और §७८ देखिए ।

३. पर्याप्त कारण के नियम के आग्रह से प्रत्येक प्रत्यक्ष का एक कारण मानना आवश्यक है और वह कारण दूसरा प्रत्यक्ष ही हो सकता है (देखिए §१७); और यदि पूर्ववर्ती प्रत्यक्ष उत्तरवर्ती प्रत्यक्ष के निकट पूर्व स्थित न होता तो आत्मा की सत्ता में पायी जाने वाली निरन्तरता भग हो जाती । अन्तिम अर्थ में, निश्चय ही, गतियाँ स्वय प्रत्यक्ष ही है, किन्तु वे इस प्रकार के उलझे हुए प्रत्यक्ष है कि उनके बीच के सम्बन्धो को यान्त्रिक नियमों के अनुसार बताया जा सकता है, पर वे अमूर्त हैं और उनकी सम्पूर्ण व्याख्या के निमित्त अन्तिम कारणो के सस्थान या प्रत्यक्ष के सामान्य नियमों की पूर्व भावना अपेक्षित है ।

हमेशा जडता की अवस्था मे रहते, और यही वह अवस्था है, जिसमें मात्र-चिद्विन्दु रहते है ।

२५ हम जानते है कि प्रकृति ने जीवधारियो को उन्नत प्रत्यक्ष दिये है—ऐसे अग प्रदान करने की ओर विशेष ध्यान देने से जो अनेक प्रकाश किरणो या वायु के अनेक स्पन्दनो को एकत्र करते है, जिससे वे उन्हें सम्मिलित कर अधिक प्रभाव उत्पन्न कर सकें ।[1] इसीसे कुछ मिलती-जुलती वात गन्ध मे, स्वाद मे और स्पर्श मे, और शायद वहुत-से दूसरे सवेदो मे, जिन्हे हम नही जानते, होती है । और अभी[2] मे समझाऊँगा कि किस प्रकार आत्मा मे जो घटित होता है, वह उसे प्रस्तुत करता है जो शारीरिक अगो मे घटित होता है ।

२६ स्मृति आत्मा को एक प्रकार की क्रमवद्धता[3] देती है, जो वुद्धि से मिलती-जुलती है, किन्तु जिसे उससे अलग समझना चाहिए । इस प्रकार, हम देखते है कि जव जीवधारी किसी वस्तु का, जो उन्हें प्रभावित करती है और जिसका वे पहले उसी प्रकार प्रत्यक्ष कर चुके होते है, प्रत्यक्ष करते है, तो वे स्मृति मे विद्यमान प्रतिदर्शन के कारण

१. 'प्रकृति तथा महिमा के सिद्धान्त', §४ देखिए ।

२ चिद्विन्दु-विद्या §६१ तथा §६२ देखिए ।

३ 'क्रमवद्धता' मूल अग्रेजी के 'कान्सिक्यूटिव्नेस्' का अनुवाद है जो लैटिन के 'कान्सिक्यूशिओ' का भाव व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त हुआ है तात्पर्य प्रत्यक्षों का अटूट क्रम है । लाइवनित्स का सकेत उसी विचार की ओर है, जिसे अव विचारो का साहचर्य कहा जाता है । अपने 'नव्य लेखों' की दूसरी पुस्तक के २३ वें अध्याय ('विचारो के साहचर्य पर') में उसने मुख्यतया 'विचारों के अस्वाभाविक सम्वन्धों' पर विचार किया है, जैसे असाधारण पूर्वाग्रहों या अ धविश्वासों में पाये जाते है ।

उसकी आकाक्षा करने लगते है जो पिछले प्रत्यक्ष में उस वस्तु के साथ सवद्ध था, और वे उसी प्रकार के अनुभव करने लगते है, जैसे पिछले प्रत्यक्ष के अवसर पर हुए थे । उदाहरणार्थ कुत्तो को जब छडी दिखायी जाती हैं, तो वे उस दर्द को याद करते है जो उसने पिछली वार पैदा की थी, और गुर्राते है और भाग जाते है ।[1]

२७ और मानस प्रतिमा की शक्ति जो उन्हें प्रभावित और प्रेरित करती है या तो पूर्ववर्ती प्रत्यक्षो के विस्तार से आती है या उनकी सख्या से, क्योकि प्राय, सवल प्रभाव सहसा उसी प्रकार का परिणाम उत्पन्न कर देता है, जैसा कोई दीर्घकालीन अभ्यास, अथवा वहुसख्यक तथा वहुधा आवर्तित साधारण प्रत्यक्ष उत्पन्न करते है ।[2]

१ यहाँ यह विचारणीय है कि क्या सचमुच, जैसा कुछ आलोचकों का मत है, इस अवतरण में लाइबनित्स ने अपने 'पूर्वनियोजित सगति' के नियम की अवहेलना की है और अनजाने ही साधारण दृष्टिविन्दु अपना लिया है, जिसमें यह अन्तर्भूत है कि वस्तुएँ एक दूसरे पर प्रभाव डालती हैं और यह कि उनमें से कोई भी अपने सभी अनुभवों का कारण स्वय ही नहीं है ।

२. लाइबनित्स ने अपने 'नव्य लेखों' (पु० २, अ० ३३) में कहा है : 'और चूँकि कारण (वस्तुओं के सम्बन्धो के) हमें प्राय मालूम नहीं होते, आवृत्ति के अनुपात में उनके विशिष्ट दृष्टान्त की ओर ध्यान देना चाहिए, क्योंकि तब दूसरे प्रत्यक्ष की आकांक्षा, अथवा स्मरण, जो उस प्रत्यक्ष के साथ जुडा रहता है जिसका हम अनुभव कर रहे हैं, युक्तियुक्त होता है, मुख्य रूप से उन दृष्टान्तों में जहाँ हमें सावधानी वरतनी हो । किन्तु, प्राय बहुत बलवान् प्रभाव की उग्रता एकाएक उतना असर कर जाती है जितना कई मध्यम प्रभावो की आवृत्तियो एव पुनरावृत्तियो द्वारा दीर्घकाल में हो पाता । इसलिए, ऐसा होता है कि यह उग्रता कल्पना-पटल पर एक इतनी गहरी और जागरूक प्रतिमा अकित कर देती है जितनी कि पुराने अनुभव ही उत्पन्न कर सकते थे । इससे यह प्राप्त होता है कि आकस्मिक,

२८ जहाँ तक प्रत्यक्षो की क्रमवद्धता केवल स्मृति के नियम पर निर्भर है, मनुष्य छोटे पशुओ की भाँति कार्य करते है, वहुत कुछ अनुभवी चिकित्सको[1] की भाँति जिनकी विधियाँ सिद्धान्तरहित,मात्र-व्यावहारिक है। सचमुच, अपने व्यापारो के तीन-चौथाई भाग मे हम व्यावहारिक ही है। उदाहरण के लिए, जव हम आशा करते है कि कल दिन मे प्रकाश रहेगा तो हम व्यवहारतः ही ऐसा करते है, क्योकि अभी तक सदैव ऐसा होता रहा है। केवल सौर-शास्त्री ही ऐसा है जो यौक्तिक आधारो पर इसका विचार करता है।

२९ किन्तु अनिवार्य और शाश्वत सत्यो का ज्ञान ही हमे मात्र-जीवधारियो से पृथक् करता है और हमे वुद्धि और विज्ञान देता है, जिससे हम अपने और ईश्वर के ज्ञान[2] तक पहुँच जाते है। और यही

किन्तु उप प्रभाव हमारी स्मृति में दो विचारो को जो पहले ही से एक साथ थे, मिला देता है और हमें उनको सम्बद्ध मानने तथा एक के प्रस्तुत होने पर दूसरे की आकाक्षा करने के लिए इस प्रकार मनोवृत्ति प्रदान करता है मानों उनके सम्बन्ध किसी पुराने प्रचलन से सिद्ध किये जा चुके हो। इस प्रकार, साहचर्य वही प्रभाव उत्पन्न करता है यद्यपि कारण वही नहीं होते। मान्यता एव प्रचलन वही प्रभाव डालते हैं जो अनुभव और युक्ति, और इन मनोवृत्तियों से मुक्त हो पाना सरल नहीं है।' नव्य लेख, परिचय, पृ० ६४ देखें।

१ गैलेन के समय (सि० १५०) तक चिकित्सकों के अनेक सम्प्रदाय थे। उनमें से एक अनुभवियो ('एम्पिरिक्स्') का था, जो रोगो के 'अनुभूत' पूर्व रूपो के निरीक्षण पर वल देते थे। आगे चलकर, जव ये वदनाम हो गये तो यही नाम उन चिकित्सकों को दिया गया जो सैद्धान्तिक अध्ययन की अवहेलना कर, परम्परागत एव व्यक्तिगत अनुभवों पर विश्वास करते थे।

२ अनिवार्य एव शाश्वत सत्य सम्पूर्ण यौक्तिक ज्ञान के प्रायमिक अवयव है। वे हममें जन्मजात हैं। वस्तुत, वे ही हमारे स्वभाव, अपितु विश्व के अवयव

उसकी आकांक्षा करने लगते हैं जो पिछले प्रत्यक्ष में उस वस्तु के साथ सबद्ध था, और वे उसी प्रकार के अनुभव करने लगते हैं, जैसे पिछले प्रत्यक्ष के अवसर पर हुए थे। उदाहरणार्थ कुत्तों को जब छडी दिखायी जाती है, तो वे उस दर्द को याद करते हैं जो उसने पिछली बार पैदा की थी, और गुर्राते हैं और भाग जाते हैं।[1]

२७ और मानस प्रतिमा की शक्ति जो उन्हें प्रभावित और प्रेरित करती है या तो पूर्ववर्ती प्रत्यक्षो के विस्तार से आती है या उनकी सख्या से, क्योकि प्राय, सबल प्रभाव सहसा उसी प्रकार का परिणाम उत्पन्न कर देता है, जैसा कोई दीर्घकालीन अभ्यास, अथवा बहुसख्यक तथा बहुधा आवर्तित साधारण प्रत्यक्ष उत्पन्न करते हैं।[2]

१ यहाँ यह विचारणीय है कि क्या सचमुच, जैसा कुछ आलोचकों का मत है, इस अवतरण में लाइबनित्स ने अपने 'पूर्वनियोजित सगति' के नियम की अवहेलना की है और अनजाने ही साधारण दृष्टिबिन्दु अपना लिया है, जिसमें यह अन्तर्भूत है कि वस्तुएँ एक दूसरे पर प्रभाव डालती हैं और यह कि उनमें से कोई भी अपने सभी अनुभवों का कारण स्वय ही नहीं है।

२ लाइबनित्स ने अपने 'नव्य लेखों' (पु० २, अ० ३३) में कहा है : 'और चूँकि कारण (वस्तुओं के सम्बन्धों के) हमें प्राय मालूम नहीं होते, आवृत्ति के अनुपात में उनके विशिष्ट दृष्टान्त की ओर ध्यान देना चाहिए, क्योंकि तब दूसरे प्रत्यक्ष की आकांक्षा, अथवा स्मरण, जो उस प्रत्यक्ष के साथ जुड़ा रहता है जिसका हम अनुभव कर रहे हैं, युक्तियुक्त होता है, मुख्य रूप से उन दृष्टान्तों में जहाँ हमें सावधानी बरतनी हो। किन्तु, प्राय बहुत बलवान् प्रभाव की उग्रता एकाएक उतना असर कर जाती है जितना कई मध्यम प्रभावों की आवृत्तियों एव पुनरावृत्तियों द्वारा दीर्घकाल में हो पाता। इसलिए, ऐसा होता है कि यह उग्रता कल्पना-पटल पर एक इतनी गहरी और जागरूक प्रतिमा अंकित कर देती है जितनी कि पुराने अनुभव ही उत्पन्न कर सकते थे। इससे यह प्राप्त होता है कि आकस्मिक,

२८ जहाँ तक प्रत्यक्षो की क्रमबद्धता केवल स्मृति के नियम पर निर्भर है, मनुष्य छोटे पशुओ की भाँति कार्य करते है, बहुत कुछ अनुभवी चिकित्सको[1] की भाँति जिनकी विधियाँ सिद्धान्तरहित,मात्र-व्यावहारिक है । सचमुच, अपने व्यापारो के तीन-चौथाई भाग मे हम व्यावहारिक ही है । उदाहरण के लिए, जब हम आशा करते है कि कल दिन मे प्रकाश रहेगा तो हम व्यवहारतः ही ऐसा करते है, क्योकि अभी तक सदैव ऐसा होता रहा है । केवल सौर-शास्त्री ही ऐसा है जो यौक्तिक आधारो पर इसका विचार करता है ।

२९ किन्तु अनिवार्य और शाश्वत सत्यो का ज्ञान ही हमे मात्र-जीवधारियो से पृथक् करता है और हमे बुद्धि और विज्ञान देता है, जिससे हम अपने और ईश्वर के ज्ञान[2] तक पहुँच जाते है । और यही

किन्तु उग्र प्रभाव हमारी स्मृति में दो विचारों को जो पहले ही से एक साथ थे, मिला देता है और हमें उनको सम्बद्ध मानने तथा एक के प्रस्तुत होने पर दूसरे की आकाक्षा करने के लिए इस प्रकार मनोवृत्ति प्रदान करता है मानो उनके सम्बन्ध किसी पुराने प्रचलन से सिद्ध किये जा चुके हों । इस प्रकार, साहचर्य वही प्रभाव उत्पन्न करता है यद्यपि कारण वही नहीं होते । मान्यता एव प्रचलन वही प्रभाव डालते हैं जो अनुभव और युक्ति, और इन मनोवृत्तियो से मुक्त हो पाना सरल नहीं है ।' नव्य लेख, परिचय, पृ० ६४ देखें ।

१ गैलेन के समय (सि० १५०) तक चिकित्सकों के अनेक सम्प्रदाय थे । उनमें से एक अनुभवियो ('एम्पिरिक्स्') का सम्प्रदाय था, जो रोगो के 'अनुभूत' पूर्व रूपों के निरीक्षण पर बल देते थे । आगे चलकर, जब ये बदनाम हो गये तो यही नाम उन चिकित्सको को दिया गया जो सैद्धान्तिक अध्ययन की अवहेलना कर, परम्परागत एव व्यक्तिगत अनुभवों पर विश्वास करते थे ।

२ अनिवार्य एव शाश्वत सत्य सम्पूर्ण यौक्तिक ज्ञान के प्राथमिक अवयव हैं । वे हममें जन्मजात हैं । वस्तुत , वे ही हमारे स्वभाव, अपितु विश्व के अवयव

है हमारे भीतर, जिसे यौक्तिक आत्मा या मन ('स्पिरिट') कहते है ।

३० यह भी अनिवार्य सत्यो और उनकी अमूर्त अभिव्यक्ति के द्वारा ही होता है कि हम प्रतिविम्वन के व्यापारो तक पहुँचते है, जो हमें यह सोचने के लिए प्रेरित करते है कि "मै" किसे कहा जाता है, इस निरीक्षण की ओर प्रेरित करते है कि यह या वह हमारे भीतर है और इस प्रकार अपने विपय में विचार करते हुए, हम सत्ता, द्रव्य, सरल और यौगिक,अपदार्थ के विपय मे, और ईश्वर के विषय में विचार करते है, यह प्रत्ययन करते हुए कि हममें जो सीमित है वह उसमें सीमाओ से रहित है । और प्रतिविम्वन के ये व्यापार ही हमें अपनी युक्तियो के निमित्त मुख्य विपय प्रदान करते है ।[1]

(देव०, भूमिका)

हैं, क्योकि सम्पूर्ण विश्व का प्रतिरूपण करना हमारे सार का धर्म है । इस प्रकार, इन सत्यों की चेतना या ज्ञान हमारा अपने आपका ज्ञान है, और साथ ही, यह ईश्वर का ज्ञान है, जो सभी वस्तुओं का अन्तिम कारण है । तुलना के लिए, देखिए नव्य लेख, पु० १, अ० १, §४ 'मनुष्यों में अच्छी सामान्य सहमति किसी तत्त्व के जन्मजात होने का प्रमाण नहीं, केवल सकेत है, किन्तु, इन तत्त्वों का सही और निश्चयात्मक प्रमाण यह दिखाने में है कि इनकी निश्चितता जो कुछ हममें है उसी से प्राप्त होती है यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण अकगणित और ज्यामिति आभासी रूप में जन्मजात है और हममें है, जिससे हम जो हमारे मन में पहले से मौजूद है उसी पर ध्यानपूर्वक विचार करने से उन्हें पा जाते है, विना अपने किसी अनुभव से सीखे हुए या वाह्य परम्परा से प्राप्त सत्य का प्रयोग किये हुए, जैसा प्लेटो ने अपने एक सवाद (मीनो) में ि है, जिसमें वह सुकरात को प्रस्तुत करता है, जो, विना कुछ वताये हुए, एक वालक को प्रश्नो के माध्यम से दुरूह सत्यो तक ले जाता है ।' प्रकृति और महिमा के नियम, §५ से तुलना कीजिए ।

१ जव हमें शाश्वत सत्यो के शाश्वत होने का, या यह कहें कि अपने अस्तित्व

३१ हमारी युक्तियाँ दो बडे नियमो पर टिकी हुई है, विरोध का नियम जिसके आग्रह से हम मिथ्या उसे निर्णीत करते है जिसमें

और सम्पूर्ण जगत् के अन्तर्जात तत्त्व होने का भान होता है, तो चेतना स्व-चेतना (प्रतिक्षेपक†चेतना) हो जाती है। द्रव्य सदैव ही किसी-न-किसी प्रकार की आत्मा होता है, क्योकि जो कुछ हम अपने में पाते है उसी के समरूप उसे होना चाहिए। नव्यलेख, पु० १, अ० १, §२१ से तुलना कीजिए 'प्राय वस्तुओ के स्वभाव का ज्ञान हमारे मन और उन अन्तर्जात विचारो के, जिन्हें उससे बाहर खोजने की जरूरत नहीं, स्वभाव के ज्ञान के सिवा कुछ नहीं होता।' '२३ भी देखिए 'बौद्धिक विचार, अथवा अन्तर्दर्शन सम्बन्धी विचार हमारे मन से निकलते है, और मै तो बहुत चाहूँगा कि मै यह जान सकूँ कि यदि हम सत्तावान् न होते और अपने में सत्ता न पाते, तो हमें सत्ता का विचार कैसे प्राप्त होता।' यहाँ हम बीज रूप में, अन्तिम पारभौतिक सत्ता रूपी 'विषयी' में 'द्रव्य' की परिणति का काण्टीय मत पाते है।

बोर्नो को इस अवतरण में स्वचेतन चिन्तन की प्रक्रिया में सम्मिलित स्तरो के अनुक्रम का सकेत मिलता है। ईश्वर का स्वभाव ही सत्य, अथवा हमारे स्वभाव का अन्तिम सत्य है। इस प्रकार,'चिन्तन' में, अथवा सत्ता के अपने स्रोत की ओर जो ईश्वर है, पलटने में हम सबसे पहले अह या उस सत्ता पर पहुँचते है जो हममें है, क्योकि वह सीमित एव दूसरी सत्ताओ से पृथक् है, और तब सत्ता, द्रव्य और अमूर्त पर पहुँचते हुए, निरन्तर ईश्वरीय सार के समीप होते रहते है। और अन्त में, प्रत्यक्षीकरण द्वारा, जो इस प्रकार प्रतिक्षेपक एव चेतन हो उठता है, हम असीम सत्ता तक पहुँचते है जिसे सर्जित प्राणी प्रारम्भ से ही उलझे हुए और अचेतन रूप में खोजा करते है। कह सकते है कि तब वृत्त अपने में ही बन्द हो जाता है सर्जित प्राणी अपने को स्रष्टा से, चूँकि वह उसी में है, अभिन्न समझता है, (इतने ही में) ससीम ने वह सब कर लिया है जो असीम को पुन प्रस्तुत करने के मार्ग में उसके स्वभाव के लिए सम्भव था।

† रिफ्लेक्टिव्

विरोध अन्तर्भूत होता है और सत्य उसे जो मिथ्या का बाधक या विरोधी है ।[१]

(देव० ४४, १६१)

३२ और पर्याप्त युक्ति का नियम वह जिसके आग्रह से हम यह मानते है कि कोई भी वास्तविक या वर्तमान तथ्य या कथन तब तक सत्य नही हो सकता जब तक कोई पर्याप्त युक्ति न हो कि क्यो इसे ऐसा ही होना चाहिए और अन्य प्रकार का नही, यद्यपि सामान्यत इन युक्तियो को हम जान नही सकते ।[२]

(देव० ८८, १९६)

१ लाइबनित्स कभी-कभी विरोध और तादात्म्य (अ = अ) के नियमों में अन्तर करता है । किन्तु, अन्तत वह दोनों को एक मानता है । नव्य लेखों, पु० ४, अ० २, §1 से तुलना कीजिए · 'विरोध का नियम सामान्यत इस प्रकार है : कोई वाक्य या तो सत्य होता है या असत्य । इसमें दो सत्य कथन सम्मिलित है—(१) कि सत्य और असत्य एक ही वाक्य में सगत नहीं होते, अथवा यह कि एक ही समय में कोई वाक्य सत्य और असत्य, दोनों नहीं हो सकता, (२) कि सत्य और असत्य के विपक्ष, अथवा निषेध सगत नहीं होते, अथवा कि सत्य और असत्य के बीच कोई मध्य पद नहीं होता, अथवा यह असम्भव है कि कोई वाक्य न सत्य हो न असत्य ।' देखिए, अरस्तू तत्त्वविद्या, गामा ३, १००५ बी०–१९ और ७ , १०११ बी–२३ ।

२ अपनी प्रारम्भिक कृतियों में लाइबनित्स पर्याप्त युक्ति को निश्चायक युक्ति कहता है, जिससे उसका तात्पर्य वह युक्ति है जो बहुत-सी सम्भावनाओं में से, जिनमें कोई आत्म-विरोध नहीं रहता, इसके या उसके होने का निश्चय करती है । पर्याप्त युक्ति के पर्याय के रूप में वह कभी-कभी 'औचित्य या सगति के नियम' का प्रयोग करता है । यह, इस प्रकार, यह सकेत करता है कि किसी वस्तु की पर्याप्त युक्ति सदैव अन्य वस्तुओं से उसके सम्बन्धों में, अपितु सामान्य विश्व-

३३ सत्य भी दो प्रकार के होते हैं, युक्तियो के और तथ्यो के।[1] युक्तियो के सत्य अनिवार्य होते हैं और उनके विलोम असम्भव हैं तथ्यो के सत्य आकस्मिक होते हैं और उनके विलोम सम्भव हैं।[2] जब कोई सत्य अनिवार्य होता है, तो उसकी युक्ति विश्लेषण के द्वारा खोजी जा सकती है, उसे अधिक सरल विचारो एव सत्यो में तब तक घटाते रहने से जब तक हम उन (विचारो एव सत्यो) तक नही पहुँच जाते जो प्राथमिक हैं।[3]

(द्वेव०—१७०,१७४, १८९, २८०–२८२,३६७)

सस्थान के भीतर उसके स्थान में प्राप्य है। जब हम किसी वस्तु की अमूर्त' सम्भावना'के अतिरिक्त, अन्य वस्तुओं के साथ 'सहसम्भावना' प्रदर्शित करते है, तो उसकी पर्याप्त युक्ति बताते हैं। पर्याप्त युक्ति का नियम अन्तिम कारण का नियम है। ऐसा समझा जाता है कि लाइबनित्स ने 'पर्याप्त' शब्द के प्रयोग का सकेत गणित से प्राप्त किया था, जहाँ इसका प्रयोग लगभग उसी अर्थ में होता है जिसमें हम कहते ह कि एक विस्तार अमुक समीकरण को सन्तुष्ट करता है।

१ सम्प्रदायवादियों की ज्ञानात्मक युक्ति ('रेशियो कॉग्नोसेन्डाइ') और सत्तात्मक युक्ति ('रेशियो एस्सेन्डाइ') से तुलना कीजिए।

२ लाइबनित्स का किसी अन्य सन्दर्भ में यह कथन है 'भला इसमें क्या विरुद्ध होता यदि स्पिनोजा लीडेन में मरता।' इस पर वेली की व्याख्या इस प्रकार है 'यहाँ जो इसलिए असम्भव है कि उसमें अन्तर्विरोध है को उसके साथ भुला दिया गया है जो इसलिए नहीं हो सकता कि चुने जाने के लिए उपयुक्त नहीं है। यह ठीक है कि स्पिनोजा हेग में नहीं लीडेन में मरा था, मान लेने में कोई विरोध न होता, यह बिलकुल सम्भव था। फलत, ईश्वर की शक्ति के विषय में भी यह तटस्थ प्रसग था। किन्तु, यह नहीं समझना चाहिए कि कोई भी घटना, कितनी ही नगण्य क्यों न हो, ईश्वर की बुद्धिमत्ता एव उदारता के प्रसग में भी तटस्थ मानी जा सकती है।'

३ लाइबनित्स दो प्रकार के सत्यों से दोनों नियमो के सम्बन्धों का कोई

३४ इसी प्रकार, गणित में विचार-प्रधान प्रमेयो और प्रयोग-त्मक प्रनियमो को विश्लेषण द्वारा परिभाषाओ, स्वयसिद्ध कथनो और गृहीत पदो मे घटा दिया जाता है।

३५ सक्षेपत, ऐसे सरल विचार है, जिनकी कोई परिभाषा नही दी जा सकती[1], ऐसे स्वयसिद्ध कथन और गृहीत-पद, एक शब्द में प्राथमिक नियम भी है, जिन्हे प्रमाणित नही किया जा सकता और

स्पष्ट विचार नहीं देता। सम्भवत, दोनों नियमो के पारस्परिक सम्बन्धो के विषय में उसकी असमजस की स्थिति ही इसका कारण रही है। देवविद्या के परिशिष्ट में, लाइबनित्स कहता है 'दोनो नियम अनिवार्य ही नहीं, आकस्मि. सत्यों पर भी घटित होने चाहिए, और वस्तुत, जिसमें कोई पर्याप्त युक्ति नहीं उसे अवश्य ही असत् होना चाहिए, क्योंकि एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि ये दोनो नियम सत्य और असत्य की परिभाषा में आ गये हैं। तथापि, जब किसी सकेतित सत्य का विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि वह ऐसे सत्यो पर निर्भर है जिनके विपक्ष में अन्तर्विरोध है, तो कह सकते हैं कि वह निरपेक्षत आवश्यक है। किन्तु, जब हम जितना भी चाहें विश्लेषण करते चले जाने के बावजूद भी दिये हुए सत्य में इस प्रकार के तत्त्व नहीं पाते, तो उस सत्य को आकस्मिक और किसी ऐसी पूर्ववर्ती युक्ति से उत्पन्न मानना चाहिए जिसमें प्रवृत्ति तो है, किन्तु अनिवार्यता नहीं है।' किन्तु, आगे चल कर, लाइबनित्स ने क्लार्क को लिखा 'विरोध का नियम अकेला ही सम्पूर्ण अकगणित और ज्यामिति, अथवा सम्पूर्ण गणित के नियमो को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। किन्तु, गणित से भौतिकी में प्रवेश करने के लिए, एक-दूसरे नियम—पर्याप्त युक्ति के नियम—की भी आवश्यकता है।' चिद्‌बिन्दु-विद्या में लाइबनित्स का पूर्व उद्धृत मत ही मिलता है।

१ लाइबनित्स के लिए, किसी विचार की परिभाषा उसके उन अवयवो का कथन है जिनका पूर्ण विश्लेषण के द्वारा उद्‌घाटन होता है। 'ज्ञान, सत्य और विचारों पर चिन्तन' लेख के इस कथन से तुलना कीजिए 'जब सभी कुछ जो किसी पृथक्

सचमुच जिन्हें प्रमाणो की कोई आवश्यकता नही, और यह तदात्मक युक्ति-वाक्य है जिनके विलोम मे आवश्यक विरोध अन्तर्भूत रहता है।

(देव०-३६, ३७, ४४, ४५, ४९, ५२, १२१-२२, ३३७, ३४०-४४)

३६ किन्तु, आकस्मिक सत्यो या तथ्य-सम्वन्धी सत्यो के लिए भी पर्याप्त युक्ति का होना आवश्यक है,[1] अर्थात् रचित सत्ताओ के विश्व में विखरी हुई वस्तुओ के क्रम या सम्वन्धो के लिए, जिनके क्षेत्र में—प्रकृति में वस्तुओ की अमित प्रकारता और पिण्डो के असख्य विभागो के कारण—विशिष्ट युक्तियो का विश्लेपण अन्तविहीन अशो तक चलता रह सकता है।[2] वर्तमान और भूत आकारो एव गतियो की एक असीमता है, जिससे मेरे प्रस्तुत लेखन कार्य का निमित्त कारण वना है, और मेरी आत्मा की सूक्ष्म प्रेरणाओ

विचार में अवयव है, वारी-वारी, विच्छिन्न रूप से जान लिया जाता है, अथवा जव पूर्ण विश्लेषण कर लिया जाता है, तो ज्ञान उचित होता है। मै नहीं जानता यदि मानवीय ज्ञान इसका कोई आदर्श दृष्टान्त प्रस्तुत कर सकता है, सख्याओ का ज्ञान कुछ समीप आता है।'

१ तार्किक सत्यो की पर्याप्त युक्ति उन स्वयसिद्ध, तदात्मक सत्यो में रहती है, जिनमें उन्हें विश्लेपण द्वारा घटित किया जा सकता है। तथ्यात्मक सत्यो की पर्याप्त युक्ति केवल ईश्वर में हो सकती है।

२ लोजे मिक्रोकॉस्मस्, पु० ३, अ० ५, §१ से तुलना करें। लाइवनित्स असीम 'विभाज्यता' के स्थान पर असीम 'विभाग' कहता है, क्योकि वस्तुएँ स्थिर घटनाओ के रूप में असीमत, विभाज्य है, सत्य अस्तित्वो के रूप में नहीं। सत्य-वस्तु या द्रव्य को अनिवार्यत अविभाज्य होना चाहिए। उसमें भागो के वाहर भाग नहीं होने चाहिए। और पिण्डों के 'असीम विभाग' कहना विशिष्ट द्रव्यों या चिद्‌विन्दुओ की असीम सख्या का वर्णन करने की दूसरी विधि है।

और प्रवृत्तियो की एक असीमता है, जिससे इसका अन्तिम कारण वना हुआ है ।[1]

३७ और चूंकि इस समस्त अश-विस्तार में कितने ही अन्य पूर्ववर्ती या अधिक विस्तृत आकस्मिक तथ्य उलझे हुए है, जिनमे से प्रत्येक का, उसकी युक्ति पाने के लिए, इसी प्रकार विश्लेषण करने की आवश्यकता है, हम कुछ भी आगे नही वढे, और पर्याप्त युक्ति, अथवा अन्तिम युक्ति विशिष्ट आकस्मिक वस्तुओ के क्रम या शृखला के वाहर होनी चाहिए, यह शृखला कितनी ही असीम क्यो न हो ।[2]

३८ इस प्रकार, वस्तुओ की अन्तिम युक्ति किसी अनिवार्य द्रव्य मे होना आवश्यक है, जिसमें विशिष्ट परिवर्तनो की प्रकारता उसी

१ §६१ से तुलना करें । यहाँ एक अन्य रूप में, लाइवनित्स के 'तत्त्वों' के पारस्परिक सम्बन्धो के विषय में कठिनाई उत्पन्न होती है । देखने में तो निमित्त कारण और अन्तिम कारण मिलकर पर्याप्त युक्ति या कारण का निर्माण करते हैं, किन्तु इनमें से एक भी अपने आप में पर्याप्त नहीं है । फिर भी, दूसरी जगह, लाइवनित्स निमित्त कारणो को अन्तत अन्तिम कारणों पर निर्भर दिखाता है । प्राय लाइवनित्स ने निमित्त कारणो की यान्त्रिक कारणो से एकता दिखायी है, जिनमें विरोध का नियम प्रवर्तित होता है । परिशिष्ट, पृ० १ देखें ।

२ यह युक्ति उसी प्रकार की है जैसी अरस्तू के 'प्रथम चालक' के अनुमान में मिलती है । यह उसके अनवस्था के नियम पर निर्भर है, जिसका अभिप्राय यह है कि हमें कारणो या अवस्थाओ की शृखला को कहीं न कहीं रोकना ही पडेगा । अरस्तू को 'फिजिका' में, पु० ६, खण्ड ६, अवतरण २३७ वी, पक्ति ३ से आगे, पु० ८, खण्ड १, अव० २५१ ए, पक्ति १७ , पु० ८, खण्ड ५, अव० २५६ ए, पक्ति १४ पढिए । इमैनुएल काण्ट 'शुद्ध बुद्धि की समीक्षा' (क्रिटिक ऑव् प्योर रीजन्) तथा 'अतिक्रामक द्वन्द्विकी' ('ट्रैसेंडेंटल डायलेक्टिक्'), पु० २, अ० २ और ३ भी देखिए ।

प्रकार प्रतिष्ठित[1] रूप मे रहती है, जैसे अपने स्रोत में, और इस द्रव्य को हम ईश्वर कहते है ।

(देव०–७)

३९ अव, चूंकि यह द्रव्य विशिष्ट वस्तुओ की, जो आद्योपान्त परस्पर

१ 'प्रतिष्ठित रूप में' ('एमीनेंट्ली') का प्रयोग 'आकारत' ('फॉर्मली') से अन्तर दिखाने के लिए किया गया है । ये सम्प्रदायवादी दर्शन में प्रयुक्त पद हैं, जिन्हें देकार्त ने आधुनिक दर्शन में ला दिया। टॉमस एक्वीनस इनका अन्तर इस प्रकार दिखाता है 'कार्य में जो भी पूर्णता है, वह कारण में उसी रूप में मिलनी चाहिए, यदि माध्यम और कार्य एक ही प्रकार के (एकार्थक) हैं (इसीलिए, मनुष्य मनुष्य को उत्पन्न करता है), अथवा अधिक स्पष्ट, या कहें, श्रेष्ठ रूप में यदि माध्यम दूसरे प्रकार का (अनेकार्थक) है।' देकार्त कहता है 'किसी विचार के वस्तुगत सत्य से मेरा तात्पर्य वस्तु का वह द्रव्य या सत्ता है, जिसे विचार प्रस्तुत करता है, जहाँ तक वह द्रव्य विचार में है, और उसी प्रकार हम वस्तुगत पूर्णता या वस्तुगत आकार ('डिजाइन') आदि की चर्चा करते हैं, क्योंकि वह सभी कुछ जिसका हम विचारो की वस्तुओं में होने का प्रत्ययन करते हैं, वस्तुगत रूप में या प्रस्तुतीकरण द्वारा विचारों में पाया जाता है । वही वातें विचारों की वस्तुओ में तव आकारत स्थित मानी जाती हैं, जव वे वस्तुओं में उसी प्रकार स्थित होती हैं जिस प्रकार स्थित होने का हम प्रत्ययन करते हैं, और उनका वस्तुओं में प्रतिष्ठा से होना तव कहा जाता है जव वे वस्तुओ में हमारे प्रत्ययन के अनुरूप होती नहीं हैं, किन्तु ये इतनी श्रेष्ठ होती हैं कि उनकी श्रेष्ठता इस कमी को पूरा कर देती है ।' वीच ने देकार्त की कृतियों के अनुवाद में इस अन्तर पर टिप्पणी दी है । आकारतः का प्रयोग वस्तुत के विपरीत अर्थ में उसी प्रकार किया गया है, जैसे आधुनिक पदावली में आत्मत ('सव्जेक्टिव्ली'), या सत्यत ('रिअली') का प्रयोग 'विचार में' के विपरीत किया जाता है । आकारत का अर्थ शैली या विवरण का अनुसरण करना है । प्रतिष्ठित रूप में का अर्थ ख्याति या प्रतिष्ठा की सीमा, अथवा माप है ।

सबद्ध है, इस सब प्रकारता का पर्याप्त कारण है, ईश्वर एक ही है और वह पर्याप्त है ।[1]

४० हम यह भी मान सकते हैं कि यह सर्वोपरि द्रव्य, जो अनन्य, सार्वभौमिक[2] तथा अनिवार्य है, जिससे बाह्य कुछ भी इससे स्वतन्त्र

१ कथन का अभिप्राय यह है कि सभी विशिष्ट वस्तुएं एक में शृखलित हैं, जिससे एक नियम, एक आवश्यक द्रव्य, एक ईश्वर ध्वनित होता है । इस युक्ति में, केवल जगत् में व्याप्त व्यवस्था के आधार पर, उस व्यवस्था को उत्पन्न करने वाली चेतन शक्ति के अस्तित्व का अनुमान नहीं किया गया है, बल्कि यह विचार किया गया है कि समष्टि एक सस्थान है, अतएव उस समष्टि के पीछे एक पर्याप्त कारण होना आवश्यक है । अन्यथा, बहुत-सी व्यवस्थाएँ, अथवा एक दूसरे का विरोध करने वाली अव्यवस्थाएँ होतीं, क्योंकि प्रत्येक व्यवस्था अपने प्रथम कारण, या ईश्वर की ही अपेक्षा करती । लाइबनित्स के ईश्वर के अस्तित्व के विश्वरचना-शास्त्रीय प्रमाण का रूप यह है ।

२ 'सामान्य' का प्रयोग समान रूप से सभी वस्तुओ का कारण, अथवा प्रथम तत्त्व होने के अर्थ में किया गया है । लाइबनित्स के सम्पूर्ण दर्शन का भाव किसी ऐसे द्रव्य या आत्मा का विरोध करने में है, विशिष्ट वस्तुएँ जिसका मात्र-प्ररूप हो । इस प्रकार, वह अपने एक लेख 'एक सार्वभौमिक आत्मा के सिद्धान्त पर विचार-विमर्श' (१७०२) में, इस मत का खण्डन करने का प्रयत्न करता है कि 'आत्मा केवल एक है, जो सार्वभौमिक है और जो सम्पूर्ण विश्व को और उसके सभी अगों को अनुप्राणित करती है—प्रत्येक को उसकी रचना और उसके अधिकृत अगो के अनुसार, जैसे वायु का एक ही झोका विभिन्न वीनों से शब्दो की प्रकारता उत्पन्न कर देता है', अथवा यह कि 'सार्वभौमिक आत्मा एक सागर है, असख्य जल-बिन्दुओ से निर्मित, जो विशिष्ट आगिक पिण्डो को अनुप्राणित करने में, उससे (सागर से) वियुक्त हो जाते हैं, और अगो के नष्ट हो जाने पर फिर अपने सागर में जा मिलते हैं ।' यह 'मत स्पिनोजा तथा उसी-जैसे अन्य दर्शनकारो का है, जो यह मानेंगे कि ससार में एक ही द्रव्य, अथवा ईश्वर है, जो मुझमें एक प्रकार का

नही—यह द्रव्य, जो सभाव्य सत्ता का शुद्ध क्रम है, अवश्य ही अपरिमेय है और इसमें उतनी सत्यता का होना आवश्यक है जितनी सम्भव है ।'

४१ जिससे यह प्राप्त होता है कि ईश्वर निरपेक्ष रूप से पूर्ण है, क्योंकि सीमित वस्तुओ की सीमाओ या परिधियो पर विचार न करने पर, सम्यक् अर्थ मे, भावात्मक सत्यता के परिमाण के अतिरिक्त कुछ नही । और जहाँ किसी प्रकार की परिधियाँ नही, अर्थात् ईश्वर में, पूर्णता निरपेक्षत असीम है । (देव०–२२, भूमिका)

४२ यह भी प्राप्त होता है कि रचित सत्ताएँ ईश्वर के प्रभाव से अपनी पूर्णताएँ प्राप्त करती है, किन्तु उनकी अपूर्णताएँ अपने स्वभाव

चिन्तन, विश्वास तथा सकल्प उत्पन्न करता है और किसी अन्य व्यक्ति में बिलकुल उससे उल्टा चिन्तन, विश्वास तथा सकल्प उत्पन्न करता है—यह एक मत है जिसकी असगति का प्रदर्शन बेली ने अपने कोश के कई स्थलो पर किया है ।'

१ चूकि ईश्वर सब का पर्याप्त कारण है, उससे स्वतन्त्र कुछ भी नहीं । किन्तु, यदि उसकी सम्भावना किसी प्रकार सीमित होती, तो अवश्य ही किसी उससे बाह्य तथा स्वतन्त्र सम्भावना द्वारा ही होती । फलत ,'उसकी सम्भावना सीमित नहीं हो सकती । और असीमित सम्भावना का अर्थ असीमित सत्यता तथा असीमित अस्तित्व है । क्योंकि जो सम्भव है वह अवश्य ही तब तक सत्य है, जब तक दूसरा कुछ ऐसा न हो जिसके साथ वह सम्भव न हो । कहने का भाव यह है कि जब तक कोई दूसरी सम्भव वस्तु उसके स्वभाव को सीमित न करती हो । §५४ से तुलना करें । लाइबनित्स अपने चिन्तन के प्रत्येक विभाग में जिस विचार पर बार-बार बल देता है उसे ध्यान में रख कर, इस अवतरण तथा अगले अवतरणों की युक्तियों को समझा जा सकता है । वह विचार यह है सम्भावना या सामर्थ्य केवल रिक्त सामर्थ्य, कोरी पटिया, नग्न क्षमता नहीं, बल्कि, कितने ही लघु अशो में सही, वह सदैव ही एक फलाकाक्षी प्रवृत्ति है, जो उसी प्रकार की दूसरी प्रवृत्तियों द्वारा अवरुद्ध हो जाती है । चिद्‌बिन्दुओं की 'मांग' और 'आकाक्षाओं' के इसी अर्थ का उल्लेख §५१ और §५४ में हुआ है ।

से आती है, जो सीमारहित होने मे असमर्थ है। क्योकि इसी में वे ईश्वर से भिन्न है।[१] रचित वस्तुओ की इस मौलिक अपूर्णता का एक उदाहरण पिण्डो[२] की स्वाभाविक जडता मे मिल सकता है।

(देव०–२०, २७–३०, १५३, १६७, ३७७, अनु०)

४३ इसके वाद, यह सत्य है कि ईश्वर मे न केवल अस्तित्वो का स्रोत है, वल्कि सारो का भी, जहाँ तक वे सत्य है, अर्थात् सभाव्य[३] में जो सत्य है उसका स्रोत। क्योकि ईश्वर का बोध शाश्वत सत्यो का

१ रचित सत्ताओ का सीमित होना सारत आवश्यक है, नहीं तो वे रचित न होकर ईश्वर के समान होगी। देवविद्या में, लाइवनित्स (साम्प्रदायिक सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए कि शुभ में उत्पादक कारण रहता है, अशुभ में उसकी कमी होती है) इसी परिकल्पना के प्रयोग द्वारा ईश्वर को अशुभ के अस्तित्व के उत्तरदायित्व से मुक्त करता है। अशुभ की उत्पत्ति रचित द्रव्यो की सारभूत अपूर्णता है, और ईश्वर रचित द्रव्यो की केवल पूर्णता या भावात्मक सत्यता का कारण है।

२ यह वाक्य ऐर्डमैन ने नहीं दिया है। लगता है, लाइवनित्स ने चिद्विन्दु विद्या का सशोधन करते समय इसे जोड दिया है। गरहार्ड्ट् की पाद-टिप्पणी में मिलता है। किसी पिण्ड की जडता उसकी निष्क्रियता है, अथवा वह है जो उसमें रह कर उसके व्यापारो को सीमित करता है। जहाँ तक पिण्ड की निष्क्रियता सत्य है, अर्थात् हमारा दृश्य-मात्र नहीं, वह गुफित प्रत्यक्ष से निर्मित है। किन्तु, ईश्वर शुद्ध कर्ता (ऐक्टस् प्योरस्) है, निष्क्रियता रहित, और उसके प्रत्यक्ष पूर्ण रूप से स्पष्ट तथा पृथक् है।

३ कथन का अभिप्राय यह है कि ईश्वर न केवल व्यक्त सत्ता का स्रोत है, वल्कि अव्यक्त सत्ता का भी—उस सवका जिसमें व्यक्त होने की प्रेरणा है। 'सम्भाव्य में जो सत्य है' वह उसकी सत्तावान् होने की प्रवृत्ति है। एक अर्थ में, 'सार' अथवा 'सम्भाव्य' वस्तुऐं ईश्वर से स्वतन्त्र हैं। वह सार रूप में उनकी रचना नहीं करता। वे उसके वोध की वस्तुऐं है, और 'वह स्वय अपने वोध का

या उन विचारो का क्षेत्र है जिन पर वे निर्भर हैं,[1] और विना उसके वस्तुओ की सम्भावनाओ में कुछ भी सत्य न होता, और यही नही कि अस्तित्व मे कुछ न होता, वल्कि कुछ भी सम्भव न होता।

(दे०—२०)

४४ क्योकि यदि सारो या सम्भावनाओ, वल्कि नित्य सत्यो मे कोई सत्यता है, तो यह सत्यता किसी अस्तित्ववान् और सत्य वस्तु मे अधिष्ठित होनी चाहिए, और निसर्गत, अनिवार्य सत् के अस्तित्व में,

रचयिता नहीं है।' देवविद्या, §३८०। सारो अथवा सम्भावनाओ के स्वभाव विरोध के नियम से निश्चित होते हैं। और फिर भी, एक दूसरे अर्थ में, उन्हें ईश्वर पर निर्भर कहा जा सकता है, जहाँ तक वे सभी किसी एक अथवा अन्य पक्ष में, अथवा विशिष्ट सीमाओ के साथ, उसके स्वभाव की अभिव्यक्तियाँ हैं। खैर, उसकी स्वतन्त्रता उन वस्तुओ के चयन तक जाती है जो वस्तुत सत्तावान् होंगी, और उसका चयन उसकी वुद्धिमत्ता तथा शुभता द्वारा निश्चित होता है, जिसमें सारों के स्वभाव का ध्यान रखा जाता है। 'उसके बिना किसी वस्तु की सत्ता न होती', क्योकि वस्तुओं का अस्तित्व उसके चयन, उसके सकल्प पर निर्भर है। 'उसके विना कुछ भी सम्भव न होता,' क्योंकि जो कुछ सम्भव है उसके बोध का विषय है, और चूंकि उसका वोध पूर्ण है (अर्थात् अपने प्रत्यक्षो में उलझाव से पूरी तरह मुक्त) उसका विषय वस्तुओ का अन्तिम स्वभाव होना आवश्यक है, अथवा स्वय ईश्वर का सार। इस प्रकार §४४ में लाइवनित्स व्यवहारत 'सारो' या 'समावनाओं' का 'शाश्वत सत्यों' से तादात्म्य स्थापित करता है। देखिए, रा० लैटा इन्ट्रो०, भाग २, पृष्ठ ६६।

१ लाइवनित्स अपने दर्शन के इस भाग का सम्वन्ध प्लेटो के विचार-जगत् से जोडता है। वह 'प्लेटो के अतिश्रेष्ठ सिद्धान्तों' में से एक कह कर, वताता है कि 'दवी मन में एक वोधगम्य जगत् है, जिसे मैं भी विचारो का क्षेत्र कहने का आदी हूँ। हंसियम को पत्र (१७०७), ऐ० ४४५ वी।

जिसके सार में अस्तित्व अन्तर्भूत है, अथवा जिसमें सम्भाव्य होना वास्तविक होना है।

(देव०-१८४-८९, ३३५)

४५ इस प्रकार, केवल ईश्वर (अथवा अनिवार्य सत्) को ही यह अधिकार है कि वह अनिवार्यत स्थित हो, यदि वह सम्भाव्य है। और चूंकि उसकी सम्भाव्यता मे,जिसमे कोई सीमाएँ नही, निषेध नही और, निसर्गत , कोई विरोध नही, कुछ भी वाधक नही हो सकता, यह (उसकी सम्भाव्यता)प्रागनुभवीय रूप से ईश्वर के अस्तित्व का वोध कराने के लिए, अपने आपमें पर्याप्त है। हमने इस प्रकार नित्य सत्यो की सत्यता के माध्यम से इसे सिद्ध कर दिया है। किन्तु, अभी पीछे हम इसे अनुभवोत्तर विधि से भी सिद्ध कर चुके है, चूंकि ऐसी आपातिक सत्ताएँ है जिनका अन्तिम, अथवा पर्याप्त कारण अनिवार्य सत् मे पाया जा सकता है, जिसके अस्तित्व का कारण अपने आपमें ही है।

४६ तथापि हमे यह कल्पना नही करनी चाहिए, जैसा कुछ लोग करते है कि नित्य सत्य ईश्वर पर निर्भर होने के कारण यथेच्छ है, जैसा देकार्त[1] और उसके वाद मॉंगिये पाएरेत[2] मानते हुए देखे जाते है।

१ मॉसनी को लिखे हुए देकार्त के पत्र (कॉउजिन का सस्करण, खण्ड ६, पृष्ठ १०९) से तुलना करें . पारभौतिक सत्य, जिन्हें तुम नित्य कहते हो, ईश्वर द्वारा स्थापित किये गये है और उसी पर पूर्णतया निर्भर है, जैसे दूसरी रचित वस्तुएं। वस्तुत इन सत्यो को ईश्वर से स्वतन्त्र कहना ईश्वर को वृहस्पति या शनिश्चर मान

२ क[illegible]ना है और उसे भी 'स्टिक्स' तथा भाग्य-देवियों के अधीन मानना है . वल्कि अव्यक्त [illegible]मों को प्रकृति में ठीक उसी प्रकार स्थापित किया है जैसे कोई [illegible]र्चा कर[illegible]य में जो सत्[illegible]नियमो की स्थापना करता है।' वही, पृ० १०३ पर 'विना [illegible] ने इन निय[illegible] 'सम्भाव्य कह सकते कि किसी वस्तु का सत्य ईश्वर के उस वस्तु के अपने राज्य में [illegible]ता। वे [illegible]क ईश्वर में सकल्प और ज्ञान एक है।' अन्यत्र, यह

वह आपातिक सत्यो के लिए हो, जिनका नियम पात्रता ('कान्वेनेन्स्'[1])
या सर्वोत्तम का चुनाव है, ठीक है, जब कि अनिवार्य सत्य पूर्णतया
उसके बोध पर निर्भर है और उसके आन्तरिक विषय है ।

(देव०, १८०-८४, १८५, ३३५, ३५१, ३८०)

कहता है कि ईश्वर इसे असत्य कर देने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र था कि किसी त्रिकोण के तीनों कोण दो समकोण के बराबर हो । बहुत पहले, १६७१ में, लाइबनित्स ने होनोरेतस फेब्री को, एक पत्र में लिखा था 'यदि वस्तुओ के सत्य और स्वभाव ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है, तो मै नहीं समझता कैसे उसमें ज्ञान और सकल्प अध्यासित किये जा सकते है । क्योकि सकल्प के लिए कुछ-न-कुछ बोध पूर्व-अपेक्षित है, चूकि कोई भी विना किसी शुभ को दृष्टि में रखे सकल्प नहीं कर सकता । किन्तु, बोध के लिए कोई वस्तु पूर्व-अपेक्षित है, जिसका बोध हो सके । पहले का मतलब है, कोई स्वभाव । किन्तु, यदि सभी स्वभाव सकल्प के परिणाम है, तो बोध भी सकल्प का परिणाम होगा । फिर, बोध सकल्प की पूर्वापेक्षा कैसे करेगा ? इस प्रश्न पर सम्प्रदायवादियो ने काफी शास्त्रार्थ किया था, मुख्यत इस सन्दर्भ में कि नैतिक विधान ईश्वर के सकल्प के अधीन है, या नहीं । देकार्त का मत डन्स् स्कोटस् के मत से मिलता है, लाइबनित्स टॉमस एक्वीनस का अनुसरण करता है । देकार्त को दृष्टि में ईश्वरीय और मानवीय बोध प्रकारत भिन्न है, लाइबनित्स के लिए उनमें केवल श्रेणी का अन्तर है ।

२ पेरे पॉयरेत (१६४६-१७१९) कैल्विन मतानुयायी पादरी, जो राइन तालुके के अन्तर्गत ज्वीब्रूकेन इलाके में कार्य करता था । पहले वह देकार्त के मत का अनुयायी था । उसने 'ईश्वर के युक्ति-युक्त ज्ञान, आत्मा और शुभ' पर एक पुस्तक प्रकाशित की थी, बेली ने इसकी उग्र आलोचना की । बाद में एक डच धर्माग्रही एन्ट्वॉयनेट वोरिग्नॉन के प्रभाव में आकर, उसने उसकी जीवनी लिखी और उसके विचारो की विस्तृत व्याख्या की । इस नये प्रभाव के कारण, उसने देकार्त के मत की कडे शब्दों में आलोचना की और एक नवीन रहस्यवादी मत की स्थापना की ।

१ 'कान्वेनेन्स' का अर्थ वह पारस्परिक सगति है, जिसमें वस्तुएं पूरी तरह

४७ इस प्रकार ईश्वर ही एक प्राथमिक इकाई, या मौलिक सरल द्रव्य है, सभी रचित या व्युत्पादित चिद्विन्दु जिसके उत्पाद हैं, और यह कहना चाहिए कि उनकी उत्पत्ति रचित सत्ता की, जिसका सार सीमाओ से युक्त होना है, ग्राहकता से सीमित रहते हुए, प्रतिक्षण देवत्व के सतत स्फुरण[1] से होती रहती है।

(देव०—३८२-९१, ३९५, ३९८)

एक-दूसरे से मिलती हो। इस प्रकार, हमें सगति या सर्वोत्तमता के नियम को सस्थान ('सिस्टम') का विचार चाहिए। लाइवनित्स के मत में 'पर्याप्त युक्ति, या कारण का नियम, अनियन्त्रित सत्ता, या सत्य के नियम से स्पष्टत पृथक्, नियन्त्रित सत्य का नियम है। चिद्विन्दु विद्या, पृष्ठ १५८, पादटिप्पणी २ से तुलना करें।

१ 'स्फुरण' का अर्थ विजली की तरह कौंधना, या अचानक निस्सरण है। 'ईश्वर वह मूल केन्द्र है जिसमें से और सभी कुछ का निसर्ग होता है।' स्टोइको द्वारा प्रयुक्त 'तोनॉस' से तुलना करें, जिसका अर्थ खिंचाव, या तनाव था। क्लीएन्-थेज (अश ७६) ने इसे 'प्लिगी ' (आग की लपक) कहा था। ईश्वर का दूसरे चिद्विन्दुओ से सम्बन्ध ही लाइवनित्स के दर्शन का हृदय है। वह चिद्विन्दुओं के व्यक्तित्व, या निजत्व और ईश्वर के साथ एकता, दोनो की स्थापना करना चाहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह 'स्फुरण' को रचना और निसर्ग के वीच की स्थिति है। 'रचना' में ईश्वर से चिद्विन्दुओ के विलकुल अलग हो जाने का भाव है, 'निसर्ग' में उनका पूर्ण तादात्म्य ध्वनित है। इनमें से कोई भी अर्थ लाइवनित्स को अपेक्षित न था। इसलिए, उसने 'स्फुरण' से यह अर्थ ग्रहण करने का प्रयत्न किया है कि चिद्विन्दु न तो नितान्त शून्य से ही रचित हैं और न ईश्वरीय स्वभाव के प्रतिरूप-मात्र, या उत्पाद हैं, वल्कि चिद्विन्दु एक सम्भावना है, जो अपने को व्यक्त करने के प्रयत्न में लगी हुई, विरोधी सम्भावनाओं के प्रतिक्रियात्मक प्रभावों से मुक्त होने के लिए, ईश्वर की सहायता, इच्छा या उसके सकल्प की अपेक्षा करती है। के रूप में उसकी सारभूत सीमाएँ हैं,

४८ ईश्वर मे शक्ति है, जो सबका स्रोत है। ज्ञान भी है, जिसकी अन्तर्वस्तु विचारो की विविधता है। और अन्त में, सकल्प है, जो सर्वोत्तम के नियम[1] के अनुसार परिवर्तन, या उत्पादन करता है (देव०,

अर्थात् वह सभी प्रकार पूर्ण, शुद्ध कर्ता ('एक्टस् प्योरस्') नहीं है, किन्तु, ईश्वर के इच्छा करते ही वह सत्ता में उछल पडने या कौंधने के लिए उद्यत रहता है। यदि ईश्वर की वाछा का प्रश्न न होता तो सभी सम्भावनाएँ आपस में टकराती रह जातीं। किन्तु, उसकी पसन्द का अर्थ कुछ 'चुनी हुई' सम्भावनाओ के विषय में विकास के प्रतिरोधों को दूर करते रहने से अधिक कुछ नहीं है। रचना से विश्व में किसी नवीन सत्ता की वृद्धि नहीं होती, फिर भी वह एक नित्य सत्ता के मात्र-प्ररूपण अर्थ में निसर्ग नहीं है। इस प्रकार, लाइबनित्स के 'निरन्तर स्फुरणो, को देकार्त के 'निरन्तर सर्जन' से भिन्न समझना चाहिए। लाइबनित्स के मत में, देकार्त के मत की तरह, सचय (कॉन्जर्वेशन्) क्षण-क्षण में वस्तुओ की सत्ता का कोई चामत्कारिक नवीनीकरण, या किसी निरपेक्ष पुन सर्जन का निरन्तर आवर्तन नहीं है, किन्तु यह ईश्वर की सक्रियता, चयन या सकल्प की निरन्तरता है, जिसके द्वारा कुछ सम्भावित वस्तुओ को अस्तित्व प्राप्त करने के लिए मुक्त किया गया था और जिसकी वदौलत वे सत्ता में स्थिर रह सकती हैं। किसी सत्ता की क्रमिक अवस्थाएँ न एक-दूसरे से इतना स्वतन्त्र हैं कि प्रत्येक क्षण में कोई नवीन सृष्टि हो रही हो (जैसा देकार्त मानता है), न एक-दूसरे पर इतना निर्भर है कि पर-वर्ती अवस्था को पूर्व-वर्ती अवस्था से किसी तार्किक या गणितीय अनिवार्यता से निर्गत समझा जा सके (जैसा स्पिनोजा मानता है), किन्तु वे, एक अनुक्रम में जिसका आधार सत्ता के स्वभाव में रहता है, एक-दूसरे से इस प्रकार जुडी है कि उनमें से प्रत्येक अपनी पूववर्ती अवस्था से एक नियमित विधान के अनुसार प्रकट होती है, बशर्ते कि ईश्वर इस प्रकटन को अनुमति देने का चुनाव करे। 'निरन्तर स्फुरण' इस प्रकार, वस्तु-जगत के चिद्‌विन्दुओं को अपने स्वभाव के प्रकटन या विकास की अनुमति देने में ईश्वर के सकल्प का निरन्तर क्रियान्वित होना है। लाइबनित्स 'वस्तुओ के मौलिक आरम्भण' पर लेख, पृष्ठ ३४४ देखिए।

१ देवविद्या (§१५०) में ईश्वर के स्वभाव के इस चित्रण और वयक के

४७ इस प्रकार ईश्वर ही एक प्राथमिक इकाई, या मौलिक सरल द्रव्य है, सभी रचित या व्युत्पादित चिद्विन्दु जिसके उत्पाद है, और यह कहना चाहिए कि उनकी उत्पत्ति रचित सत्ता की, जिसका सार सीमाओ से युक्त होना है, ग्राहकता से सीमित रहते हुए, प्रतिक्षण देवत्व के सतत स्फुरण[1] से होती रहती है।

(देव०—३८२-९१, ३९५, ३९८)

एक-दूसरे से मिलती हो। इस प्रकार, हमें सगति या सर्वो के नियम को सस्थान ('रि ') का विचार समझना चाहिए। लाइवनित्स के मत में 'पर्याप्त युक्ति, या कारण का नियम, अनियन्त्रित सत्ता, या सत्य के नियम से स्पष्टत पृथक्, नियन्त्रित सत्य का नियम है। चिद्विन्दु विद्या, पृष्ठ १५८, पादटिप्पणी २ से तुलना करें।

१ 'स्फुरण' का अर्थ विजली की तरह कौंधना, या अचानक निस्सरण है। 'ईश्वर वह मूल केन्द्र है जिसमें से और सभी कुछ का निसर्ग होता है।' स्टोइको द्वारा प्रयुक्त 'तोनॉस' से तुलना करें, ि अर्थ खिंचाव, या तनाव था। क्लीएन्-थेज (अश ७६) ने इसे 'प्लिगी पॉयरस' (आग की लपक) कहा था। ईश्वर का दूसरे चिद्विन्दुओ से सम्बन्ध ही लाइवनित्स के दर्शन का हृदय है। वह चिद्विन्दुओं के व्यक्तित्व, या निजत्व और ईश्वर के साथ एकता, दोनो की स्थापना करना चाहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह 'स्फुरण' को रचना और निसर्ग के बीच की स्थिति है। 'रचना' में ईश्वर से चिद्विन्दुओ के विलकुल अलग हो जाने का भाव है, 'निसर्ग' में उनका पूर्ण तादात्म्य ध्वनित है। इनमें से कोई भी अर्थ लाइवनित्स को अपेक्षित न था। इसलिए, उसने 'स्फुरण' से यह अर्थ ग्रहण करने का प्रयत्न किया है कि चिद्विन्दु न तो नितान्त शून्य से ही रचित है और न ईश्वरीय स्वभाव के प्रतिरूप-मात्र, या आवश्यक उत्पाद है, वल्कि चिद्विन्दु एक सम्भावना है, जो अपने को व्यक्त करने के प्रयत्न में लगी हुई, विरोधी सम्भावनाओं के प्रतिक्रियात्मक प्रभावो से मुक्त होने के लिए, ईश्वर की सहायता, इच्छा या उसके की अपेक्षा करती है। सम्भावना के रूप में उसकी सारभूत सीमाएँ है,

७, १४९, १५०) ये विशेषताएँ रचित चिद्विन्दु की भूमि या आधार[1] की, प्रत्यक्षीकरण की शक्ति और रोचन की शक्ति की समवर्तिनी है। किन्तु, ईश्वर में ये धर्म निरपेक्षत असीम, या पूर्ण है, और रचित चिद्विन्दुओ मे, या चेतन सत्ताओ ('पर्फेक्तीहैविई', जैसा हर्मोलाउस वार्वेरस[2] ने शब्द का अनुवाद किया था) में, चिद्विन्दु की पूर्णता के स्तर के अनुसार, इन धर्मो की केवल अनुकृतियाँ होती है।

(देव०-८७)

४९ किसी रचित वस्तु के लिए, जहाँ तक उसमें पूर्णता होती है,

सिद्धान्त के बीच सम्बन्ध की ओर सकेत करता है। 'कुछ लोगो ने यह भी सोचा है कि ईश्वर की इन तीन पूर्णताओं में पवित्र त्रयक का सकेत छिपा है' शक्ति में पिता या ईश्वर का; बुद्धिमत्ता में नित्य शब्द, या 'लोगस' का, और सकल्प या प्रेम में पवित्र आत्मा का।

१. लाइबनित्स किसी दूसरे सन्दर्भ में भी रचित चिद्विन्दु के तीन तत्त्वों में अन्तर नहीं करता, और हमें यह न समझना चाहिए कि, दो 'विभागों' से अलग, 'भूमि या आधार' अपने आपमें कुछ है। लाइबनित्स इस विचार पर बल देना चाहता है कि रचित या अरचित चिद्विन्दु स्वभावत ऊर्जा या क्रियाशीलता है, जो अपने को प्रत्यक्षीकरण या रोचन में व्यक्त करती रहती है।

२ 'पर्फेक्तीहैबिया' की रचना यूनानी भाषा के 'एन्तेलेखिया' का भाव व्यक्त करने के लिए की गयी थी। टिप्पणी ३२ से तुलना करें। हर्मोलाउस वार्वेरस, अथवा एर्मोलाओ वार्वेरो (१४५४-९३) एक इतालवी अध्येता था जिसने, सम्प्रदायवादियो द्वारा प्रचारित अरस्तू की विकृत व्याख्याओ के स्थान पर, अरस्तू के उचित अनुवादों तथा थेमिस्तियस की व्याख्याओं द्वारा उसके सही सिद्धान्तों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया था। वह एक वेनिस-परिवार में पैदा हुआ था और पैडुआ में दर्शन का अध्यापक था, जहाँ वह अरस्तू के नीतिशास्त्र पर व्याख्यान देता था।

कहा जाता है कि वह वहिर्मुखी[1] क्रिया करती है, और जहाँ तक वह अपूर्ण है, दूसरी वस्तु के प्रसग में, सहन करना (या तितिक्षु—'पातिर्') कहा जाता है । इस प्रकार, जहाँ तक स्पष्ट प्रत्यक्ष होते हैं, किसी चिद्-विन्दु पर क्रिया (या कर्म) का आरोप किया जाता है, और तितिक्षा का जहाँ तक उसके प्रत्यक्ष गुफित होते हैं ।

(देव०-३२, ६६, ३८६)

५० और एक रचित वस्तु दूसरी से अधिक पूर्ण इसमें होती है कि अधिक पूर्ण मे वह होता है जो कम पूर्ण मे होता है उसकी प्रागनु-भवीय व्याख्या में काम आता है, और यही कारण है कि पहले के लिए कहा जाता है कि वह वाद वाले पर क्रिया करता है ।[2]

५१ किन्तु सरल द्रव्यो मे एक चिद्‌विन्दु का दूसरे पर प्रभाव

१ वस्तुत, कोई भी चिद्‌विन्दु अपने से बाहर क्रिया नहीं करता । यहाँ लाइवनित्स केवल उस अर्थ की व्याख्या कर रहा है जो हमारे बहिर्मुखी क्रिया कहने में रहता है, ठीक उसी प्रकार जैसे कोपर्निकस् का शास्त्र हमारे 'सूर्योदय' और 'सूर्यास्त' कहने में जो अर्थ रहता है उसकी व्याख्या करता है, क्योंकि सूर्य का न 'उदय' होता है, न 'अस्त' ही ।

२ इस प्रकार, किसी घटना की व्याख्या या युक्ति ही उसका वास्तविक कारण है । यह विचार लाइवनित्स की इस दृष्टि से सम्बन्धित है कि किसी वस्तु के अस्तित्व का प्रारम्भ उसके स्वाभाविक व्यापारो के मुक्त होने से होता है और यह कि चिद्‌विन्दु अपने पूरण के अनुपात में सत्ता के अधिकारी होते हैं, जिसका अर्थ है अपने प्रत्यक्षो की स्पष्टता के अनुपात में । कारण और कार्य सापेक्ष हैं प्रत्येक रचित चिद्‌विन्दु एक साथ ही दोनों है । केवल ईश्वर शुद्ध कारण या युक्ति है । बर्कले और ह्यूम द्वारा कारण और 'आवश्यक सम्बन्ध' के सन्दर्भ में व्यक्त किये हुए मतों से तुलना तथा भेद करके कुछ शिक्षा प्राप्त की जा सकती है । स्पिनोजा . एथिक्स्, भाग २, परिभाषा १ और २, तथा वाक्य १,२ और ३ से भी तुलना करें ।

केवल वैचारिक होता है, और वह अपना प्रभाव केवल ईश्वर की मध्यस्थता द्वारा वही तक डाल सकता है जहाँ तक ईश्वर के विचारो मे कोई भी चिद्‌विन्दु उचित रूप में अभ्यर्थना करता है कि ईश्वर, वस्तुओ के प्रारम्भ से दूसरो की व्यवस्था करने मे, उसका ध्यान रखे। क्योंकि एक रचित चिद्‌विन्दु चूँकि दूसरे की आन्तरिक सत्ता पर कोई भौतिक प्रभाव नही डाल सकता, यही एक साधन है जिससे वह दूसरे पर निर्भर हो सकता है।[१]

(देव०—९, ५४, ६५, ६६, २०१, सक्षेप, वस्तु३)

५२ तदनुसार, रचित वस्तुओ मे सक्रियताएँ और सहनशीलताएँ अन्योन्याश्रित है। क्योकि ईश्वर दो सरल द्रव्यो की तुलना करने पर, प्रत्येक मे ऐसे कारण पाता है जो उसको दूसरे से अभियोजित करने के लिए उसे विवश करते है,[२] और फलत जो किन्ही दृष्टियो से सक्रिय है, वही दूसरे दृष्टिकोण से सहनशील[३] है—सक्रिय वही तक जहाँ तक

१ यहां हमें पूर्वनियोजित सगति का नियम मिलता है (जिसकी ६८० और ६८१ में अधिक चर्चा हुई है) यह वस्तुओ के में, उनकी रचना से पूर्व स्थित, सगति या पारस्परिक अविरोध है। कार्य-जगत् में इसका पूरण ही ईश्वर द्वारा उस जगत् के चुनाव का आधार है, और इस प्रकार किसी भी अर्थ में यह रचित सगति नहीं है। इस दृष्टि से यह मत अवसरवाद के सभी प्रकारों से भिन्न है।

२ कोई दो सरल द्रव्य बिलकुल एक-से नहीं होते। फिर भी सभी सरल द्रव्य एक ही विश्व को प्रस्तुत करते हैं। इसलिए, जो प्रत्यक्ष एक में अपेक्षाकृत स्पष्ट है, वह दूसरे या दूसरों में अवश्य ही गुफित होगा, और जो परिवर्तन एक में होते हैं उनके सवादी परिवर्तन दूसरों में भी होते हैं। इस प्रकार, प्रत्येक दूसरों में सही बैठ जाता है।

३ यहां लाइबनित्स ने 'विचार-विन्दु' पद का प्रयोग किया है। सामान्यत, वह 'दृष्टि-विन्दु' का प्रयोग करता है। इस पद का उसने दर्शन-साहित्य में एक नियमित रूप में प्रयोग किया है।

उसमें जिसको हम स्पष्ट रूप से जानते है वह दूसरो में जो होता है उसकी व्याख्या मे ('राँद्र रेजो द') सहायता करता है, और सहनशील, जहाँ तक उसमें जो होता है उसकी व्याख्या ('रेजो') अन्य मे जो हम स्पष्टतया जानते है उसमें मिलती है।

(देव०–६६)

५३ अब, चूंकि ईश्वर के विचारो मे सम्भव ससारो की सख्या असीम है, किन्तु उनमें से प्रकट एक ही हो सकता है, ईश्वर के चुनाव के लिए कोई पर्याप्त कारण अवश्य होना चाहिए जो उसे दूसरे की अपेक्षा एक के पक्ष में निर्णय करने तक पहुँचा सके।[1]

(देव०—८, १०, ४४, १७३, १९६, अनु० २२५, ४१४–१६)

५४ और यह कारण केवल पात्रता (कॉन्वेनेन्स) या पूर्णता की श्रेणियो में, जो इन ससारो मे होती है,[2] पाया जा सकता है, क्योकि

१ देखिए, रा० लै०, इन्ट्रो०, भाग २, पृष्ठ ६५।

२ चिद्बिन्दु विद्या, पृ० १५३, टिप्पणी २ देखें। ईश्वर किसी निरपेक्ष पारभौतिक अनिवार्यता से बाध्य नहीं होता, बल्कि वह उस जगत् को, जो सगत सस्थान होने के कारण सर्वोत्तम है, रचने के लिए एक नैतिक अनिवार्यता के कारण तुला रहता है। नैतिक अनिवार्यता और निरपेक्ष बाध्यता का अन्तर सम्प्रदायवादियो ने उत्पन्न किया था। 'सम्भव वस्तुएँ वे हैं जिनमें किसी विरोध का अन्तर्भाव नहीं। वास्तविक वस्तुएं उन सम्भव वस्तुओं से अतिरिक्त नहीं हैं, जो सभी पक्षो पर विचार करते हुए सर्वोत्तम पायी जाती हैं। इस प्रकार, वस्तुएँ इस कारण असम्भव नहीं हैं कि उनमें पूर्णता की कमी है, क्योंकि हमें ईश्वर क्या कर सकता है और क्या करने की इच्छा करता है में अन्तर करना चाहिए। वह सब कुछ कर सकता है, इच्छा वह उसे करने की करता है जो सर्वोत्तम है।' बर्नौलियम को पत्र (१६९९) देखें।

प्रत्येक वस्तु को, पूर्णता की मात्रा के अनुपात मे, जो वीज रूप में व्याप्त रहती है, अस्तित्व की कामना[1] का अधिकार है ।

(देव०–७४, १६७, ३५०, २०१, १३० ३५२, ३४५ अनु० ३५४)

५५ इस प्रकार सर्वोत्तम के वास्तविक अस्तित्व का, जिसे वुद्धिमत्ता ईश्वर को ज्ञात कराती है, कारण यह है कि उसकी उदारता उससे इसका चुनाव कराती है और उसकी शक्ति उत्पादन कराती है ।[2]

(देव०–८, ७८, ८०, ८४, ११९, २०४, २०६, २०८ सक्षेप, वस्तु १ और ८)

१ यह अस्तित्व की कामना अस्तित्व में प्रवेश करने की ओर गुफित से स्पष्ट प्रत्यक्षो की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति है, जो लाइवनित्स की 'सम्भव' वस्तुओ को, अनिश्चित सामर्थ्यो से भिन्न, वास्तविक सारो में परिणत कर देती है। पादटिप्पणी से तुलना करें। 'इसी तथ्य से कि कुछ न होने की अपेक्षा ससार में कुछ है, हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि सम्भव वस्तुओ में, अथवा सम्भावना या सार ही में, अस्तित्व के लिए एक माँग है अथवा (इस प्रकार कहें) होने की एक कामना है, और, एक शब्द में, यह कि सार अपने आप अस्तित्व की ओर अग्रसर होता है । जिससे आगे यह प्राप्त होता है कि सभी सम्भव वस्तुएँ, अर्थात् सार या सम्भव सत्ता अभिव्यक्त करनेवाली वस्तुएँ समान अधिकार से अपने में अधिकृत सार या सत्ता के परिमाण के अनुपात में अथवा अपनी पूर्णता के अश के अनुपात में अस्तित्व की ओर अग्रसर होती हैं, क्योकि पूर्णता सार के परिमाण के अतिरिक्त कुछ नहीं है ।' वस्तुओ का मौलिक आरम्भण, पृष्ठ ३४० ।

२ इस खण्ड में लाइवनित्स की आशावादिता के नियमों का उल्लेख सक्षेप में हुआ है, जिन्हें देवविद्या में पूर्णत प्रतिपादित और समर्थित किया गया है । दुर्गुण से पूर्णतया मुक्त जगत् को ईश्वर से पृथक् नहीं किया जा सकता । जगत् का दुर्गुण पूरी तरह रचित वस्तुओ की सारभूत सीमाओ—उनके सार या सम्भावना होने की सीमाओं—से उत्पन्न होता है । फलत , दुर्गुण ईश्वर द्वारा रचित नहीं है, वल्कि वह ऐसे विश्व की रचना करता है जिसमें दुर्गुण की मात्रा उतनी कम हो जितनी वस्तुओ के किसी सस्थान में सम्भव हो ।

५६ अव सभी वस्तुओ का प्रत्येक के साथ और प्रत्येक वस्तु का सभी वस्तुओ के साथ इस ससर्ग या अभियोजन का अर्थ यह है कि प्रत्येक सरल द्रव्य में ऐसे सम्वन्ध हैं जो अन्य सभी कुछ को अभिव्यक्त करते है, और निसर्गत, यह कि वह ससार का एक निरन्तर जीवित दर्पण हे ।[१]

(देव०–१३०, ३६०)

५७ और जैसे वही नगर विविध दिशाओ से देखे जाने पर विलकुल भिन्न प्रतीत होता है और लगता है, उसमे वहुत-से परिप्रेक्ष्य हैं, उसी प्रकार, सरल द्रव्यो की असीम सख्या के फलस्वरूप लगता है जैसे वहुत-से भिन्न ससार हो, जो वस्तुत प्रत्येक चिद्विन्दु के विशिष्ट दृष्टिकोण[२] के अनुसार, एक ही ससार के परिप्रेक्ष्यो के अतिरिक्त कुछ नही है।

(देव०–१४७)

१ क्यूजा के निकोलस (१४५४-५६), १ १५७ ए के एफ कथन से तुलना करें

'सम्पूर्ण सभी भागो में प्रतिबिम्वित होता है, सभी वस्तुएँ विश्व से अपने सम्वन्धो और अनुपातो की रक्षा करती हैं ।' 'द दाक्ता इग्नोरेंशिया, (१४४०), १ ११— 'दृश्य वस्तुएँ अदश्य के प्रतिविम्व हैं और रचयिता रचित प्राणियो द्वारा उसी प्रकार देखा और जाना जा सकता है जैसे एक धुँधले दर्पण में ।'

२ प्रत्येक चिद्विन्दु का 'दृष्टिकोण' उसका पिण्ड है। किन्तु इस कथन को हमें कोई देश-वोधक अर्थ नहीं देना चाहिए जिससे यह ध्वनित हो कि चिद्विन्दु का दृष्टिकोण देश में उसकी इस या उस स्थिति पर निर्भर है। चिद्विन्दु पूर्ण रूप से अदेशिक होता है और उसके पिण्ड का स्वभाव उसके प्रत्यक्षों के उलझाव (अथवा स्पष्टता) की श्रेणी पर निर्भर करता है। इस प्रकार, इस कथन का कि शरीर आत्मा का दृष्टिकोण है अर्थ यह है कि आत्मा जिस ढग से विश्व को पुन. प्रस्तुत करती है उसके प्रत्यक्षों की स्पष्टता द्वारा निश्चित होता है। देवविद्या, §३५७ देखिए "परिप्रेक्ष्य के विस्तार, जो वृत्त के प्रसग में कोणीय खण्ड है, प्रकट

५८ और इस साधन द्वारा, अधिकतम सम्भावित क्रम के साथ-साथ, जितनी विविधता सम्भव है उतनी प्राप्त हो जाती है । अभिप्राय यह है कि जितनी पूर्णता[1] सम्भव है उसे प्राप्त करने का यही एक मार्ग है ।

(देव०–१२०, १२४, २४१ अनु०, २१४, २४३, २७५)

५९ इसके अतिरिक्त अन्य कोई परिकल्पना नही, बल्कि यही (जिसे मैं सिद्ध कहने का साहस करता हूँ) ईश्वर की महत्ता की उचित रूप में अभिवृद्धि करती है, और मॉशिये बेली ने इसे स्वीकार कर लिया, जब उन्होने अपने शब्दकोश (लेख रोरेरियस) मे इसके विरुद्ध

करते हैं कि एक ही वृत्त दीर्घवृत्त, अनुवृत्त तथा अति-परिवलय द्वारा, दूसरे वृत्त द्वारा भी, एक सीधी रेखा और एक बिन्दु की सहायता से प्रस्तुत किया जा सकता है । इन आकृतियो से अधिक भिन्न तथा असमान और कुछ भी नहीं लगता, फिर भी इनमें बिन्दुश निश्चित सम्बन्ध होते हैं । इसी प्रकार समझना चाहिए कि प्रत्येक आत्मा अपने निजी दृष्टिकोण तथा अपने निजी सम्बन्ध के अनुसार विश्व को अपने प्रति पुन प्रस्तुत करता है, किन्तु ऐसा करने में सदैव एक सामजस्य रहता है ।

१ लाइबनित्त्स के विचार से सर्वोच्च पूर्णता अि प्रकारता में सर्वाधिक पूर्ण एकता या क्रम है । चिद्‌बिन्दुओ में सर्वाधिक पूर्ण एकता है, क्योकि उनमें से प्रत्येक का सार उसी विश्व को पुन प्रस्तुत करने में निहित है, जब कि उनमें अधिकतम प्रकारता है, क्योंकि जिन दृष्टिकोणो को प्रस्तुत करते हैं असीमत विविध हैं । 'किसी जगत् के सम्भव होने के लिए उसमें बोधगम्यता होना पर्याप्त है, किन्तु उसके अस्तित्व के लिए उसमें बोधगम्यता या क्रम के प्रकर्ष की आवश्यकता है, क्योंकि कहीं भी क्रम का अनुपात उतना ही अधिक होता है जितना बहुता में अलग-अलग पहचानने के लिए हो ।' बोर्गुएत को पत्र (१७१२?) देखिए ।

१ पृष्ठ १४५, पादटिप्पणी १ देखिए । बेली लाइबनित्त्स के सिद्धान्त की तुलना एक कल्पित जलपोत से करता है जिसकी इस प्रकार रचना की जा सकती

तर्क प्रस्तुत किये, जिनमें वस्तुत उनका रुझान इस विचार की ओर था कि मै ईश्वर में वहुत अधिक गुणो का आरोप कर रहा था—जितना आरोप सम्भव है उससे अधिक। किन्तु, वह कोई ऐसी युक्ति न दे सके, जो इस सार्वभौमिक सगति की, जिसके अनुसार प्रत्येक द्रव्य दूसरे सभी द्रव्यो को, उनके साथ अपने सम्वन्धो के माध्यम से, ठीक-ठीक अभिव्यक्त करता है, असम्भावना प्रदर्शित करती।

६० आगे, मैंने जो अभी कहा है उसमें प्रागनुभवीय युक्तियाँ देखी जा सकती है कि वस्तुएँ जैसी है उससे विपरीत क्यो न हो सकी। क्योकि ईश्वर को सम्पूर्ण की व्यवस्था करने में प्रत्येक भाग का, और विशेष रूप से, प्रत्येक चिद्‌विन्दु का ध्यान था, जिसका स्वभाव प्रति-रूपण करना होने से उसे वस्तुओ के केवल एक ही भाग का प्रतिरूपण करने तक कोई सीमित नही कर सकता, यद्यपि यह सच है कि यह

हो कि वह अपने-आप, बिना किसी कप्तान और माँझी के, अपने को आँधी-तूफान से वचाते हुए, चट्टानों से बचते हुए, लगर डालते और उठाते हुए, आवश्यकता के अनुसार किनारा खोजते हुए, यानी वह सब करते हुए जो एक सामान्य पोत करता है, एक स्थान से दूसरे स्थान तक वर्ष-प्रतिवर्ष तरण करता रहे। वह मानता है कि ईश्वर अपनी सर्वशक्तिमत्ता से किसी पोत को इस प्रकार की सामर्थ्य प्रदान कर सकता है, किन्तु वह यह भी मानता है कि जलपोत का स्वभाव उसके लिए इतनी सामर्थ्य का आदान करना असम्भव कर देगा। 'ईश्वर का ज्ञान और शक्ति कितनी ही असीम क्यों न हो, वह किसी ऐसे यन्त्र द्वारा जिसमें कोई पुर्जा न हो वह काम नहीं कर सकता जिसके लिए उस पुर्जे का होना आवश्यक है।' इस प्रकार, बेली चिद्‌विन्दुओ में पूर्ण सहजता की सम्भावना के विरुद्ध तर्क करता है और, फलत, यह स्थापना करता है कि लाइबनित्स के पूर्व-नियोजित सगति के मत में ससार-यन्त्र से बाह्य ईश्वर उसी प्रकार अपेक्षित है जिस प्रकार कार्तीय अवसर-वाद में।

प्रतिरूपण सम्पूर्ण विश्व की विशिष्ट वस्तुओ की विविधता के प्रसग में मात्र गुफित है, और वस्तुओ के एक छोटे-से भाग के प्रसग में ही स्पष्ट हो सकता है, नाम से, उन वस्तुओ के प्रसग में जिनका चिद्विन्दुओ में से प्रत्येक से निकटतम अथवा अधिकतम[1] सम्बन्ध है, अन्यथा प्रत्येक चिद्विन्दु एक स्रष्टा होगा। चिद्विन्दु, अपने विषय की दृष्टि से नही, वल्कि उन विभिन्न विधियो की दृष्टि से जिनसे उन्हें अपने विषय का ज्ञान होता है, सीमित[2] है। एक उलझे हुए ढग से, वे सभी असीम की, सम्पूर्ण[3] की, प्राप्ति का प्रयास करते है। किन्तु, वे अपने स्पष्ट प्रत्यक्षो की श्रेणियो द्वारा सीमित एव विभेदित है।

६१ और यौगिक इस दृष्टि से सरल द्रव्यो के सदृश (सिम्वालिसॅट अवेक्[4]) है। क्योकि सभी कुछ परिपूर्ण है (और इस प्रकार सम्पूर्ण

१. यदि चिद्विन्दु अदेशिक हैं, तो हम किसी चिद्विन्दु के प्रसग में किसी वस्तु को निकटतम या अधिकतम कैसे कह सकते हैं ? प्रत्येक चिद्विन्दु का किसी-न-किसी प्रकार का एक पिण्ड होता है और पिण्ट का, गुफित रूप में, अपने आप में और दूसरे पिण्डों के सन्दर्भ में देशिक होने-जैसा प्रत्यक्षीकरण होता है, यद्यपि वह अदेशिक चिद्विन्दुओं का समूह मात्र होता है। इसलिए जब यह कहा जाता है कि अमुक वस्तुएँ किसी चिद्विन्दु से सम्वन्ध की दृष्टि से निकटतम या महत्तम हैं तो अर्थ यह होता है कि वे वस्तुएँ चिद्विन्दु के पिण्ड से सम्वन्धित होने के कारण निकटतम या महत्तम हैं।

२ तात्पर्य यह है कि अति व्यापक अर्थ में विचार, चेतन हो अचेतन, अपने आप से ही सीमित होता है कुछ भी ऐसा नहीं है जो किसी-न-किसी अर्थ में विचार का विषय न हो। इससे काण्ट की स्थिति की तुलना करें।

३. निकोलस ऑव् क्यूज़ा 'सभी वस्तुएँ उसी को पाना चाहती हैं, जो निरपेक्ष कुछ है।'

४. 'प्रतीकन' (सिम्बॉलाइज्) पद में 'आफलन' (फैल्फुलस्) के विचार

पदार्थ एक साथ ग्रथित है) और परिपूर्ण स्थान में प्रत्येक गति का दूरस्थ पिण्डो पर उनकी दूरी के अनुपात में प्रभाव पडता है, जिससे प्रत्येक पिण्ड, न केवल उन पिण्डो से प्रभावित होता है जो उसके सम्पर्क में है और जिनके सभी परिवर्तनो के प्रभाव का वह किसी न किसी रूप में अनुभव करता है, बल्कि व्यवहृत रूप मे उन पिण्डो से भी प्रभावित होता है जो उन पिण्डो के समीप है जिनसे इसका निकट सम्बन्ध है। जिससे यह उपलब्ध होता है कि वस्तुओ का यह अन्त सवाद किसी भी

की ध्वनि है जो लाइबनित्स के मन में बराबर बनी रही है। जैसे सख्याएँ परिगणित वस्तुओं की प्रतीक होती है और हम विशिष्ट वस्तुओं की ओर प्रत्येक स्तर पर बिना सकेत किये हुए शुद्ध गणना कर लेते हैं, उसी प्रकार अविश्लिष्ट विचार अपने सरल तत्वों के प्रतीक हो सकते हैं। उसी प्रकार यौगिक वस्तुएँ सरल द्रव्यों की, जो उनका निर्माण करती है, प्रतीक है। यौगिको में जिसका गुफित रूप में प्रत्यक्षीकरण होता है, वह मात्र भ्रम नहीं होता, बल्कि सरल द्रव्यो की वास्तविक विशेषताओं का अपूर्ण पुन प्रस्तुतीकरण, अथवा प्रतीक होता है। इस प्रकार, इस खण्ड में लाइबनित्स के कथन का भाव यह है कि दैशिक या पदार्थमय परिपूर्ण स्थान (जो हमारा अपने आप का गुफित प्रत्यक्ष है) चिद्‌बिन्दुओं की असीम (या सब विधि पूर्ण) शृखला का प्रतीक है, जिसमें कहीं रिक्त स्थान नहीं होते, क्योंकि चिद्‌बिन्दु एक दूसरे से असीमत लघु अशो में भिन्न होते हैं। इसी प्रकार, सम्पूर्ण विश्व में होने वाली पदार्थगत क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ जो इस प्रकार होती है कि एक बिन्दु पर होने वाला परिवर्तन दूसरे सभी बिन्दुओं को प्रभावित करता है चिद्‌बिन्दुओं में पूर्वनियोजित सगति का प्रतीक है। और फिर यह कि जो भी घटनाएँ विश्व में घटित होती हैं, हो चुकी है या होगी पिण्डो में से किसी एक में पढ़ी जा सकती है चिद्‌बिन्दुओं के प्रतिनिधि स्वभाव का प्रतीक है, मानो वैचारिक रूप से वह सम्पूर्ण को अपने में आत्मसात् किये हुए हो। चूंकि वे इस प्रकार प्रतीकात्मक है, पदार्थमय जगत् की घटनाएँ आधारभूत घटनाएँ है।

दूरी तक, वह कितनी ही लम्बी क्यो न हो, व्याप्त हो सकता है। और फलत, प्रत्येक पिण्ड विश्व में जो कुछ घटित होता है सब के प्रभाव का अनुभव करता है। इसलिए, वह जो सब को देखता है प्रत्येक मे उसे पढ सकता है जो सब कही हो रहा है, और उसे भी जो हो चुका है या होगा। इसे हिप्पोक्रेतिस[1] ने ('सिम्प्नोइया पान्ता') वर्तमान में उसे

१ सम्भवत, 'सिम्पनोइया' (सज्ञा) 'सिम्पनोआ' (विशेषण) का विकृत रूप है, जिसका अर्थ 'सहमति में', शब्दार्थत 'एक साथ सांस लेना' होता है। लाइवनित्स ने नव्य लेखो में भी इसे उद्‌धृत किया है। वहाँ उसने इसका अनुवाद 'सब कुछ एकमत है' (ताउत एस्त कॉन्स्पिरान्त) किया है। शायद, हिप्पोक्रेतिस के वाक्य खण्ड की ठीक स्मृति न होने से यह भूल हुई है। उसी विचार के भावी रूप के ज्ञान के लिए देखिए, फिक्ट वर्की, २ १७८ तथा आगे। 'अपने सत्ताकाल के प्रत्येक क्षण में, प्रकृति एक सयुक्त पूर्ण होती है प्रत्येक क्षण में, प्रत्येक भाग के लिए वही होना आवश्यक है, जो वह है, क्योकि दूसरे सभी वह हैं, जो वह हैं तुम बालू के एक दाने की स्थिति को भी जो वर्तमान में वह है उससे भिन्न तब तक नहीं समझ सकते जब तक पूरे अनिश्चित भूत को जो वह रहा है उससे भिन्न और पूरे अनिश्चित भविष्य को जो वह होगा उससे भिन्न समझने के लिए वाध्य न हों . मैं जो हूँ वह इसलिए हूँ कि प्रकृति की महत् समष्टि की इस सन्धि में केवल ऐसा ही होना सम्भव था, और किसी प्रकार का नहीं; और यदि कोई आत्मा प्रकृति के रहस्य के बीच देख पाती, तो वह एक ही मनुष्य को जान कर देती कि पहले कैसे मनुष्य रहे थे और भविष्य के किसी क्षण में कैसे मनुष्य रहेंगे, एक ही व्यक्ति में वह सभी व्यक्तियो को जान लेती। तब तो सम्पूर्ण प्रकृति से मेरा इस प्रकार ससर्ग है कि मैं क्या रहा हूँ, क्या हूँ और क्या हो जाऊँगा का वही निर्धारण करता है, और वही आत्मा मेरे अस्तित्व के किसी सम्भावित क्षण से, बिना भूल किये हुए, मालूम कर लेगी कि मैं क्या रहा था और क्या मुझे होना था।' (प्रो० एडेम्सन् का अनुवाद, काट का दर्शन, पृष्ठ २२१)

देखना कहा था जो समय में और देश में भी बहुत दूर है। किन्तु, कोई आत्मा अपने में वही देख सकती है जो उसमें स्पष्टतया प्रतिरूपित है, वह अपने में दबी हुई प्रत्येक वस्तु की तहो को एकाएक खोल नही सकती, क्योकि उसमें असीम जटिलता है।[1]

६२ इस प्रकार, यद्यपि प्रत्येक रचित चिद्बिन्दु सम्पूर्ण विश्व को प्रतिरूपित करता है, वह अधिक स्पष्ट रूप में उसी पिण्ड को प्रतिरूपित करता है जिससे वह विशेषत सम्बन्धित है और जिसकी वह चेतन सत्ता[2] है, और चूंकि वह पिण्ड, परिपूर्ण स्थान में सम्पूर्ण पदार्थ के

१ तुलना करें लाइबनीशियाना, ड्यूटेन्स्, खण्ड ६, भाग १, पृष्ठ ३३२। 'मैं मानता हूँ कि मरने के बाद, हम प्रथमत याद नहीं करते कि पहले हम क्या थे, क्योंकि यह न तो प्रकृत्या उचित है और न वस्तुओ की योग्यता के अनुकूल है। फिर भी मैं वि[illegible] करता हूँ कि एक बार आत्मा को जो भी हुआ है, नित्य रूप से उस पर अंकित हो गया है, यद्यपि वह हर समय हमारी स्मृति में वापस नहीं आता, ठीक वैसे ही जैसे हम बहुत-सी बातें जानते हैं जिन्हें हमेशा स्मरण नहीं कर पाते, जब तक कोई वस्तु उनका सकेत न दे और उनके विषय में सोचने के लिए बाध्य न करे। क्योकि सभी बातों को कौन याद रख सकता है ? किन्तु, चूंकि प्रकृति में कुछ भी बेकार नहीं, कुछ भी नष्ट नहीं होता, बल्कि प्रत्येक वस्तु पूर्णता एव परिपक्वता की ओर अग्रसर होती है, प्रत्येक बिम्ब जिसे हमारी आत्मा प्राप्त करती है अन्ततोगत्वा भावी वस्तुओं से मिल कर एक हो जायगा, इस प्रकार कि हम सभी कुछ उसी प्रकार देख सकेंगे जैसे दर्पण में और उससे वह अनुगमित कर सकेंगे जिसे अपने सन्तोष के लिए अधिक उपयुक्त पायेंगे। जिससे यह निष्पन्न होता है कि हम जितने अधिक सद्गुणी रहे हैं और जितने अधिक अच्छे काम किये हैं, उतना ही अधिक हर्ष और सन्तोष हमें प्राप्त होगा।'

२ चिद्बिन्दु विद्या § १८, पाद-टिप्पणी २ देखिए। चेतन सत्ता या एक साथ ही शरीर का अन्तिम कारण और शक्ति है जो उसका नियन्त्रण करती है,

सयुक्त होने के कारण, सम्पूर्ण विश्व को अभिव्यक्त, आत्मा भी इस पिण्ड को प्रतिरूपित करने में जो उससे एक विशिष्ट प्रकार मे सम्बन्धित है, सम्पूर्ण विश्व को प्रतिरूपित करती है।

(देव०-४००)

६३ एक चिद्विन्दु मे (जो उसकी चेतन सत्ता या आत्मा है) सम्बन्धित पिण्ड उस चेतना सहित जिसका निर्माण करता है, वह एक जीवित प्राणी कहा जा सकता है, और आत्मा सहित एक जन्तु[1] कहा जाता है। अब, यह जीवित प्राणी या जन्तु का पिण्ड सदैव आंगिक होता है, क्योंकि प्रत्येक चिद्विन्दु चूंकि अपने निजी ढग से विश्व का दर्पण है और चूंकि विश्व एक पूर्ण व्यवस्था के अनुसार शासित है, उसमें भी व्यवस्था होनी चाहिए जो उसे प्रतिरूपित करता है, अर्थत, आत्मा के प्रत्यक्षो में और, निमर्गत, उस पिण्ड में भी व्यवस्था होनी चाहिए जिसके माध्यम से आत्मा विश्व को प्रतिरूपित करती है।[2]

(देव०-४०३)

अथवा ऊर्जा है जो उसके माध्यम से कार्य करती है। प्रशासक चिद्विन्दु होने से, आत्मा के प्रत्यक्ष शरीर में व्याप्त चिद्विन्दुओं के प्रत्यक्षों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होते हैं। आत्मा, इस प्रकार, सापेक्षत शरीर की पूर्णता है। और इसी प्रकार, शरीर में जो घटित होता है उसकी युक्ति (अर्थात् स्पष्ट प्रत्यक्ष) आत्मा में पढ़ी जानी चाहिए, और इसीलिए वह शरीर की क्रियात्मकता, अथवा ऊर्जा है।

१ § १९ देखिए। लाइवनित्स 'जीवित प्राणी' पद का प्रयोग सभी प्राणियों के लिए जिनमें जीवन है नहीं करता, वल्कि विशिष्टतया उनके लिए जिनका प्रशासक चिद्विन्दु अचेतन है। इसी प्रकार, जन्तु (जीवित प्राणी से भिन्न) का प्रयोग उनके लिए करता है जिनका प्रशासक चिद्विन्दु चेतनता एवं स्मृति से युक्त है।

२ लाइवनित्स व्यवस्था और अगी का ऐसे तत्त्वों की असीम शृखला के अन्तर्गत प्रत्ययन करता है, जो अपने पास वालों से असीमत- लघु अश में भिन्न

६४ इस प्रकार प्रत्येक जीवित प्राणी का आंगिक पिण्ड एक प्रकार का दैवी यन्त्र या प्राकृतिक कल-पुतला है, जो सभी कृत्रिम कल-पुतलो को असीमत पराभूत कर देता है, क्योकि मानवीय कौशल द्वारा निर्मित यन्त्र अपने भागो में से प्रत्येक भाग में यन्त्र नही होता।[1] उदाहरण के लिए, पीतल के पहिये के दाँत भाग या टुकडे है जो हमारे लिए कृत्रिम उत्पाद नही है और जिनमें यन्त्र के विशेष धर्म नही होते, क्योकि वे उस उपयोग का कोई सकेत नही देते जिसके लिए पहिया वना था। किन्तु प्रकृति के यन्त्र,[2] नामत, जीवित शरीर, अपने असीम सख्या तक लघुतम भागो में भी यन्त्र है। प्रकृति और कला में, अथवा यह कहें कि दैवी कला और हमारी कला में, इसी से अन्तर हो जाता है।
(देव०–१३४, १४६, १९४,४०३)

होते हैं। विश्व की चिद्‌बिन्दु शृखला, जिसका विस्तार ईश्वर से निम्नतम चिद्‌विन्दु तक है, एक-एक अगी की रचना में प्रतिविम्बित है, जिसका विस्तार प्रशासक चिद्‌विन्दु से नीचे तक है, और वह फिर प्रत्येक चिद्‌विन्दु की प्रत्यक्ष-शृखला में प्रतिविम्वित है, जिसका विस्तार स्पष्टतम प्रत्यक्षों से लेकर अ।
धुंधले प्रत्यक्षो तक है।

१ प्रकृति के उत्पाद का प्रत्येक भाग एक यन्त्र है, क्योंकि सभी पिण्ड जीवित पिण्ड है। पहिये का उदाहरण यह दिखाने के लिए दिया गया है कि उसके अश मानवीय कला के उत्पाद नहीं है, किन्तु दैवी कला के उत्पाद है।

२ यॉनुएत् को पत्र (१६९२) 'प्रकृति के यन्त्र समग्र यन्त्र है, उनका चाहे जितना छोटा भाग लें, अयवा यह कहें कि उनका छोटे-से-छोटा भाग अपने आप में एक असीम जगत् है, जो अपने निजी ढग से वह सव भी अभिव्यक्त करता है जो शेष विश्व में है। यह हमारी कल्पना से परे है, फिर भी हम जानते है कि ऐसा ही होना चाहिए, और वह सव असीमत असीम प्रकारता एक रचनात्मक वुद्धि द्वारा, जो असीम से भी अधिक है, अनुप्राणित है। यह कहा जा सकता है कि

६५ और प्रकृति का निर्माता इस दैवी और असीमत विचित्र कला-शक्ति का प्रयोग इसलिए कर सका है कि पदार्थ का प्रत्येक भाग न केवल असीमत विभाज्य है, जैसा प्राचीनो ने कहा था, वल्कि वस्तुत अनन्त[1] भागो में विभाजित है—प्रत्येक भाग अन्य भागो में, जिनमें

उसमें सगति, ज्यामिति, आध्यात्मिकी, और यह भी कह सकते हैं कि नैतिकी सर्वत्र है, और (जो आश्चर्यान्वित करता है) एक अर्थ में प्रत्येक द्रव्य इस प्रकार क्रिया करता है जैसे वह सभी रचित वस्तुओ से स्वतन्त्र हो, जब कि दूसरे अर्थ में, अन्य सभी उसे उनके साथ अभियोजित होने के लिए बाध्य करते हैं, इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण प्रकृति चमत्कारों से पूरित है, किन्तु बुद्धि के चमत्कारो से, उन चमत्कारो से जो अपनी बौद्धिकता से चमत्कार बन जाते हैं, एक ऐसे ढंग से जो हमें चकित कर देता है । वस्तुओ की युक्तियाँ एक असीम क्रम में एक-दूसरे का अनुगमन करती हैं, जिससे हमारा मन देखता है कि वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिए, किन्तु इस प्रकार उनका अनुगमन नहीं कर सकता कि समझ सके । पहले लोगो ने विना किसी प्रकार समझे हुए प्रकृति की प्रशसा की थी, और ऐसा करना उचित माना गया था । बाद में, उन्होंने प्रकृति को समझना सरल मानना प्रारम्भ किया, जिससे उसके प्रति हेय भावना विकसित हो गयी, और नये दार्शनिकों में से कुछ तो वेकारी में अपने को प्रोत्साहित करने के लिए यह कल्पना भी कर लेते हैं कि वे प्रकृति के विषय में बहुत जान गये हैं ।'

१ फूको के पत्र का उत्तर (१६९३) : 'पदार्थ का कोई ऐसा भाग नहीं जो विभाजित, मैं विभाज्य नहीं कहता, न हो; और फलत छोटे-से छोटा कण विभिन्न प्राणियों की असीमता से भरा हुआ जगत् जाना चाहिए ।' ऐसे कथनों में लाइबनित्स द्वारा पदार्थ को अदेशिक तत्वों से बना हुआ मानने के कारण द्विविध विचार उत्पन्न होता है । लाइबनित्स पदार्थ को मात्र संकलन मानता है, इसलिए वह वास्तविक द्रव्य नहीं रह जाता । किन्तु, वह कहीं भी यह स्पष्ट नहीं करता कि चिद्‌बिन्दुओं के सकलन से, जिनमें से प्रत्येक अपरिमाणात्मक है, वह क्या समझता है । फिर यह शका की जा सकती है कि क्या कोई वास्तविक समष्टि 'वास्तविक भागों

से प्रत्येक में अपनी कोई निजी गति है—अन्यथा पदार्थ के प्रत्येक अश के लिए सम्पूर्ण विश्व को अभिव्यक्त करना असम्भव होता ।[1]

(देव०, प्रारम्भिक अनुसरण पर प्रवचन, ७० तथा १९५)

की असीम सख्या' से निर्मित हो सकती है ? क्या असीम विभाज्यता का अर्थ यही नहीं है कि भागों की गणना का अन्त असम्भव है, क्योंकि किसी पूर्ण का उसके भागों से सम्बन्ध इतना अनिश्चित है कि हमारे पास यह निर्धारित करने की कोई विधि नहीं कि भाग सचमुच क्या है ? इस प्रकार 'असीम' पद का यहाँ यही अर्थ हो सकता है कि विभाजन की प्रक्रिया कभी पूरी नहीं हो सकती । फलत , यह कथन स्वत बाधित प्रतीत होता है कि वस्तुएँ 'यथार्थत बिना अन्त के विभाजित' या असीमत विभाजित हैं । (काट शुद्ध बुद्धि की समीक्षा, प्रथम तथा द्वितीय विरुद्धनामिकाएँ देखिए । बोसाके तर्कशास्त्र, खण्ड १, पृष्ठ १७२ तथा आगे भी देखिए) । गणितज्ञ यूलर ने पहले पहल लाइबनित्स के उपर्युक्त विचार का खण्डन इस प्रकार किया इकाइयों के रूप में चिद्बिन्दुओं के अस्तित्व के विचार में पदार्थ की सीमित विभाज्यता सम्मिलित है,जब कि लाइबनित्स साथ ही असीम विभाज्यता का समर्थन करता है । (एलेमेड्याँ की राजकुमारी को पत्र, १७६१, ब्र्यूस्टर का अनुवाद, खण्ड २, पृष्ठ ३० से आगे) यूलर की युक्ति लाइबनित्स के मत के उस रूप के विरुद्ध है जिसे क्रिश्चियन वुल्फ ने अपनाया था । लाइबनित्स यह उत्तर दे सकता था कि असीमत विभाज्य पदार्थ मात्र प्रतिभास है, जो वास्तविक चिद्-बिन्दुओं की यथार्थ असीमता से उत्पन्न हो जाता है । किन्तु, इस व्याख्या में भी 'असीम' का विचार दो विरुद्ध अर्थों में प्रयुक्त प्रतीत होता है '(१) 'पूर्ण होने में असमर्थ' तथा (२) 'निरपेक्षत पूर्ण' ।

१ लाइबनित्स यहाँ जिन 'पदार्थ के अशों' की चर्चा करता है, वे अन्तत. चिद्विन्दु हैं और उनमें से प्रत्येक की वैचारिक वस्तु सम्पूर्ण विश्व है । चिद्विन्दु की सख्या असीम है और प्रत्येक, चूँकि उसमें वैचारिक रूप से सभी कुछ है, 'भागों' की असीमता रखता है । अथवा लाइबनित्स के विचार में निहित युक्ति इस प्रकार व्यक्त की जा सकती है यदि 'पदार्थ के अश' वस्तुत अनन्त सख्या में विभाजित

६५ और प्रकृति का निर्माता इस दैवी और असीमत विचित्र कला-शक्ति का प्रयोग इसलिए कर सका है कि पदार्थ का प्रत्येक भाग न केवल असीमत विभाज्य है, जैसा प्राचीनो ने कहा था, वल्कि वस्तुत अनन्त[1] भागो में विभाजित है—प्रत्येक भाग अन्य भागो में, जिनमें

` सगति, ज्यामिति, आध्यात्मिकी, और यह भी कह सकते हैं कि नैतिकी सर्वत्र है, और (जो आश्चर्यान्वित करता है) एक अर्थ में प्रत्येक द्रव्य इस प्रकार क्रिया करता है जैसे वह सभी रचित वस्तुओ से स्वतन्त्र हो, जब कि दूसरे अर्थ में, अन्य सभी उसे उनके साथ अभियोजित होने के लिए वाध्य करते हैं, इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण प्रकृति चमत्कारो से पूरित है, किन्तु वुद्धि के चमत्कारो से, उन चमत्कारो से जो अपनी वौद्धिकता से चमत्कार बन जाते हैं, एक ऐसे ढग से जो हमें चकित कर देता है । वस्तुओं की युक्तियाँ एक असीम क्रम में एक-दूसरे का अनुगमन करती हैं, जिससे हमारा मन देखता है कि वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिए, किन्तु इस प्रकार उनका अनुगमन नहीं कर सकता कि समझ सके । पहले लोगों ने विना किसी प्रकार समझे हुए प्रकृति की प्रशसा की थी, और ऐसा करना उचित माना गया था । वाद में, उन्होंने प्रकृति को समझना सरल प्रारम्भ किया, जिससे उसके प्रति हेय भावना विकसित हो गयी, और नये दार्शनिको में से कुछ तो वेकारी में अपने को प्रोत्साहित करने के लिए यह कल्पना भी कर लेते है कि वे प्रकृति के विषय में वहुत जान गये हैं ।'

१ फूको के पत्र का उत्तर (१६९३) 'पदार्थ का कोई ऐसा भाग नहीं जो विभाजित, मैं विभाज्य नहीं कहता, न हो, और फलत छोटे-से छोटा कण विभिन्न प्राणियो की असीमता से भरा हुआ जगत् जाना चाहिए ।' ऐसे कथनो में लाइवनित्स द्वारा पदार्थ को अदेशिक तत्त्वो से वना हुआ मानने के कारण द्विविध विचार उत्पन्न होता है । लाइवनित्स पदार्थ को मात्र सकलन है, इसलिए वह वास्तविक द्रव्य नहीं रह जाता । किन्तु, वह कहीं भी यह स्पष्ट नहीं करता कि चिद्‌विन्दुओं के ` से, जिनमें से प्रत्येक अपरिमाणात्मक है, वह क्या है । फिर यह शका की जा सकती है कि क्या कोई वास्तविक समष्टि 'वास्तविक भागों

से प्रत्येक में अपनी कोई निजी गति है—अन्यथा पदार्थ के प्रत्येक अश के लिए सम्पूर्ण विश्व को अभिव्यक्त करना असम्भव होता ।'

(देव०, प्रारम्भिक अनुसरण पर प्रवचन, ७० तथा १९५)

की असीम सख्या' से निर्मित हो सकती है ? क्या असीम विभाज्यता का अर्थ यही नहीं है कि भागों की गणना का अन्त असम्भव है, क्योकि किसी पूर्ण का उसके भागों से सम्बन्ध इतना अनिश्चित है कि हमारे पास यह निर्धारित करने की कोई विधि नहीं कि भाग सचमुच क्या है ? इस प्रकार 'असीम' पद का यहाँ यही अर्थ हो सकता है कि विभाजन की प्रक्रिया कभी पूरी नहीं हो सकती । फलत , यह कथन स्वत बाधित प्रतीत होता है कि वस्तुएँ 'यथार्थत बिना अन्त के विभाजित' या असीमत विभाजित हैं । (काट शुद्ध बुद्धि की समीक्षा, प्रथम तथा द्वितीय विरुद्धनामिकाएँ देखिए । बोसाके तर्कशास्त्र, खण्ड १, पृष्ठ १७२ तथा आगे भी देखिए) । गणितज्ञ यूलर ने पहले पहल लाइबनित्स के उपर्युक्त विचार का खण्डन इस प्रकार किया इकाइयों के रूप में चिद्‌विन्दुओ के अस्तित्व के विचार में पदार्थ की सीमित विभाज्यता सम्मिलित है,जब कि लाइबनित्स साथ ही असीम विभाज्यता का समर्थन करता है । (एलेमेंइयाँ की राजकुमारी को पत्र, १७६१, व्र्यूस्टर का अनुवाद, खण्ड २, पृष्ठ ३० से आगे) यूलर की युक्ति लाइबनित्स के मत के उस रूप के विरुद्ध है जिसे क्रिश्चियन वुल्फ ने अपनाया था । लाइबनित्स यह उत्तर दे सकता था कि असीमत विभाज्य पदार्थ मात्र प्रतिभास है, जो वास्तविक चिद्‌-विन्दुओं की यथार्थ असीमता से उत्पन्न हो जाता है । किन्तु, इस व्याख्या में भी 'असीम' का विचार दो विरुद्ध अर्थों में प्रयुक्त प्रतीत होता है '(१) 'पूर्ण होने में असमर्थ' तथा (२) 'निरपेक्षत पूर्ण' ।

१ लाइबनित्स यहाँ जिन 'पदार्थ के अशों' की चर्चा करता है, वे अन्तत. चिद्‌विन्दु हैं और उनमें से प्रत्येक की वैचारिक वस्तु सम्पूर्ण विश्व है । चिद्‌विन्दु की सख्या असीम है और प्रत्येक, चूँकि उसमें वैचारिक रूप से सभी कुछ है, 'भागों' की असीमता रखता है । अथवा लाइबनित्स के विचार में निहित युक्ति इस प्रकार व्यक्त की जा सकती है यदि 'पदार्थ के अश' वस्तुत अनन्त सख्या में विभाजित

६६ जिससे यह प्रतीत होता है कि पदार्थ के लघुतम कण में उपजीवो, जीवो, जन्तुओ, चेतनाओ और आत्माओ का एक ससार वसा हुआ है ।

६७ पदार्थ का प्रत्येक अश पौधो से भरे हुए वगीचे और मछलियो से भरे हुए तालाव की भाँति समझा जा सकता है । किन्तु, प्रत्येक पौधे की प्रत्येक शाखा, प्रत्येक जन्तु का प्रत्येक अग, उसके द्रवीय भाग का प्रत्येक वूंद भी इसी प्रकार का वगीचा या तालाव है ।

६८ और यद्यपि मिट्टी और हवा जो वगीचे के पौधो के वीच है, या जल जो तालाव की मछलियो के वीच है, भले ही न पौधा है, न मछली है, फिर भी वे पौधो और मछलियो को अपने में रखे हुए है, किन्तु वे इतने छोटे है कि हमारे लिए अदृश्य है ।[1]

नहीं है, तो अन्तत अविभाजित अणु अवश्य हैं । फिन्तु, ऐसे अणुओं के होने का अर्थ रिक्त स्थान का अस्तित्व है, अत वे पूरित स्थान के विचार से सगत नहीं हैं । और यदि पूरित स्थान नहीं है, तो पदार्थ के किसी अश के लिए अपने को अभिव्यक्त करना अथवा शेष सभी से प्रभावित होना असम्भव है ।

१ लाइवनित्स अपने समय में होने वाले अणुवीक्षणिक अनुसन्धान में वहुत रुचि लेता था । उसने जीवाणु की खोज करने वाले लेव्‌वेनहेक्, कीटशास्त्री स्वेमर-डैम, तथा मैलपिगी के कार्यों की, जिसने अन्य कई कार्यों के साथ-साथ जन्तुओं और वनस्पतियो का शरीर-व्यापार सम्वन्धी अध्ययन किया था, वार-वार प्रशसा की है । अपने एक लेख . 'अधिकार एव न्याय सम्वन्धी धारणाओं पर विचार' (१६९३) में वह कहता है 'हमारे अणुवीक्षणिक ज्ञान के विस्तार की वहुत आवश्यकता है । ससार भर में कठिनाई से दस व्यक्ति तत्परता से इस कार्य में लगे होंगे, और यद्यपि सौ हजार लोग भी इस नये ससार के मूल्यवान् चमत्कारों की खोज के लिए, जो उस ससार का भीतरी भाग है जिसे हम जानते हैं और जो हमारे वर्तमान ज्ञान को सौ हजार गुना विस्तृत कर दे सकता है, अधिक न होते । इसी कारण, मैंने अक्सर चाहा है कि वडे-वडे राजकुमार इसके लिए प्रवन्ध करने के

६९ इस प्रकार विश्व मे कुछ भी अनुप्त नही, कुछ भी जीवाणु-शून्य नही, कुछ भी मृत नही, दृश्य[1] के अतिरिक्त कोई अव्यवस्था नही, कोई उलझन नही, कुछ वैसा ही जैसा किसी तालाव में दूर से लग सकता है एक उलझी हुई गति दिखाई देगी, मानो, विना मछलियो को अलग-अलग पहचानते हुए, तालाव मे मछलियाँ झुण्डो में तैर रही हो।
(देव०—भूमिका, ए० ४७५ वी, ४७७ वी)

७० इससे यह मालूम होता है कि प्रत्येक जीवित पिण्ड में एक प्रभु चेतना होती है, जो जन्तु की आत्मा है, किन्तु इस जीवित पिण्ड के अग दूसरे जीवधारियो, वनस्पतियो और जन्तुओ से परिपूर्ण है जिनमे से प्रत्येक मे एक प्रभु-चेतना या आत्मा[2] होती है।

लिए राजी किये जाते और उन लोगो को आश्रय देते जो उस कार्य में लगना चाहते।' लाइवनित्स के मत में आधुनिक शरीर-व्यापार विज्ञान के कोशा-सिद्धान्त के सुझाव है, किन्तु दोनो के सादृश्य को अधिक दूर तक नहीं ले जाया जा सकता। उदाहरण के लिए, कोशाओं की सख्या कितनी ही अधिक हो, वे लाइवनित्स के 'पदार्थ के अशों की भाँति असीमत विभाजित नहीं है। वस्तुत, कोशा-सिद्धान्त, लाइवनित्स के मत की अपेक्षा, वस्तुओ की व्याख्या के यान्त्रिक मत के अधिक समीप है।' देखिए, सैण्डमैन जीव-विज्ञान की समस्याएँ, पृष्ठ ५३ से आगे।

१ वर्नौलियम को पत्र (१६९९) देखिए 'ईश्वर, सम्भव वस्तुओं की असीम सख्या में से, अपनी बुद्धिमत्ता द्वारा उसे चुनता है जो सबसे अधिक उपयुक्त हो। किन्तु यह स्पष्ट है कि यदि कहीं रिक्त स्थान होता (और इसी प्रकार यदि अणु होते), तो निर्जीव एव अनुप्त स्थान भी होते जिनमें, दूसरी वस्तुओं के प्रति किसी प्रतिकूलता के विना ही, कुछ उत्पन्न किया जा सकता। किन्तु, यह बुद्धिमत्ता के साथ सगत नहीं है कि ऐसे स्थान रहें। और मं हूँ कि प्रकृति में कुछ भी निर्जीव तथा अनुप्त नहीं है, यद्यपि वहुत-सी वस्तुएँ इस प्रकार की लगती हैं।'

२ तव सम्पूर्ण जगत् को एक पिण्ड क्यों न समझा जाय, जिसकी

७१ किन्तु, यह कल्पना नही करनी चाहिए, जैसे कुछ लोगो ने, जिन्होने मेरी विचारधारा को गलत समझा है, की है कि प्रत्येक आत्मा अपने अधिकृत पदार्थ की एक मात्रा[1] या अश है, जो सदा के लिए केवल उसी के साथ जुडा है, और निसर्गत , उसके अधीन अन्य इतर प्राणी हे, जो उसकी सेवा के लिए सदैव तत्पर हे । क्योकि सभी पिण्ड नदियों[2] की भाँति निरन्तर प्रवाहित हे और भाग उनमें निरन्तर प्रविष्ट होते और उनसे वाहर निकलते रहते हे ।

आत्मा ईश्वर है, जो चिद्‌विन्दुओ का चिद्‌विन्दु है ? देखिए, पोप मनुष्य पर निवन्ध, पत्र १ २६७ . 'सभी एक महदाकार समष्टि के भाग हे, जिसका शरीर प्रकृति और आत्मा ईश्वर है ।' पर, लाइबनित्स यह मानता है कि ईश्वर अशरीर है । चिद्‌विन्दु-विद्या, § ७२ देखें । यहां एक मौलिक कठिनाई है । लाइबनित्स बार-बार 'जगदात्मा' के मत को अस्वीकार करता है, यदि उसका अर्थ किसी भी प्रकार जीवात्माओं की स्वतन्त्रता का बाधक समझा जाय । 'यद्यपि आत्मा के अधिकृत ऐसे भागों से निर्मित शरीर हो सकता है जिनमें से प्रत्येक की अपनी आत्मा हो, फिर भी, भागों की आत्माओ या आकारो से समष्टि की आत्मा या आकार का निर्माण नहीं होता ।' आर्नौल्ड को पत्र (१६८७), ग० २ १०० ।

१ सम्भवत 'प्रथम पदार्थ' ('मैटीरिया प्राइमा') और 'द्वितीय पदार्थ' ('मैटीरिया सेकन्डा') में अर्थभेद न कर पाने से यह भूल उत्पन्न हुई हैं । प्रथम पदार्थ प्रत्येक रचित चिद्‌विन्दु का निष्क्रिय तत्त्व है जो सक्रिय या आत्म-तत्त्व से पृथक् नहीं किया जा सकता । द्वितीय पदार्थ किसी यौगिक द्रव्य का परिवर्तनशील पिण्ड है, जो पूर्णत सत्य नहीं, प्रातिभासिक है, यद्यपि वह सत्ता पर आधारित है ।

२ पिण्डों का नदियों की भांति निरन्तर प्रवाहित होने का विचार उतना प्राचीन है जितना यूनानी दार्शनिक हेराक्लितस का दर्शन । प्लेटो के अनुसार, उसने 'वस्तुओं की नदी के प्रवाह से तुलना की थी ।' देखिए, क्रेताइलस, ४०२ ए । अरस्तू अपनी आध्यात्मिकी (ए ६, ६८७ ए ३२) में प्लेटो पर क्रेताइलस और

७२ इस प्रकार आत्मा अपना शरीर क्रमश, थोडा-थोडा कर बदलती है, जिससे वह अपने सभी अगो से एक साथ कभी मुक्त नही हो पाती, और जन्तुओ मे प्राय रूपान्तर होता है, किन्तु आत्मान्तरण या आत्माओ का पुनर्जन्म[1] कभी नही होता, न कही (शरीर से)

हेराक्लितस के प्रभावो का उल्लेख करते हुए है कि उनके अनुसार 'सभी इन्द्रियबोधगम्य वस्तुएँ सदैव प्रवाह की अवस्था में रहती है और उनके विषय में कोई ज्ञान नहीं होता।' जॉन बर्नेट ने 'प्रारम्भिक यूनानी दर्शन' (खण्ड ४१, ४२; पृष्ठ १३६) में, हेराक्लितस का कथन इस प्रकार उद्धृत किया है 'तुम उन्हीं नदियों में दो बार पर नहीं रख सकते, क्योंकि ताजा पानी सदैव तुम्हारे ऊपर से बहता रहता है।'

१ यद्यपि आत्मा और शरीर एक दूसरे से बिलकुल पृथक् है, उनका सयोग निकटतम सम्भव प्रकार का है। एक में जो परिवर्तन होते है उनके सवादी परिवर्तन दूसरे में भी होते है। पर, चूँकि आत्मा के प्रत्यक्ष शरीर के प्रत्यक्षो से अधिक स्पष्ट होते है, आत्मा के परिवर्तन शरीर के परिवर्तनो के कारक अथवा व्याख्या करने वाले होते है। आत्माओं का देहान्तरण इसके साथ सगत नहीं है, क्योकि उसका अर्थ यह होगा कि शरीर ज्यों का त्यो रहे और आत्मा में परिवर्तन हो। लाइबनित्स के मत में किसी एकात्मक द्रव्य के तादात्म्य का अर्थ 'उसी आत्मा का सुरक्षित रहना है।' नव्य लेख, पु० २, अ० २७, ६ देखिए। वह लॉक के विरुद्ध यह युक्ति प्रस्तुत करता है कि काल और देश द्वारा तादात्म्य स्थिर नहीं होता और यह कि वनस्पतियो, जन्तुओ और मनुष्यों का तादात्म्य उनके शरीरों की स्थिरता पर निर्भर नहीं है। इस प्रकार, लाइबनित्स के अनुसार, प्रत्येक आत्मा या चेतन सत्ता में, चाहे वह चेतन हो अथवा अचेतन 'वास्तविक भौतिक '(अर्थात्, निर्गत तादात्म्य नहीं, बल्कि वह तादात्म्य जो उसके में सम्मिलित (फॉय-सिस, है) और इस गुण के कारण वह अविनश्वर है। आत्म-चेतन आत्मा में, इससे भी अधिक, एक 'व्यक्तिगत' या 'प्ररूपीय' (मॉरल्) तादात्म्य है, जिसके कारण वह अमर है। इस प्ररूपीय तादात्म्य को सुरक्षित रखने के लिए चेतनता या स्मृति

विलकुल पृथक् आत्माएँ है, न अशरीर भूत (जेनीज़ सैस् कार्प्‌स्)। केवल ईश्वर पूर्णत अशरीर है।'

(देव०-१०, १२४)

वनी रहना आवश्यक नहीं है। 'यदि मैं अपना सम्पूर्ण अतीत भूल जाऊँ और मुझे अपना नाम और लिखना-पढ़ना फिर से सीखना पडे, तो भी मैं दूसरो से अपने अतीत जीवन के सम्वन्ध में जान सकता हूँ, ठीक उसी प्रकार मेरे अधिकार स्थिर रहने पर यह आवश्यक नहीं कि मुझे दो व्यक्तियों में बाँट कर अपने आपका उत्तराधिकारी वनाया जाय। प्ररूपीय तादात्म्य की स्थापना के लिए जो तदात्मक व्यक्ति का निर्माण करता है इससे अधिक कुछ नहीं चाहिए।' वही, ६६। 'किसी अपदार्थ सत्ता या मन के विगत अस्तित्व के सभी प्रत्यक्षों का अपहरण नहीं किया जा सकता। उसके प्रति पहले जो कुछ घटित हो चुका है उस सवके सस्कारों को वह सुरक्षित रखता है। किन्तु, ये भावनाएँ प्राय इतनी लघु होती हैं कि उन्हें पहचाना या चेतन रूप में देखा नहीं जा सकता, यद्यपि उनका किसी दिन विकसित हो जाना सम्भव है। प्रत्यक्षो की यह निरन्तरता और यह ससर्ग प्राणी को वही व्यक्ति वनाये रखता है, किन्तु अन्तर्वोध—या यह कहें, जव किसी को व्यतीत भावो की चेतना रहती है—प्ररूपीय तादात्म्य को भी सिद्ध करते हैं तथा वास्तविक तादात्म्य को आभासिक वना देते हैं। नव्य लेख, परिचय, पृष्ठ ३७३ से तुलना करें।

१ शरीर रहित आत्मा (द्वितीय पदार्थ के अर्थ में) दूसरे चिद्‌विन्दुओं से सम्वन्ध रहित आत्मा होगी। यौगिक द्रव्य। (अर्थात् आत्मा और शरीर) अन्तत अधीनस्थ चिद्‌विन्दुओं से सम्वद्ध प्रभु चिद्‌विन्दु है। 'मुक्त जीव या पदार्थ से मुक्त किये हुए जीव वस्तुओं के वैश्व ससर्गों से भी वियुक्त हो जायेंगे, मानो वे सामान्य व्यवस्था से भाग निकले हों।' 'जीवन-सम्वन्धी नियमों पर विचार' (१७०५)। फिर, शरीर रहित आत्मा (प्रथम पदार्थ के अर्थ में) वह चिद्‌विन्दु होगा जिसमें निि न होगी, अथवा जिसके प्रत्यक्ष गुफित न होंगे, अर्थात् वह शुद्ध कर्त्ता या ईश्वर होगा। किर्कमैन ('लाइवनित्स की कृतियों की व्याख्या'

७३ इससे यह भी प्राप्त होता है कि सम्यक् अर्थ में कभी नित्य जन्म ('जेनरेशन') नही होता, न पूर्ण मृत्यु ही (होती है) जिसमें शरीर से आत्मा का वियोग होता हो। हम जिन्हे जन्म कहते हैं, वे विकास या वृद्धि हैं, जब कि जिन्हे हम मरण कहते हैं, वे आवरण या ह्रास हैं।

७४ दार्शनिक लोग आकारो,[१] चेतनाओ या आत्माओ के उद्गम

में) लाइबनित्स के वक्तव्य को 'मात्र कथन जो उसके नियमो से प्राप्त नहीं होता' कह कर खण्डित कर देता है। इस कठिनाई का उल्लेख १११ वीं टिप्पणी में हो चुका है।

१ आकार जीवन या जीवधारियो में व्याप्त जीवनीय तत्त्व है। आरनौल्ड को पत्र (१६८७) से तुलना करें 'मैं आकारो या आत्माओ के प्रश्न पर आता हूँ, जिन्हें मैं अविभाज्य या अविनश्वर मानता हूँ। पार्मेनाइदिस (जिसका प्लेटो श्रद्धापूर्वक उल्लेख करता है) और मेलिस्सस ने माना था कि आभास के अतिरिक्त न जन्म होता है, न मरण अरस्तू इसका उल्लेख करता है (द कौलो पु० ३, अ० २ और द दियता, पु० १ जो हिप्पोक्रेतिस की बतायी जाती है) का रचयिता स्पष्ट करता है कि निरपेक्षत न किसी जन्तु को उत्पन्न किया जा सकता है, न सम्पूर्ण रूप में नष्ट किया जा सकता है। एलबर्टस् मैगनस् और जॉन बेकन यह विचार करते हुए प्रतीत होते हैं कि द्रव्य-सम्बन्धी आकार समय के प्रारम्भ से ही पदार्थ में छिपे हुए थे। फर्नेल् उन्हें स्वर्ग से उतारता है, दूसरो की कौन कहे, जो उन्हें जगत् की आत्मा से निकाला हुआ मानते हैं। इन सब ने सत्य का एक अश देखा है, किन्तु उसे विकसित नहीं किया। बहुतो ने देहान्तरण में विश्वास किया है, दूसरों ने 'आत्मा के पतन में' (अर्थात् सन्तति की आत्मा पिता की आत्मा से उत्पन्न है) 'यह न मान कर कि देहान्तरण या रूपान्तर पूर्व निर्मित जन्तु का होता है। दूसरो ने, जो किसी अन्य प्रकार से आकारों की उत्पत्ति न समझा सके, यह माना कि उनका प्रारम्भ वास्तविक सृष्टि में होता है, किन्तु मैं जहाँ यह स्वीकार करता हूँ

के विषय मे वहुत परेशान रहे है, किन्तु आजकल वनस्पतियो, कीट-पतगो और जन्तुओ के सतर्क अध्ययनो से ज्ञात हुआ है कि प्रकृति से उत्पन्न आगिक शरीर किसी विप्लव या पूयन के उत्पाद नही है, वल्कि सदैव बीज से निकलते है, जिसमे निस्सन्देह कोई पूर्वाधान[1] हो चुका था, और यह माना जाता है कि गर्भाधान से पहले न केवल आगिक शरीर विद्यमान था, वल्कि उस शरीर में एक आत्मा भी थी, और सक्षेपत , स्वय जन्तु था, और यह कि गर्भाधान द्वारा यह जन्तु केवल उस महान् परिवर्तन के लिए तैयार किया गया है, जो उसके किसी अन्य प्रकार के जन्तु वनने मे निहित था। जन्म से पृथक्, सचमुच इसी प्रकार का कुछ तव देखा जाता है जव कीट मक्खियाँ और झाँझा तितली वन जाते है।

(देव०—८६, ८९। भूमिका। ९०, १८७, १८८, ४०३, ८६, ३९७)

कि समय में यह सृष्टि केवल बौद्धिक आत्मा की होती है और यह भी मानता है कि उन सभी आकारो की सृष्टि जो विचार नहीं करते जगत् के साथ ही हुई थी, वे मानते है कि यह सृष्टि प्रतिदिन छोटे-से-छोटे कीट की उत्पत्ति में भी होती रहती है।' नव सस्थान, टिप्पणी ४३ और ४४ से तुलना करें।

१ 'जीवित और आगिक बीज उतना पुराना है जितना जगत्'। रानी सोफिया शारलॉट को पत्र (ग० ६ ५१७)। लाइबनित्स के समय से थोडा ही पहले, प्रत्येक वनस्पति, जन्तु, अथवा मनुष्य में जीवन की उत्पत्ति की व्याख्या, पतन-सिद्धान्त, अथवा अपसारण-सिद्धान्त से की जाती थी। पतन-सिद्धान्त के अनुसार, सन्तति का 'आकार' पैतृक 'आकार' या 'आकारों' से बनता है, जैसे सन्तति का शरीर पैतृक शरीर या शरीरो से बनता है। अपसारण-सिद्धान्त के अनुसार, जीवन की उत्पत्ति निर्जीव पदार्थ, 'विप्लव या पूयन' से होती है। इस प्रकार, अपसारण सिद्धान्त वर्तमान 'सहज जन्म' सिद्धान्त के समरूप है। पूर्वाधान-सिद्धान्त के अनुसार, जिसे लाइबनित्स ने अपनाया था, बीजाणु में सम्पूर्ण

७५ जन्तुओ में से कुछ जो गर्भाधान द्वारा वडे जन्तुओ के स्तर तक पहुँचा दिये जाते है, धातुकीय कहे जा सकते है, किन्तु इनमे से वे जो इस प्रकार उन्नत नही किये जाते वल्कि अपनी जाति में ही रह जाते है (अर्थात् अधिकाश) वडे जन्तुओ की ही भाँति पैदा होते है, सख्या-वृद्धि करते है और नष्ट[1] हो जाते है, और वे जो इससे भी वडी रगशाला में प्रवेश करते है कुछ चुने हुए (एलस्) ही होते है ।

पौधा या जन्तु, बिन्दु प्रति बिन्दु, लघु रूप में समाहित होता है, और उसी प्रकार, पौधे या जन्तु का 'आकार' शुक्राणु में सिमटा हुआ या 'आवृत' अवस्था में रहता है, और उसका अस्तित्व समय के प्रारम्भ से रहा है । हम यह देख चुके हैं (§ ६५) कि वस्तुओ की लघुता की कोई सीमा नहीं होती, इसलिए एक शुक्राणु में भी दूसरे असख्य जीव रह सकते हैं । यह पूर्वाधान का सिद्धान्त, जो माल्पिगी और लेव्-वेनहेक के अणुवीक्षणिक अनुसन्धानों पर आधारित था, अब और गहन निरीक्षणों के परिणामस्वरूप पूरी तरह त्याग दिया गया है । सैन्डमैन जीवविज्ञान की समस्याएँ, पृष्ठ ६२ से तुलना करें । पतन-सिद्धान्त के सामान्य रूप का तिरस्कार करते हुए भी लाइबनित्स ने अपने मत की उक्त सिद्धान्त से समरूपता स्वीकार की है 'एक प्रकार का पतन-सिद्धान्त जो सामान्यत उपदिष्ट पतन-सिद्धान्त से अधिक सन्तोषप्रद है ।' देवविद्या, § ३६७ ।

१ लाइबनित्स के अनुसार, वे पूर्ण रूप से नष्ट नहीं होते, उनका नाश आभासिक ही होता है । यह कथन उस रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसमें लाइ-बनित्स के समय के वैज्ञानिक निरीक्षक उसे प्रस्तुत करते, और इसके साथ उन उपाधियो का उल्लेख आवश्यक है जिन्हें § ७६ में व्यक्त किया जा चुका है । लाइबनित्स का विचार-बिन्दु यह है कि जिस प्रकार वडे शरीरधारियों का दृश्य जगत् है, उसी प्रकार शुक्र-कीटों का एक अणुवीक्षणिक जगत् है, जिनमें, लघु रूप होते हुए भी, वे सभी परिवतन होते हैं जो वडे जन्तुओं के दृश्य जगत् में होते दृश्य जगत् के वडे अगी (जीवधारी) शुक्रीय जगत् के कुछ चुने हुए सदस्य है, जो 'गर्भाधान द्वारा' अणुवीक्षणिक लघुता से दृश्यता तक वृद्धि कर सके हैं ।

७६ किन्तु, यह अधूरा[1] सत्य है, और इसीलिए मै यह मानता हूँ कि यदि कोई जन्तु प्राकृतिक साधनो द्वारा अस्तित्व में नही आता, तो प्राकृतिक साधनो द्वारा उसका अन्त भी नही होता है, और यह कि न केवल जन्म ही नही होगा, वल्कि सम्यक् अर्थ में पूर्ण नाश या मृत्यु भी नही होगी। और इन उत्तरानुभवीय रूप से प्रस्तुत की हुई तथा

१ वैज्ञानिक निरीक्षको ने आधे सत्य का ही कथन किया है, किन्तु लाइवनित्स के विचार से शेप आधे की स्वीकृति में उन्हें कोई आपत्ति न होती। वह कहता है: 'मेरे विचार से यदि यह सम्मति उन्हें सूझ जाती तो वे इसे न पाते, और इस मान्यता से अधिक स्वाभाविक कुछ नहीं कि जिसका आरम्भ नहीं होता उसका नाश भी नहीं होता।' आरनोल्ड को पत्र (१६८७) एक अन्य सन्दर्भ में, लाइवनित्स प्लेटो के मत का उल्लेख इस प्रकार करता है 'कि बुद्धिमत्ता से ज्ञात वस्तु ता ओन्तास ओन्ता, सरल द्रव्य है, जिन्हें मै (लाइबनित्स) चिद्‌विन्दु कहता हूँ, और जो एक बार अस्तित्व पाकर सदैव रहती हैं, प्रोता देक्‌तिका तिस ओईस, अर्थात् ईश्वर और आत्माएँ, और उनमें से मुख्य मन और आराध्य की प्रतिमाएँ है, जिन्हें ईश्वर ने उत्पन्न किया है।' हेशियम को पत्र (१७०७) ए० ४४५ वी यह अन्तिम अवतरण प्लेटो के 'विचारो' के विषय में भ्रम उत्पन्न करता है क्योकि प्लेटो के 'विचार' वैश्व हैं, चिद्‌विन्दु नहीं। देमोक्रितस अपने अणुओ को 'तो ओन' कहता है।

२ 'जन्तु में वह सदैव होता रहता है जो उसमें वर्तमान क्षण में हो रहा है, वह यह है कि उसका शरीर, एक नदी की भाँति, निरन्तर परिवर्तनशील रहता है, और जिसे हम जन्म या मृत्यु कहते है वह साधारण से वडा और द्रुत परिवर्तन है, जैसा किसी नदी की उछाल या प्रपात में होगा। किन्तु ये उछालें निरपेक्ष और वैसी नहीं हैं जैसी मानने से मैंने इन्कार कर दिया है, अर्थात् जैसी उस शरीर की होंगी जो बीच के स्थानों से बिना गुजरे हुए एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचता है।' रेमॉन्ड को पत्र (१७१५), ए० ७२४ ए ग० ३ ६३५।

अनुभव से प्राप्त की हुई युक्तियो का मेरे प्रागनुभवीय रूप में अनुवर्तित नियमो से, जिन्हें ऊपर[1] दिया जा चुका है, पूर्ण सामजस्य है।

(देव०–९०)

७७ इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि न केवल आत्मा (अविनाशी विश्व का दर्पण) अविनाशी है, वल्कि स्वय जन्तु[2] भी, यद्यपि उसकी यन्त्र-रचना (मशीन) प्राय आशिक रूप से नष्ट हो जा सकती है, वह अपना शारीरिक आवरण उतार सकता है, पहन सकता है (दे देपूज् ऑर्‌गैनिक्‌स्)[3]।

७८ इन नियमो ने मुझे आत्मा और आगिक शरीर के सयोग, वल्कि उनके पारस्परिक सामजस्य ('कॉन्फार्मित') की व्याख्या करने की प्राकृतिक[4] विधि प्रदान की है। आत्मा अपने नियमोका पालन करती है और उसी प्रकार शरीर अपने नियमो का पालन करता

१ चिद्‌विन्दु विद्या §§ ३, ४ और ५। प्रागनुभवीय और उत्तरानुभवीय निष्कर्षों की एकता दिखाने का प्रयत्न लाइबनित्स की अपनी विशेषता है। इससे उसका भौतिक और पारभौतिक में, अथवा यान्त्रिक और गतिक या अन्तिक में सगति का विश्वास उदाहृत होता है।

२ क्योंकि आत्मा के अधीन सदैव किसी-न-किसी प्रकार का शरीर होता है, जो स्वय भी अविनाशी चिद्‌बिन्दुओं से निर्मित है। जन्तु, तथापि, अमर नहीं है। अमरत्व बुद्धिमान् आत्माओं, अथवा आत्म-चेतन चिद्‌बिन्दुओ में ही पाया जाता है।

३ 'जैसे सॉंप अपनी केंचुल उतार देता है।' राजकुमारी सोफिया को पत्र (१६६६), ग० ७ ५४४।

४ अर्थात्, अवसरवादी सिद्धान्त के विपरीत जिसमें लाइबनित्स के अन्तहीन चमत्कारों का विचार निहित है। अवसरवादी सिद्धान्त देकार्त के अनुयायियों ने आत्मा और शरीर के सामजस्य की व्याख्या के निमित्त अपनाया था। इसमें उक्त सामजस्य उत्पन्न करने के लिए प्रतिक्षण दैवी हस्तक्षेप की आवश्यकता स्वीकृत है।

है, और वे एक दूसरे के साथ, सभी द्रव्यो के बीच पूर्व-नियोजित सगति के कारण, सामजसित होते है, चूंकि वे सव एक और उसी विश्व के प्रतिरूपण है ।[१]

(देव०–३४०, ३५२, ३५३, ३५८)

७९ आत्माएँ अन्तिम कारणो के नियमो के अनुसार, रोचनो, साध्यो और साधनो के माध्यम से, कार्य करती है । शरीर निमित्त कारणो के नियमो या गतियो के अनुसार कार्य करते है । और दोनो क्षेत्र, निमित्त कारणो के और अन्तिम कारणो के, एक दूसरे से सगति[२] रखते है ।

१. अर्थ यह है कि और शरीर के सम्बन्ध की समस्या सरल द्रव्यो अथवा चिद्‌विन्दुओ में एक-दूसरे के बीच सम्वन्ध की व्यापक समस्या का एक विशिष्ट रूप है ।

२ उनमें पारस्परिक सगति, अथवा सामजस्य इसलिए है कि अन्तत वे एक-दूसरे में घटाये जा सकते हैं । जव यह कहा जाता है कि 'आत्माएँ क्रिया करती हैं', तो अर्थ यह होता है कि वे एक प्रत्यक्ष से दूसरे प्रत्यक्ष पर आ जाती हैं, अर्थात् उनमें रोचन होता है । जव यह कहा जाता है कि 'शरीर क्रिया करते हैं', तो अर्थ यह होता है कि वे अपनी अवस्था या दूसरे शरीरो से सम्वन्ध वदलते हैं, अर्थात् उनमें गति होती है । हम जिसे किसी पिण्ड की 'अवस्था' तथा 'दूसरे पिण्डों से सम्वन्ध' कहते हैं, उसे सही अथ में पिण्ड के गठन में सम्मिलित चिद्‌विन्दुओं का (अचेतन) प्रत्यक्ष कहा जाना चाहिए । और उसी प्रकार, पिण्ड की गति वस्तुत उसके गठन में सम्मिलित चिद्‌विन्दुओं का (अचेतन) रोचन है । इस प्रकार, निमित्त और अन्तिम कारणो में, अचेतन और चेतन की भांति, केवल श्रेणी का अन्तर है । प्रकृति और महिमा के नियम, § ११ से तुलना करें । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से लाइवनित्स आत्मा और शरीर की समानान्तरता का विवरण इस प्रकार देता है 'मैंने इस विषय में सतर्क छानवीन की है और मैंने प्रदर्शित किया है कि

८० देकार्त ने स्वीकार किया था कि आत्माएँ शरीरो पर कोई वल नही डाल सकती, क्योकि पदार्थ मे सदैव वल की वही मात्रा रहती है। साथ ही, उसका मत था कि आत्मा शरीरो की दिशा मे परिवर्तन कर सकती है। किन्तु, इसका कारण यह है कि उसके समय तक यह नही मालूम था कि प्रकृति का एक ऐसा भी नियम है जो पदार्थ की एक ही पूर्ण दिशा के रक्षण की पुष्टि करता है।[1] देकार्त ने यदि इसकी

वस्तुत आत्मा में विचार के कुछ अवयव या बोध की वस्तुएँ होती हैं, जिन्हें वाह्य इन्द्रियाँ नहीं प्रदान करती हैं, नामत, स्वय आत्मा और उसके व्यापार किन्तु, मैं यह पाता हूँ कि कोई ऐसा अमूर्त विचार नहीं जिसके साथ कोई पदार्थ-सम्वन्धी प्रतिमा या चिह्न न रहता हो, और मैंने जो आत्मा में होता है और जो पदार्थ में होता है के बीच पूर्ण समानान्तरता निकाल ली है, यह दिखाकर कि अपने व्यापारों सहित आत्मा पदार्थ से पृथक् कुछ है, फिर भी वह सदैव पदार्थ-सम्बन्धी अगो के साथ पायी जाती है, और यह भी कि आत्मा के व्यापार सदा उसके अगों के व्यापारो का साथ देते हैं, जो उनके सवादी होते हैं, और यह पारस्परिक है और सदा रहेगा।' 'एक विशिष्ट सार्वभौमिक आत्मा के मत पर विचार' (१७०२), ए० १८०, ग० ६० ५३२।

१ देकार्त का विश्वास था कि उसने प्रकृति का एक ऐसा नियम खोज लिया था, जिसके अनुसार पिण्डो में गति की वही मात्रा सुरक्षित रहती है। वह यह सम्भव नहीं मानता था कि आत्मा के प्रभाव से पिण्डो का यह नियम टूट सकता है, किन्तु उसने सोचा था कि आत्मा में पिण्डो में होने वाली गति की दिशा वदलने की शक्ति हो सकती है, कुछ उसी तरह से जैसे घुडसवार जिस घोडे पर चढता है उसे यद्यपि कोई शक्ति नहीं दे सकता, फिर भी वह जिस दिशा में उचित है उसकी शक्ति को मोड कर उसका पथप्रदर्शन करता है। चूँकि यह लगाम, पैना और एड आदि भौतिक उपकरणो द्वारा किया जाता है, हम देखते हैं कि यह किस प्रकार कार्यान्वित होता है, किन्तु ऐसे कोई साधन नहीं हैं जिन्हें आत्मा काम में ला सके—

ओर ध्यान दिया होता तो वह मेरे पूर्व-नियोजित सगति[1] के सिद्धान्त पर आ जाता।

(देव०–२२, ५९, ६०, ६१, ६३, ६६, ३४५, ३४६, अनु०, ३५४, ३५५)

८१. इस सिद्धान्त के अनुसार, शरीर इस प्रकार कार्य करते हैं मानो (असम्भव की कल्पना करते हुए) आत्माएँ न हो, और आत्माएँ इस प्रकार कार्य करती हैं मानो शरीर न हो, और दोनो इस प्रकार कार्य करते हैं, मानो एक दूसरे को प्रभावित करते हो।[2]

या शरीर में ऐसा कुछ नहीं है, अथवा यह कहें कि विचार या पदार्थ में, जो एक में दूसरे के द्वारा किये हुए परिवर्तन की व्याख्या के काम आ सके। देवविद्या, § ६०।

१ अभिप्राय यह है कि देकार्त को पता लग जाता कि आत्मा या शरीर में एक दूसरे को प्रभावित करने की शक्ति नहीं है, इसलिए उन्हें एक दूसरे की सगति में व्यापार करता हुआ जाना चाहिए।

२. 'सीजर की आत्मा में जो कुछ भी महत्त्वाकाक्षा अथवा किसी दूसरी द्वारा घटित होता है, वह उसके शरीर द्वारा भी अभिव्यक्त होता है, और इन वासनाओ की सभी गतियाँ वस्तुओ की छापों और आन्तरिक गतियों के मेल से उत्पन्न होती हैं। और शरीर इस प्रकार गठित है कि आत्मा शरीर की गतियों की अनुकूलता के विना कोई सकल्प नहीं करती। यह अत्यधिक अमूर्त युक्तियों तक में सही उतरता है, उन लक्षणो के कारण जो उन्हें कल्पना के सामने प्रस्तुत करते हैं। एक शब्द में, सभी कुछ शरीरों में ही घटित होता है, जहाँ तक उनकी विशिष्ट घटना-परम्पराओं ('सीरीज') का प्रश्न है, मानो उन लोगों के दूषित मत सत्य हैं, जो एपीक्योरस और हाब्स की भाँति विश्वास करते हैं कि आत्मा पदार्थ-मय है; अथवा मानो मनुष्य केवल शरीर या स्वचालित यन्त्र है। जिन लोगों ने कार्तीय मतावलम्बियों को यह ि है, कि उनको निम्नस्तरीय जन्तुओं को स्वचालित यन्त्र सिद्ध करने की विधि उस व्यक्ति को उचित ठहराने के

८२ जहाँ तक मन (एस्प्रित्स्) या बौद्धिक आत्माओ का प्रश्न है, यद्यपि मै पाता हूँ कि अभी मै जो कह रहा था वह सभी जीवित प्राणियो तथा जन्तुओ के विषय में (नाम से, यह कि जन्तुओ और आत्माओं की उत्पत्ति तभी होती है जब ससार का प्रारम्भ होता है और उनका अन्त उससे अधिक नही होता जितना ससार का होता है) सत्य है, फिर भी बौद्धिक जन्तुओ मे यह विशेपता है कि उनके शुक्रीय जीवाणुओ में, जब तक वे केवल शुक्रीय रहते है, मात्र साधारण या ऐन्द्रिक (सवेदन-शील) आत्माएँ होती हैं, किन्तु, जो चुन लिये जाते

है जो अपने को छोडकर शेष सभी मनुष्यो को स्वचालित यन्त्र कहता है, (उन्होंने) ठीक वही कहा है जिसकी मुझे अपनी शरीर-सम्वन्धी आधी परिकल्पना के पक्ष में आवश्यकता है। किन्तु, उन नियमों को छोड कर भी जो यह निश्चय करते हैं कि चिद्‌विन्दु है और यौगिक द्रव्य केवल उनके परिणाम हैं, एपीक्योरस का मत आन्तरिक अनुभव से, हमारी आत्मतत्त्व ('एगो') की चेतना से जो शरीर में घटित होने वाली घटनाओं का चेतन रूप में प्रत्यक्ष करती है, खण्डित हो जाता है; और चूकि प्रत्यक्षीकरण की व्याख्या चिन्हों और गतियों द्वारा नहीं की जा सकती, मेरी परिकल्पना का दूसरा आधा अश स्थापित हो जाता है, और हमें यह स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पडता है कि हमारे भीतर एक अविभाज्य द्रव्य है, जिसका अपनी घटनाओं का स्रोत स्वय ही होना आवश्यक है। फलत, मेरी परिकल्पना के इस दूसरे आधे भाग के अनुसार, आत्मा में सब कुछ इस प्रकार घटित होता है मानों शरीर होता ही नहीं, ठीक वैसे ही जैसे मेरी परिकल्पना के पहले आधे भाग के अनुसार, शरीर में सब कुछ इस प्रकार घटित होता है मानों आत्मा होती ही नहीं एपीक्योरस और प्लेटो की परिकल्पनाओं में, अर्थात् बडे से वडे पदार्थवादियों और वडे-से-वडे प्रत्ययवादियों की परिकल्पनाओ में, जो काम का था उसे यहाँ सम्मिलित कर दिया गया है।' बेली के विचारो का उत्तर (१७०२) ऐ० १८५, गा० ४ ५५६।

है (एलस्) वे, जैसा कहा जा सकता है, जब वास्तविक गर्भाधान द्वारा मानवीय प्रकृति प्राप्त कर लेते है, तो उनकी ऐन्द्रिक आत्माएँ बुद्धि के स्तर तक उठ[1] जाती है और उन्हें मन के अधिकार मिल जाते है।

(देव०–९१, ३९७)

८३ साधारण आत्माओ और मनो के बीच पाये जाने वाले अन्तरो में से कुछ जिनका उल्लेख[2] मैं पहले ही कर चुका हूँ, एक यह भी है

१ लाइबनित्स कहता है कि ऐन्द्रिक आत्मा की इस बुद्धि के स्तर तक उन्नति, 'का श्रेय ईश्वर के विलक्षण व्यापार को दिया जाना चाहिए।' किन्तु वह 'मनुष्य तथा दूसरे जन्तुओ की उत्पत्ति में चमत्कार के मत का तिरस्कार करना अधिक ठीक समझता है।' और कहता है कि 'आत्माओं और जन्तुओं की जो बीज में हैं (या कमसेकम जीवित आंगिक पिण्डो की) बहुत बडी सख्या में से केवल वे आत्माएँ, जो किसी दिन मानवीय स्वभाव प्राप्त करने के लिए नियत हैं, बीज रूप में बुद्धि लिए हुए रहती है जो किसी दिन उनमें उदित होगी। दूसरे लघु जन्तु या शुक्रीय जीवधारी, जिसमें इस तरह का कुछ पूर्वस्थापित नहीं है, उनसे सारत भिन्न हैं और उनमें जो निम्नतर है वही रहता है।' देवविद्या, § ३९७ (ऐ० ६१८ ए, ग० ६ ३५२)। लाइबनित्स ने बौद्धिक तथा अव-बौद्धिक आत्माओ के सम्बन्ध पर बहुत असन्तोषप्रद विचार व्यक्त किया है। लाइबनित्स के प्रमुख सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए आत्माओं के इन दो वर्गों के बीच कोई विभाजन रेखा खींच पाना असम्भव है। फिर भी, बौद्धिक और मात्र ऐन्द्रिक के बीच कोई पूर्ण पार्थक्य न मानते हुए भी, लाइबनित्स इस अन्तर को कम करने में झिझकता है, क्योकि इस प्रकार वह मनुष्य की ` और के अमरत्व को खतरे में नहीं डालना चाहता। आरनौल्ड के लिए एक पत्र की रूपरेखा तैयार करते हुए (१६८६) वह इस प्रश्न के विषय में कहता है कि यह 'एक मुख्य विन्दु है जिस पर मुझे पर्याप्त प्रकाश नहीं प्राप्त हुआ है।'

२ चिद्‌बिन्दु विद्या §§ १९–३०

कि आत्माएँ सामान्यत रचित वस्तुओ के ससार के जीवित दर्पण या प्रतिविम्व है, किन्तु मन भी देव अर्थात् स्वय प्रकृति के निर्माता के प्रतिविम्व है,जिनमें ससार की व्यवस्था को जान सकने[1] और किसी हद तक शिल्पीय निदर्शनो[2] द्वारा अनुकरण करने की सामर्थ्य है, क्योकि प्रत्येक मन अपने निजी क्षेत्र मे एक लघु देव है।

(देव०-१४७)

८४ यही कारण है जो आत्माओ (या मनो—एस्प्रित्स्) को ईश्वर के साथ एक प्रकार का मैत्री-भाव स्थापित करने की सामर्थ्य देता है और ऐसा होने देता है कि वह (ईश्वर) उनके लिए वही नही है जो एक आविष्कर्ता अपने यन्त्र के लिए होता है (जो सम्वन्ध ईश्वर का अन्य रचित वस्तुओ से है), वल्कि वह भी है जो एक राजा अपनी प्रजा के लिए, और वस्तुत, एक पिता अपनी सन्तान के लिए होता है।[3]

१ 'प्रवुद्ध द्रव्यों और उन द्रव्यो के बीच जो इस प्रकार के नहीं है उतना ही वडा अन्तर है जितना दर्पण और उसमें देखने वाले के बीच होता है।' शीर्षक रहित निवन्ध (१६८६), ग० ४ ४६०।

२ अर्थात्, गौण अथवा अनुकरणात्मक रचनाएँ। मनुष्य न केवल विश्व यन्त्र को अभिव्यक्त कर सकता है, बल्कि उन्हीं सिद्धान्तो के अनुसार अपने लिए लघु यन्त्रों का निर्माण भी कर सकता है। चिद्विन्दु विद्या, § ६४ तथा प्रकृति और महिमा के नियम, § १४ से तुलना करें।

३ 'मानवीय आत्मा के विषय में मेरा कुछ भी कहने का साहस नहीं होता, न उसकी उत्पत्ति के विषय में और न मृत्यु के बाद उसकी दशा के विषय में, क्योंकि बौद्धिक अथवा प्रवुद्ध आत्माएँ, जैसी हमारी है, इस प्रकार बनायी गयी है कि ईश्वर की प्रतिमा से उनका विलक्षण सम्बन्ध है, (और) वे उन नियमों से बहुत भिन्न नियमों के अधीन है जिनसे बोधरहित आत्माओ का नियन्त्रण होता है।' वर्नौ-लियम को पत्र (१६६६), ग०, गणित, ३ ५६५। 'आत्माएँ ही उसकी प्रतिमा

८५ जिससे यह नतीजा निकालना सरल है कि सभी आत्माओ की समष्टि (ऐसेम्ब्लेज्) से अवश्य ही ईश्वर का नगर[1] वसा हुआ है, अथवा इसे, जहाँ तक सम्भव है, सर्वाधिक पूर्ण राजाओ के अधीन एक सर्वाधिक पूर्ण राज्य कहे।

(देव--१४६, सक्षेप वस्तु २)

८६ यह ईश्वर का नगर, सत्य अर्थ में विश्व राजतन्त्र, प्राकृतिक जगत् मे एक नैतिक जगत् है, और ईश्वर की रचनाओ में सवसे अधिक गौरवपूर्ण और देवत्वपूर्ण[2] है, और सचमुच इसी मे ईश्वर की महिमा

सदृश निर्मित है, और एसी है, मानों उसके वश की, घर के बच्चों की भाँति, हो, क्योकि वे ही स्वतन्त्रतापूर्वक उसकी सेवा कर सकती है और दैवी स्वभाव के अनुकरण में ज्ञानपूर्वक प्रवृत्त हो सकती है एक आत्मा अकेली ही एक पूरे जगत् के मूल्यवान् है, क्योकि न केवल वह जगत् को अभिव्यक्त करती है, बल्कि उसे ी भी है और ईश्वर के ढग का अनुकरण करते हुए जगत् में अपने आप का ि करती है।' शीर्षक रहित निबन्ध (१६८६), गा० ४.४६१।

१ सन्त आगस्ताइन के देव-नगर (सिवितस् दीई) का सकेत है, किन्तु भाव बहुत भिन्न है। सन्त आगस्ताइन का देव-नगर, लौकिक राज्य के विरुद्ध, ईसाई सघ है। लाइबनित्स ने ईश्वर के नगर को किसी लौकिक राज्य के विरोध में नहीं प्रस्तुत किया है, बल्कि वह विश्व की प्राकृतिक व्यवस्था का विरोध करने वाली नैतिक व्यवस्था है। लाइबनित्स के ईश्वर के नगर में केवल ईसाई नहीं, वरन् सभी मनुष्य सम्मिलित है।

२ तुलना कीजिए, फिक्ट् ज्ञान-सिद्धान्त का वर्णन (वर्की, २ ३५)' 'विश्व का आधार है स्वय आत्मा एक आत्माओ का राज्य और कुछ विलकुल नहीं।' वर्की, ५.१८८ 'यह किसी भी प्रकार सदिग्ध नहीं, अथवा यह सभी वातों से अधिक निश्चित है, और वस्तुत निश्चयात्मकता का आधार है, सम्पूर्ण रूप में निरपेक्षत. निर्विवाद वास्तविक सत्य, कि ससार में एक नैतिक है,

है, क्योकि उसमे (ईश्वर में) कुछ भी महिमा न होती यदि आत्माओ को उसकी महत्ता और शुभता का ज्ञान न होता और वे उस पर मुग्ध न होती ।[1] इसी दैवी नगर के सम्वन्ध से ईश्वर में विशेप शुभता[2] है, और उसकी शक्ति तथा बुद्धिमत्ता सव कही अभिव्यक्त है ।

(देव–१४६, सक्षेप, वस्तु २)

८७ चूंकि हम ऊपर दिखा चुके हैं कि प्रकृति के दो क्षेत्रो, एक निमित्त और दूसरा अन्तिम कारणो का क्षेत्र, के वीच पूर्ण सगति है,

कि प्रत्येक बौद्धिक व्यक्ति का इस वैश्व व्यवस्था में एक निश्चित स्थान है, एक स्थान जो उसके मुख्य कार्य द्वारा लक्षित होता है, कि उसके अस्तित्व की प्रत्येक घटना, जहाँ तक वह उसके व्यक्तिगत व्यापार का परिणाम नहीं है, इसी सामान्य योजना का फल है, कि इस योजना की अनुकूलता से पृथक् न उसके सिर से एक बाल गिर सकता है, न गौरइया अपने छत के घोसले से, कि प्रत्येक सच्चा शुभ कर्म सफल होता है, अशुभ कर्म असफल होता है, और यह कि सभी वस्तुएँ अनिवार्यत उनके अधिकतम शुभ में प्रवृत्त होती हैं जो केवल उचित अर्थ में शुभ से प्रेम करते हैं ।

१ तुलना करें, निकोलस ऑव् क्यूजा क्रिब्रैशिओ अल्कोरन्, १६ 'ईश्वर ने सभी वस्तुओं को अपनी महत्ता की अभिव्यक्ति के लिए रचा, किसी अज्ञात राजा में सम्मान और उपकारशीलता की कमी रहती है ।' देखिए, एक्साइटेशन्स् एक्स् सर्मोनिवस्, ६ ११२ ए 'ईश्वर ने अपनी महत्ता की समृद्धि को अभिव्यक्त करना चाहा, और इसलिए उसने बौद्धिक या मतिमान् प्राणी की रचना की, जिससे वह उसे अपने गौरव की समृद्धि दिखा सके, क्योकि यही प्राणी ईश्वर के गौरव का, बौद्धिक सराहना के साथ, प्रत्यक्ष कर सकता है, किन्तु ये समृद्धियाँ (ईश्वर के गौरव की) नित्य जीवन हैं ।' 'ईश्वर ज्ञात होना चाहता है, और इसी कारण सभी वस्तुएँ हैं ।' देखें, शिलर (मित्रता पर निवन्ध)

२ क्योंकि नैतिक विशेषताएँ और नैतिक गुण मुख्यत नैतिक व्यवस्था से सम्बन्धित हैं, अर्थात् नैतिक आत्माओ के समाज से ।

यहाँ हमे दूसरी सगति की ओर ध्यान देना चाहिए, जो प्रकृति के भौतिक क्षेत्र और महिमा[1] के नैतिक क्षेत्रो के बीच, या यह कहे कि विश्व की यान्त्रिक व्यवस्था के शिल्पी समझे जाने वाले ईश्वर तथा आत्माओ के देव-नगर के एकाधिपति समझे जाने वाले ईश्वर के बीच पायी जाती है।

(देव०–६२, ७४, ११८, २४८, ११२, १३०, २४७)

८८ इस सगति का एक फल यह है कि वस्तुएँ प्रकृति के ही मार्गो से महिमा तक पहुँच जाती है, और उदाहरण के लिए, यह कि यह भू-गोलक प्राकृतिक साधनो से ही, जब आत्माओ का शासन कुछ को दण्ड

१. प्रकृति और महिमा के क्षेत्रो के बीच सम्वन्ध का प्रश्न, किसी-न-किसी रूप में शाश्वत है। लाइवनित्स सत्रहवीं शताब्दी में इस प्रश्न पर छिडे हुए धर्मशास्त्रीय विवाद पर, समझौते की दृष्टि से अपने दर्शन के नियमों का प्रयोग करने का करता है। वह यहाँ जिस सगति की चर्चा करता है, उसे (चिद्-बिन्दुओं के बीच सगति की भांति) प्रकृति और महिमा के दो पृथक् क्षेत्रो के बीच सगति नहीं चाहिए। अन्तिम कारणो का क्षेत्र, उदाहरण के लिए, पूरी तरह प्रकृति के अन्तर्गत नहीं है. महिमा का क्षेत्र उच्चतम रूप में अन्तिम कारणों का क्षेत्र है। प्रकृति और महिमा का सम्बन्ध शरीर और आत्मा के सम्वन्ध के है। जैसे, एक समूह के रूप में लिए जाने पर, शरीर केवल प्रातिभासिक है और इसलिए , अथवा सत्य द्रव्य से, विलकुल भिन्न है, फिर भी वह आधारभूत प्रातिभासिकता है और उसकी उन चिद्विन्दुओं या आत्माओं की सत्यता है जो उसके अवयव हैं। इसी प्रकार, प्रकृति को जब हम निमित्त कारणो के नियम के अधीन समझते हैं, तो वह महिमा से विलकुल पृथक् ठहरती हैं; किन्तु प्रकृति में भी निमित्त कारण अपना अर्थ और शक्ति अन्तिम कारणों से प्राप्त करते हैं, इसलिए प्रकृति अपनी पूर्णता महिमा में प्राप्त करती है, जो अन्तिम की उच्चतम अभिव्यक्ति है। देखिए, चिद्विन्दु विद्या, §८८ और §८९ : प्रकृति और महिमा के नियम, §१५।

देने और दूसरो को पुरस्कृत करने के लिए ऐसा चाहता है, तत्काल नष्ट या पुनरुज्जीवित हो जाता है।

(देव०–१८, अनु० ११०, २४४, २४५, ३४०)

८९ यह भी कहा जा सकता है कि शिल्पी रूप में ईश्वर सभी प्रकार से विधानदाता[1] (लॉगिवर्) ईश्वर को सन्तुष्ट करता है, और इस प्रकार कि प्रकृति के विधान द्वारा, वल्कि वस्तुओ की यान्त्रिक रचना के कारण भी, पाप आवश्यक रूप मे अपने दण्डो का वहन करते है, और उसी प्रकार श्रेष्ठ कर्म ऐसी विधियो से अपने पुरस्कार प्राप्त कर लेगे जो शारीरिक पक्ष में यान्त्रिक है, यद्यपि यह सदैव न तो तुरन्त[2] हो सकता है और न ऐसा होना ही चाहिए।

९० अन्त मे, इस पूर्ण शासन के अधीन कोई शुभ कर्म अपुरस्कृत न रहेगा और न कोई अशुभ कर्म अदण्डित रहेगा, और सभी कुछ शुभ

१ अभिप्राय यह है कि जगत् ऐसी योजना के अनुसार वनाया गया है कि उसके निवासियों के नैतिक विधान के साथ वह पूर्ण रूप से सगत है।

२ लाइबनित्स के विचार से पाप का अर्थ अपूर्ण और अशिक्षित ढग से अपने निजी शुभ की करना है, बिना नैतिक नियम या व्यवस्था पर ध्यान दिये हुए, जो सब का और प्रत्येक का उच्चतम सभव शुभ प्राप्त करने का एकमात्र साधन है। इस प्रकार, पाप वैसे ही अनिवार्य रूप में दण्ड दिलाता है जैसे प्राकृतिक नियमों की उपेक्षा एव अवहेलना से रोग तथा दु ख उत्पन्न होते है। किन्तु, आत्मा और शरीर में, नैतिक जगत् और प्राकृतिक जगत् में, सगति होने के कारण, पाप का दण्ड केवल आध्यात्मिक नहीं होता उसमें शारीरिक तथा प्राकृतिक का भी भाग रहता है। उसी प्रकार, सद्गुण को पुरस्कार मिलता है, आध्यात्मिक और प्राकृतिक दोनों, क्योंकि वह सम्पूर्ण विश्व के अन्तिम नियम, सर्वोच्च शुभ के नियम के अनुसार किया हुआ कर्म है।

यहाँ हमे दूसरी सगति की ओर ध्यान देना चाहिए, जो प्रकृति के भौतिक क्षेत्र और महिमा[1] के नैतिक क्षेत्रो के बीच, या यह कहें कि विश्व की यान्त्रिक व्यवस्था के शिल्पी समझे जाने वाले ईश्वर तथा आत्माओ के देव-नगर के एकाधिपति समझे जाने वाले ईश्वर के बीच पायी जाती है।

(देव०-६२, ७४, ११८, २४८, ११२, १३०, २४७)

८८ इस सगति का एक फल यह है कि वस्तुएँ प्रकृति के ही मार्गो से महिमा तक पहुँच जाती है, और उदाहरण के लिए, यह कि यह भू-गोलक प्राकृतिक साधनो से ही, जब आत्माओ का शासन कुछ को दण्ड

१ प्रकृति और महिमा के क्षेत्रो के बीच सम्बन्ध का प्रश्न, किसी-न-किसी रूप में शाश्वत है। लाइबनित्स सत्रहवीं शताब्दी में इस प्रश्न पर छिड़े हुए ... तीय विवाद पर, समझौते की दृष्टि से अपने दर्शन के नियमो का प्रयोग करने का ... करता है। वह यहाँ जिस सगति की चर्चा करता है, उसे (चिद्‌-बिन्दुओ के बीच सगति की भाँति) प्रकृति और महिमा के दो पृथक् क्षेत्रों के बीच सगति नहीं ... चाहिए। अन्तिम कारणो का क्षेत्र, उदाहरण के लिए, पूरी तरह प्रकृति के अन्तर्गत नहीं है महिमा का क्षेत्र उच्चतम रूप में अन्तिम कारणों का क्षेत्र है। प्रकृति और महिमा का सम्बन्ध शरीर और आत्मा के सम्बन्ध के ... है। जैसे, एक समूह के रूप में लिए जाने पर, शरीर केवल प्रातिभासिक है और इसलिए आत्मा, अथवा सत्य द्रव्य से, बिलकुल भिन्न है, फिर भी वह आधारभूत प्रातिभासि... है और उसकी सत्यता उन चिद्‌बिन्दुओ या आत्माओं की सत्यता है जो उसके अवयव हे। इसी प्रकार, प्रकृति को जब हम निमित्त कारणों के नियम के अधीन समझते हे, तो वह महिमा से बिलकुल पृथक् ठहरती है, किन्तु प्रकृति में भी निमित्त कारण अपना अर्थ और शक्ति अन्तिम कारणों से प्राप्त करते हें, इसलिए प्रकृति अपनी पूर्णता महिमा में प्राप्त करती है, जो अन्तिम कारण की उच्चतम अभिव्यक्ति है। देखिए, चिद्‌बिन्दु विद्या, § ८८ और § ८९ : प्रकृति और महिमा के नियम, § १५।

कर्म करने वालो की भलाई की ओर अग्रसर होगा, या यह कहें कि उनकी भलाई की ओर जो इस विशाल साम्राज्य में अतृप्त नही है, वल्कि जो अपना कर्तव्य कर चुकने पर नियति पर भरोसा करते है, और जो शुभ सर्वस्व के स्रष्टा से, जैसा उचित है, प्रेम करते हं और उसका अनुकरण करते है, उसकी पूर्णताओ के चिन्तन में सुख का अनुभव करते हुए, जैसा सच्चे 'शुद्ध प्रेम'[1] का ढग है, वह प्रेम-पात्र की प्रसन्नता में सुख का अनुभव करता है। यही वुद्धिमान् और गुणवान् लोगो से उनकी शक्तियो को प्रत्येक ऐसी वस्तु के प्रति समर्पित कराता है, जो ईश्वर की धारणात्मक अथवा पूर्व-कल्पित इच्छा के साथ सगत प्रतीत होती है, और फिर भी ईश्वर अपनी गुप्त, सविपाकी एव सत्

१. कथन का तात्पर्य है कामना सहित या स्वार्थ प्रेरित प्रेम से भिन्न अकाम प्रेम। सत्रहवीं शताब्दी के धर्मशास्त्रियों के बीच विवाद का यह एक वहुत महत्त्व-पूर्ण विषय था कि शुद्ध रूप में निष्काम प्रेम सभव है अथवा नहीं। इस प्रसग पर वॉसुएत और फेनेलान के बीच १६६४ से १६९९ तक लघुपुस्तिकाओं* द्वारा विवाद चलता रहा। फेनेलॉन (अशात कुमारी गुओ के पक्ष-पोषण में) ने यह स्थापित किया कि ईश्वर के प्रति स्वार्थरहित प्रेम सम्भव है · उक्त प्रेम पुरस्कार एव दण्ड की भावना से मुक्त होगा। अन्त में, १२वें पोप अनघ (इन्नोसेंट) ने फेनेलॉन के विचारो की भर्त्सना कर तथा वॉसुएत की विवाद-प्रणाली पर प्रतिवन्ध लगा कर इस विवाद का अन्त किया। लाइवनित्स के इस प्रसग से सम्वन्धित विचार 'उचित और न्याय-सम्बन्धी धारणाओं पर' निवन्ध की भूमिका विस्तृत रूप में व्यक्त हुए हैं। देखिए, वटलर्. सर्मन्स्, ११, १३ और १४।

*Pamphlet

२ ईश्वर की पूर्वकल्पित तथा उत्तरकल्पित इच्छाओं का अन्तर टॉमस एक्वी-नस् ने उत्पन्न किया था। वह कहते हैं 'यह अन्तर स्वय दैवी इच्छा पर आधारित

(निर्णायक) इच्छा से जो व्यक्त रूप से घटित करता है उसमें उन्हें सन्तुष्ट रखता है, यह स्वीकार करते हुए कि यदि हम विश्व के विधान को यथेष्ट रूप में समझ सकें तो यह पायेंगे कि वह (ईश्वर की इच्छा) सबसे अधिक बुद्धिमान् आदमियो की सभी इच्छाओ से बढकर है, और यह कि उसे, न केवल समग्र और सामान्य रूप में वल्कि विशिष्ट

नहीं है, क्योकि उसमें न तो पूर्व है, न उत्तर, किन्तु यह (अन्तर) उसके द्वारा इच्छित वस्तुओ पर निर्भर है किसी वस्तु को अपने आप में, निरपेक्षत समझा जा सकता है, अथवा किसी विशिष्ट परिस्थितिमें रख कर, जो उत्तरवर्ती विचार है। उदाहरण के लिए, यह अपने आप में शुभ है कि मनुष्य जीवित रहे और अशुभ कि वह मार डाला जाय, इस विषय पर निरपेक्षत विचार करते हुए, किन्तु, यदि हम किसी मनुष्य विशेष के सम्बन्ध में यह कहें कि वह हत्यारा है, अथवा यह कि उसका जीवित रहना मनुष्यो की बहुत बडी सख्या के लिए भय का कारण है, तो इस अवस्था में यह शुभ होगा कि वह मार डाला जाय और अशुभ कि वह जीवित रहे। तदनुसार यह कहा जा सकता है कि न्यायाधीश अपनी पूर्वकल्पित इच्छा से चाहता है कि प्रत्येक मनुष्य जीवित रहे, किन्तु उत्तरकल्पित इच्छा से चाहता है कि हत्यारे को लटका दिया जाय।' सुम्माथिओलोजिआ, १ १९, ६। द् वेरितेत,पाव २३, वस्तु २ से तुलना करें। लाइवनित्स इसे अपनी सम्भव वस्तुओ के क्षेत्र और वास्तविक, अर्थात् वर्तमान जगत् की परिकल्पना से सबद्ध कर देता है। 'सामान्य अर्थ में यह कहा जा सकता है कि कुछ करने के इरादे में जिस अनुपात में शुभ रहता है उसी अनुपात में इच्छा समझी जाती है। यह इच्छा जब पृथक् रहती है और प्रत्येक शुभ को, जहाँ तक वह शुभ है, दृष्टि में रखती है, तब पूर्वकल्पित कही जाती है। इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि ईश्वर सम्पूर्ण शुभ की ओर, जहाँ तक वह शुभ है, प्रवृत्त होता है और यह पूर्वकल्पित इच्छा से। वह सभी मनुष्यों को पवित्र कर बचा लेने के लिए, पाप का नाश कर दण्ड से बचाने के लिए तत्परता से उद्यत रहता है। यहाँ तक कहा जा सकता है कि यह इच्छा अपने आप में फल-दायक है, या यह कहें कि यदि उसे बाधित करने वाला कोई प्रवल कारण न हो

रूप में, हमारे लिए जितनी अच्छी है उससे अच्छी बनाना असम्भव[1] है, यदि हम, जैसा हमे होना चाहिए, सबके स्रष्टा से अनुरक्त है, न केवल अपनी सत्ता के शिल्पी और निमित्त कारण से, बल्कि अपने प्रभु और अन्तिम कारण से, जो हमारी इच्छा का सम्पूर्ण लक्ष्य होना चाहिए और जो अकेला ही हमारे सुख का निर्माण कर सकता है।

[दैव०–१३४, २७८, भूमिका (ए० ४६९, ग० ६, २७ २८)]

तो फल अवश्य प्राप्त होगा, क्योंकि यह इच्छा की अन्तिम सीमा तक नहीं जाती, अन्यथा वह अपना पूरा प्रभाव करने में कभी असफल न होती, चूँकि ईश्वर सभी वस्तुओं का स्वामी है। पूर्ण एव अचूक सफलता उस इच्छा को प्राप्त होती है, जिसे उत्तरवर्ती इच्छा कहा जाता है। यह पूर्ण है, और यह नियम इस पर घटित होता है, नामत , कि हम जो इच्छा करते हं उसे करने में कभी नहीं चूकते, जब हम कर सकते हं। अब यह उत्तरकल्पित, अन्तिम और निर्णायक इच्छा सभी पूर्वकल्पित इच्छाओं के सघर्ष से, उन दोनों के जो शुभ की ओर प्रवृत्त होती है और जो अशुभ का विरोध करती हं, उत्पन्न होती है और इन सभी विशिष्ट इच्छाओ के संघटन से ही पूर्ण इच्छा बनती है जैसे यन्त्रों में सयुक्त गति एक ही पिण्ड में एक साथ घटित होने वाली सभी प्रवृत्तियो का परिणाम होती है, और उनमें से प्रत्येक को, जहाँ तक एक ही समय में ऐसा करना सम्भव है, सन्तुष्ट करती है . इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि पूर्वकल्पित इच्छा फलदायक, प्रभावोत्पादक एवं सफल है। इससे यह निष्पन्न होता है कि ईश्वर शुभ की पूर्वकल्पना और परम शुभ की उत्तरकल्पना करता है। दैवविद्या §२२ तथा २३।

१ इसका यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि लाइबनित्स के अनुसार, ससार को जैसा वह इस समय है या किसी दिये हुए समय में हो सकता है उससे अच्छा बनाना असम्भव है। वह जगत् की उस व्यवस्था की बात कहता है जिसमें सम्पूर्ण काल सम्मिलित है। वह काल में हो सकने वाली उन्नति का बहिष्कार नहीं करता।

वस्तुओ का प्रथम आरम्भण
(१६९७)

वस्तुओं का प्रथम आरम्भरण

प्रारम्भिक टिप्पणी

लैटिन में लिखे हुए इस निबन्ध पर लाइबनित्स ने २३ नवम्बर, १६९७ तिथि दी थी। सम्भवत यह ऐक्ता एस्यूदितोरम् के लिए लिखा गया था, किन्तु यह १८४० तक, जब एर्डमैन ने इसे अपने सस्करण में सम्मिलित किया, अप्रकाशित ही रहा। इसमें वह १६८५ के आसपास लिखे हुए अपने एक निबन्ध का, जिसे एर्डमैन ने 'सार्वभौमिक विज्ञान अथवा दार्शनिक कलन' शीर्षक दिया है, विस्तार कर अपने दर्शन में पर्याप्त युक्ति के नियम की सार्थकता की व्याख्या की है। चिद्‌बिन्दु विद्या के ३६ से ४८ अशो में इसी निबन्ध की मुख्य युक्तियो का सक्षेप मिलता है। निबन्ध के अन्तिम भाग में लाइबनित्स की आशावादिता (कि सम्भव ससारो में से यही सर्वोत्तम है) की स्थापना मिलती है, देवविद्या के कुछ प्रमुख सिद्धान्तो की रूप-रेखाएँ भी दी हुई है।

जगत्, अथवा ससीम वस्तुओ के सग्रह के अतिरिक्त यहाँ किसी प्रकार की एकता भी (यूनम्) है जो प्रधान है, न केवल उस तरह जैसे आत्मा मुझमें प्रधान है अथवा जैसे अहतत्त्व (एगो) मेरे शरीर में प्रधान है, बल्कि उससे भी अधिक ऊँचे अर्थ में।[1] कारण कि विश्व की प्रधान एकता न केवल जगत् का नियमन करती है बल्कि निर्माण करती या उसे सँवारती है। वह जगत् से ऊँची है, और इहलोकातीत कही जा सकती है, और इस प्रकार वस्तुओ का मूल हेतु है। क्योकि अस्तित्व का पर्याप्त हेतु न तो किसी विशिष्ट वस्तु में पाया जा सकता है, न सम्पूर्ण सग्रह तथा वस्तुओ की शृखला में। आएँ, यह मान लें कि ज्यामिति के मूल तत्त्वो की एक पुस्तक अनादि काल से विद्यमान रही है और यह कि क्रमश एक पुस्तक की

१ चिद्‌बिन्दु विद्या, §§ ७० और ७२, पृ० १८६–टि० १ तथा पृ० १६१–टि० १ से तुलना करें।

दूसरी से प्रतिलिपि वनायी गयी थी, (तो) यह स्पष्ट है कि हम वर्तमान पुस्तक के होने का कारण उस पुस्तक से दे सकते है, जिससे उसकी प्रतिलिपि वनायी गयी थी, किन्तु हम जितनी चाहें उतनी पीछे की पुस्तको तक जाकर भी कभी उसके सम्पूर्ण हेतु तक नही पहुँच सकते, क्योकि हम हमेशा यह प्रश्न कर सकते हैं कि ऐसी पुस्तकें सभी कालो में क्यो रही है, आखिर पुस्तकें ही क्यो थी, और इस तरह क्यो लिखी गयी। जो पुस्तको के लिए सत्य है वही जगत्‌ की विभिन्न अवस्थाओ के लिए भी सत्य है, क्योकि परिवर्तन के कुछ नियमो के वावजूद अनुवर्ती अवस्था पूर्ववर्ती अवस्था की, किसी न किसी प्रकार से, अनुकृति ही है। अत, तुम किसी भी प्रारम्भिक अवस्था तक क्यो न जाओ, तुम उसमें कभी भी वस्तुओ का सम्पूर्ण हेतु नही पाते, अर्थात्‌ यह कहें, कि इस वात का हेतु कि किसी भी प्रकार का जगत्‌ क्यो है और यही जगत्‌ क्यो, कोई दूसरा क्यो नही।

यह ठीक है कि तुम जगत्‌ को नित्य मान ले सकते हो, किन्तु चूँकि तुम केवल अवस्थाओ के एक क्रम को ही मानोगे, जिनमें से किसी में भी तुम्हें पर्याप्त हेतु नही मिलता, और चूँकि जगतो की कोई भी सख्या तुम्हें उनका कारण खोजने में तनिक भी सहायता नही करती, यह स्पष्ट है कि हेतु कही और ही खोजना चाहिए। क्योकि शाश्वत वस्तुओ में, भले ही उनका कारण कुछ न हो, हेतु[1] होना चाहिए जो, स्थायी वस्तुओ के प्रसग में, स्वय अनिवार्यता या सार[2] है, किन्तु परिवर्तनशील वस्तुओ की शृखला के प्रसग में, यदि यह मान लिया जाय कि वे अनादि काल से एक-दूसरे का स्थान ग्रहण करती रही है, तो यह हेतु, जैसा हम अभी देखेंगे,

१ नित्य तत्त्व का कारण समय में स्थित नहीं हो सकता, फिर भी कोई न कोई समय में स्थित कारण से भिन्न हेतु तो होना ही चाहिए, अन्यथा उसका अस्तित्व कैसे सम्भव होगा।

२ 'स्थायी वस्तुओं' से वे वस्तुएँ अभिप्रेत हैं जो आकस्मिक नहीं हैं। ये वस्तुएँ, लाइवनित्स की शब्दावली में 'सम्भव' वस्तुएँ, 'अनिवार्य' वस्तुएँ, अथवा 'सार' हैं। चिद्‌विन्दु विद्या, §§४० और ४३, पृ० १६४–टि० २, पृ० १६६–टि० ३ देखें।

प्रवृत्तियों[1] का प्रवर्तन है, जो हेतुओ को अनिवार्य बनाने में निहित नही है, अथवा यह कहें, निरपेक्ष और पारभौतिक अनिवार्यतायुक्त हेतुओ में, जिनके विलोम में अन्तर्विरोध[2] है, वल्कि हेतुओ की नति में है। इससे यह स्पष्ट है कि जगत् की नित्यता कल्पित करने पर भी हम वस्तुओ के अन्तिम और जगदतिरिक्त हेतु से जो ईश्वर[3] है छुटकारा नही पा सकते।

तदनुसार जगत् के हेतु किसी जगत् से वाह्य वस्तु में छिपे है, जो अवस्थाओ के क्रम या वस्तुओ की शृंखलाओ से, जिनके समूह से जगत् निर्मित है, भिन्न है। और इस प्रकार हमें भौतिक या वैकल्पिक अनिवार्यता से, जिसके अनुसार जगत् की उत्तरवर्ती वस्तुएँ पूर्ववर्ती वस्तुओ से नियमित है, परे किसी ऐसी वस्तु तक जाना चाहिए जिसमें निरपेक्ष अथवा पारभौतिक अनिवार्यता[4] है, जिसका हेतु दिया नही जा सकता। क्योकि वतमान जगत् भौतिक वैकल्पिक रूप में अनिवाय है, किन्तु निरपेक्षत या पारभौतिक रूप में नही। कहने का तात्पर्य यह है कि जगत्

१ परिवर्तनशील एव आकस्मिक वस्तुओ का पर्याप्त हेतु कोई निरपेक्ष तत्त्व नहीं होता, जिसके विलोम में अर्तावरोध होता है, वल्कि ईश्वर की श्रेष्ठता, अथवा वस्तुओ में जो काम्य है उसकी अकाम्य तथा अवाछनीय पर श्रेष्ठता है। शुभता का आग्रह ईश्वर की इच्छा को आकस्मिक वस्तुओं की सृष्टि में, विना किसी प्रकार की अनिवार्यता के, प्रवृत्त करता है।

२ एर्डमैन के सस्करण में यह शब्द (कॉन्ट्राडिक्शन्) नहीं है।

३ जगत् को नित्य मान लेने पर भी, उसकी आवश्यकता निरपेक्ष या बाध्य करने वाली नहीं, केवल 'नत' करने वाली हो सकती है। अत ईश्वर, अर्थात् वह व्यक्ति जिसकी इच्छा 'नत' हो पूर्वकल्पित करना आवश्यक है।

४ ऐर्डमैन का पाठ 'कुछ जो निरपेक्ष है, अथवा अतिलौकिक अनिवार्यता' है। निरपेक्ष, अथवा अतिलौकिक अनिवार्यता वह अनिवार्यता है जो यथार्थ वस्तुओं से स्वतन्त्र है, अयवा जो वैकल्पिक, सोपाधिक, सापेक्ष या लौकिक अनिवार्यता से, जिसका यथार्थ वस्तुओ के स्वभाव से उद्गम होता है और जिसे 'सह-सम्भव' वस्तुओ का सस्थान अपने सदस्यों पर आरोपित करता है, भिन्न है।

का स्वभाव जैसा है उससे यह प्राप्त होता है कि घटनाएँ उसी प्रकार घटित होनी चाहिए जैसे वे होती हैं। इसलिए, चूंकि सब का आदिम मूल किसी ऐसी वस्तु में होना चाहिए जिसमें अतिलौकिक अनिवार्यता हो, और चूंकि किसी अस्तित्व की वस्तु का हेतु किसी अस्तित्त्व की वस्तु में पाया जाना चाहिए, यह प्राप्त होता है कि एक ऐसे सत् का अस्तित्त्व होना चाहिए जिसमें अतिलौकिक अनिवार्यता हो, एक ऐसे सत् का जिसका सार अस्तित्व' होना है, और इस प्रकार किसी ऐसी वस्तु का अस्तित्व होना चाहिए जो सत्ताओ की बहुता से भिन्न हो, जगत् से भिन्न जिसमें, जैसा हमने स्वीकार किया है और दिखाया है कि कोई अतिलौकिक अनिवार्यता नही होती[१]।

किन्तु अधिक स्पष्ट रूप में यह समझाने के लिए कि नित्य या सारभूत या अतिलौकिक सत्यो से कालिक, औपाधिक या लौकिक सत्य किस प्रकार उत्पन्न हो जाते हैं, हमें पहले यह देखना होगा कि इसी तथ्य से कि कोई अस्तित्व है, बजाय इसके कि कुछ नही है, यह प्राप्त होता है कि सम्भव वस्तुओ में या सभाव्यता में या सार में ही एक माग है अस्तित्व की या अस्तित्व के अधिकार की, एक शब्द में, *यह कि सार अपने आप अस्तित्व की ओर प्रवृत्त होता है*।[२] इससे यह भी प्राप्त होता है कि सभी सम्भव वस्तुएँ, जो सार या सम्भव सत्यता अभिव्यक्त करने वाली वस्तुएँ हैं, अपने सार या सत्यता के परिमाण के अनुपात में, या पूर्णता के अश के अनुपात में, समान अधिकार लेकर अस्तित्व की ओर प्रवृत्त होती हैं। क्योंकि पूर्णता कुछ नही, केवल सार का परिमाण है।[४]

१ तुलना के लिए स्पिनोजा के 'द्रव्य' (Substance) और 'प्ररूप' (Mode) के अन्तर पर ध्यान दीजिए। द्रव्य वह है 'जो अपने आप में है' और प्ररूप, 'जो किसी अन्य में है' अर्थात् द्रव्य आत्म-निर्भर सत्ता और प्ररूप उसकी एक अवस्था है।

२. देकार्त द्वारा प्रयुक्त ईश्वर के अस्तित्व के विश्वरचना पर आधारित की समीक्षा के लिए, कान्ट की शुद्ध बुद्धि की परीक्षा के अतर्गत 'अतिक्रामक द्वन्द्विकी' में चतुर्थ विरुद्ध नामिका देखिए।

३ चिद्विन्दुविद्या, §४० तथा पृ० १६४ टिप्पणी २ से तुलना कीजिए।

४ चिद्विन्दु विद्या, §४१ और ५४ से तुलना कीजिए।

इससे यह बिलकुल स्पष्ट है कि सम्भव वस्तुओ के असीमत सम्भव सयोगो और शृखलाओ में से एक वही वस्तु अस्तित्व प्राप्त करती है जिसके द्वारा सार या सम्भावना की अधिकतम मात्रा अस्तित्व में आती है। वस्तुत , वस्तुओ में हमेशा अधिकतम और न्यूनतम के अनुसार निर्धारण का सिद्धान्त काम करता है, फलत यह उदाहरण कि न्यूनतम पूंजी से अधिकतम परिणाम उपजता है।[1] और यहाँ पर समय, स्थान अथवा एक शब्द में, जगत् की ग्रहणशीलता या सामर्थ्य[2] को वह पूंजी या आधारभूमि समझना चाहिए जिस पर यथासम्भव उपयुक्त जगत् के भवन का निर्माण किया जाना है, जब कि आकारो की विविधता भवन की उपयुक्तता तथा उसके कमरो की सख्या, वैभव आदि के समकक्ष है। सम्पूर्ण पदार्थ की तुलना उन खेलो से की जा सकती है, जिनमें एक तख्ते पर बने हुए कोठो को निश्चित नियमो के अनुसार भरा जाता है, इस प्रकार कि यदि तुम होशियारी की चालें न चलो तो अन्त में तुम अपने आप को कुछ पेचीदा कोठो से बाहर पाओगे और कुछ कोठो को खाली छोड देने के लिए मजबूर होगे और कुछ को जैसे भरना

१ पूंजी अथवा लागत अपने आप में एक सीमा है। किन्तु, यदि किसी जगत् को होना है, तो ह्रास या सीमा की आवश्यकता होगी, क्योंकि यदि जगत् के तत्त्व विभिन्न अशों में सीमित न होते तो किसी प्रकार की विविधता न होती। सब मिल कर एक 'विशाल अर्थरहित' पूर्णता होती। फिर भी जगत् इस अर्थ में सर्वोत्तम सम्भव जगत् है कि इसमें सीमा पर पूर्णता का, अथवा अशुभ पर शुभ का अधिकतम सतुलन है, अर्थात् न्यूनतम लागत पर अधिकतम लाभ है।
लागत कह कर लाइबनित्स 'अल्पव्यय के नियम' (लॉ ऑव् पार्सिमॉनी) का निदर्शन कर रहा है।

२ प्राकृतिक या सारभूत सीमाएँ, जिनके द्वारा वास्तविक जगत् एक आदर्श जगत् की, जिसकी कोई सीमाएँ नहीं, सम्भावना अभिव्यक्त करता है, उस जगत् की सामर्थ्य हैं। यह सीमित करने वाली 'ग्रहणशीलता या सामर्थ्य' (जो ससार के लिए उसी प्रकार है जैसे विशिष्ट चिद्बिन्दु के लिए उसका शरीर) सक्रियता या आकार के विरुद्ध जगत् की निष्क्रियता या पदार्थ समझी जा सकती है।

चाहते थे वैसे न भर सकोगे । फिर भी एक निश्चित विधि है जिससे बहुत आसानी से अधिक से अधिक कोठो को भरा जा सकता है । तो हमें यदि एक त्रिभुज बनाना हो और कोई निर्धारक दशा न दी हुई हो, तो वह समानबाहु त्रिभुज होगा, और यदि एक विन्दु से दूसरे विन्दु तक रेखा खीचनी हो और कोई दूसरी शर्त न लगायी गयी हो तो सरलतम या न्यूनतम मार्ग चुना जायेगा । इसी प्रकार, यदि एक बार यह मान लिया जाय कि सत् असत् से श्रेष्ठ है (जो यह कहने के समान है कि कुछ न होने की अपेक्षा कुछ होने में एक हेतु है[1]), अथवा सम्भावना के लिए वास्तविकता में बदलना आवश्यक है, तो यह प्राप्त होता है कि, यद्यपि इससे आगे कुछ भी निश्चित नही है, काल और देश की सामर्थ्य अर्थात् अस्तित्व के सम्भव क्रम[2] को देखते हुए जितना सम्भव है उतने का अस्तित्व अवश्य होना चाहिए, ठीक उसी प्रकार जैसे खपरैलो को ऐसे ढग से रखते है कि किसी दिये हुए क्षेत्र में सम्भवत अधिक-से-अधिक रखे जा सकें ।

इस प्रकार, आश्चर्यजनक रूप में हमें यह विदित कराया गया है कि वस्तुओ के आरम्भ में किस प्रकार दैवी गणित[3] या अतिलौकिक यान्त्रिकी का प्रयोग किया जाता है और अधिकतम परिमाण अस्तित्त्व में ला दिया जाता है (शब्दश, अधिकतम परिमाण का निर्धारण हो जाता है) । इस प्रकार, ज्यामिति में सभी

१ प्रकृति और महिमा के नियम, ९७ से तुलना करें ।

२ केवल वही क्रम नहीं जो हम यथार्थ वस्तुओ में खोज लेते हैं, बल्कि वह जो सम्भव वस्तुओ के अस्तित्व में आने की एक शर्त है । सहसम्भव सार ही सह-स्थित घटनाओं को उत्पन्न कर सकते हैं, और काल तथा देश इन घटनाओ के सह-अस्तित्व के क्रम है । देखिए, रावर्ट लैटा, मॉनेडॉलॉजी, परिचय, भाग ३, पृ० १०२ ।

३ 'जब ईश्वर गणना करता और विचार का उपयोग करता है, तो ससार बन जाता है ।' ऐर्डमैन, ७७ ए० ; ग० ६ १९१ । सम्भवत, लाइवनित्स ने यह वाक्य वाद में जोड दिया था, क्योकि पाण्डुलिपि के पार्श्व में मिला है ।

कोणो के बीच निर्धारित (नियत) कोण समकोण[1] है, और इसी प्रकार द्रवो को विषमावयव माध्यमो में रखने पर वे अधिकतम समायी का आकार, जो वर्तुल में होता है, ग्रहण कर लेते है। किन्तु सबसे अच्छा उदाहरण हमें साधारण यान्त्रिकी में वहाँ मिलता है, जहाँ अनेक भारयुक्त पिण्डो के एक-दूसरे के विरुद्ध क्रिया करने पर परिणमित गति वह होती है जो सम्पूर्ण पर अधिक से अधिक पतन उत्पन्न कर सकती है। क्योकि जैसे सभी सम्भव वस्तुएँ अपनी सत्यता के अनुपात में समान अधिकार से अस्तित्व प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त होती है, वैसे ही सभी भार अपने गुरुत्व के अनुपात में समान अधिकार से पतन के लिए प्रवृत्त होते है। और जैसे बाद वाले प्रसग में एक गति होती है जिसमें भारयुक्त पिण्डो का अधिकतम सम्भव पतन अन्तर्भूत होता है, उसी प्रकार पूर्व प्रसग में एक जगत् की उत्पत्ति होती है जिसमें सम्भव वस्तुओ की अधिकतम सख्या अस्तित्व में आ जाती है।

और इस प्रकार अतिलौकिक अनिवार्यता से हमें एक भौतिक अनिवार्यता प्राप्त होती है, क्योकि यद्यपि अतिलौकिक अर्थ मे जगत् अनिवार्य नही है कि उसके विपक्ष में कोई विरोध, अथवा तार्किक अनुपयुक्ति निहित हो, फिर भी वह भौतिक रूप में अनिवार्य है, अथवा इस प्रकार निर्धारित है कि उसके विपक्ष में एक अपूर्णता या नैतिक अनुपयुक्ति सम्मिलित है। और जैसे सम्भावना सार का तत्त्व है, उसी प्रकार पूर्णता या सार का अश (जिसके द्वारा जितनी अधिक वस्तुएँ सह-सम्भव हैं वह उतना ही अधिक है) अस्तित्व का तत्त्व है। जिससे, साथ ही, यह भी व्यक्त होता है कि जगत् का निर्माता किस प्रकार स्वतन्त्र है, यद्यपि वह सभी कुछ नियमित रूप में ही करता है। क्योकि वह बुद्धिमत्ता या पूर्णता के नियम के अनुसार कार्य करता है। नियमो के प्रति उदासीनता अज्ञान से उत्पन्न होती है और कोई मनुष्य जितना ही अधिक बुद्धिमान् होता है उतना ही अधिक वह उसके प्रति नियमित रहता है जो अधिकतम पूर्ण है।

लेकिन तुम कहोगे कि यह किसी अतिलौकिक नियमन की यान्त्रिकता की

१ समकोण हमेशा ९०° का ही होता है, इसलिए निर्धारित या निश्चित है। यही सबसे बडा कोण है जिस पर दो रेखाएँ एक-दूसरे से मिल सकती है।

भारयुक्त पिण्डो की लौकिक यान्त्रिकता से तुलना कितनी ही सुन्दर लगने पर भी इस अर्थ में असफल है कि भारयुक्त पिण्ड वस्तुत होते है और क्रिया करते हैं, किन्तु सम्भावनाएँ, अथवा सार अस्तित्व से पूर्व है या उसके विपरीत काल्पनिक, अथवा मनगढन्त है और इसलिए उनमें अस्तित्व का कोई हेतु नही पाया जा सकता। मैं उत्तर देता हूँ कि न ये सार और न इन सारो से सम्वन्धित नित्य सत्य ही मनगढन्त हैं, वल्कि उनका विचारो के एक क्षेत्र (यदि मैं इस प्रकार कह सकूं) में अस्तित्व है, कहने का अर्थ है, स्वय ईश्वर में, जो सम्पूर्ण सार और अन्य वस्तुओ के अस्तित्व का स्रोत है कि यह मेरा हेतुरहित कथनमात्र नही है वस्तुओ की वास्तविक शृखलाओ के अस्तित्व से प्रकट है। क्योकि, चूंकि इन शृखलाओ का हेतु इन्ही में नही पाया जा सकता, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, वल्कि अतिलौकिक अनिवार्यताओ अथवा नित्य सत्यो में पाया जाना चाहिए, और चूंकि अस्तित्ववान् वस्तुएँ केवल अस्तित्ववान् वस्तुओ से ही उत्पन्न हो सकती है, जैसा हम पहले कह चुके है, नित्य सत्यो का अस्तित्व किसी निरपेक्षत, अथवा अतिलौकिक रूप में अनिवार्य विपय में, अर्थात् ईश्वर में होना चाहिए, जिसके द्वारा ये वस्तुएँ जो अन्यथा काल्पनिक होतीं सत्य (एक अशिक्षित किन्तु व्यजक शब्द प्रयुक्त करने के लिए) वना दी जाती है।[1]

और सचमुच हम व्यक्त रूप में सभी वस्तुओ को जगत् में नियमो के अनुसार घटित होता हुआ पाते हैं, न केवल ज्यामितीय वल्कि अतिलौकिक, अथवा नित्य सत्यो, अर्थात् न केवल भौतिक अनिवार्यताओ के अनुसार वल्कि आकारिक हेतुओ के अनुसार। और यह सामान्य रूप में जगत् के न होने की अपेक्षा होने के (जैसा हमने अभी समझाया है) तथा अन्यथा न होकर इसी रूप में होने के हेतु (जो हेतु सम्भव वस्तुओ की स्थित होने की प्रवृत्ति में मिलता है) के ही प्रसग में सही नही

१ कहने का भाव यह है कि ईश्वर अपने वोध में उन्हें एक प्रकार की सत्यता या अस्तित्व प्रदान करता है, जो व्यक्त जगत् की आकस्मिक वस्तुओं के अस्तित्व से भिन्न हैं। चिद्‌विन्दु विद्या, §§४३, ४४, ४६ और ४७ तथा पृ० १७० टिप्पणी १ से तुलना करें।

है, वल्कि जव हम विशिष्ट वस्तुओ की ओर आते है तव भी देखते है कि प्रकृति के सम्पूर्ण विस्तार में कारण, शक्ति, क्रियाशीलता के अतिलौकिक नियम आश्चर्य-जनक रूप में वर्तमान है और वे पदार्थ के शुद्ध ज्यामितीय नियमो से कही अधिक श्रेष्ठ है, जैसा पाकर मै आश्चर्यचकित हो गया जव मैं गति के नियमो की व्याख्या[1] कर रहा था, जिससे कि जैसा मै अन्यत्र अधिक विस्तार से समझा चुका हूँ, मै अन्त में ऊर्जाओ की रचना के उन ज्यामितीय नियमो का त्याग करने के लिए वाध्य हो गया, जिन्हें अपनी युवावस्था में मैंने प्रतिपादित किया था जव भौतिक दृष्टि में मेरी अधिक आस्था थी।

तदनुसार, हमें एक सत् में, जो जगत् से महान्, उच्च तथा प्राचीन है, अस्तित्वों और सारो दोनो की सत्यता का अन्तिम हेतु प्राप्त होता है, क्योकि उसके माध्यम से जगत् की अस्तित्ववान् वस्तुएँ ही नही, वल्कि सम्भव वस्तुएँ भी सत्यता प्राप्त करती है। किन्तु यह अन्तिम हेतु इन सभी वस्तुओ के अन्त ससर्गों के कारण एक ही स्रोत में पाये जा सकते है।[2] किन्तु यह प्रकट है कि इस स्रोत से अस्तित्ववान् वस्तुएँ निरन्तर निकलती रहती है, कि वे सत् है और उसके द्वारा उत्पन्न की गयी है, क्योकि यह मालूम नही होता कि क्यो जगत् की एक अवस्था दूसरी की अपेक्षा, कल की अवस्था आज की अवस्था की अपेक्षा उससे निर्गत होनी चाहिए। यह भी प्रकट है कि किस प्रकार ईश्वर न केवल भौतिक रूप में वल्कि स्वतन्त्र रूप में भी कार्य करता है, किस प्रकार न केवल निमित्त वल्कि वस्तुओ का अन्तिम कारण[3] भी

१ देखिए, परिशिष्ट, पृ० २५७ तथा २६५।

२ तात्पर्य यह है कि चूँकि वस्तुओं का व्यक्त सस्थान एक है, इसलिए उनका स्रोत भी एक ही होना चाहिए।

३ सकेत स्पष्ट नहीं है। जैनेट का अनुवाद 'स्वय जगत् से' है। किर्चमैन का अनुवाद 'इस स्रोत से' है। जैनेट की व्याख्या के अनुसार तात्पर्य यह है कि जगत् की सभी अवस्थाएं ईश्वर से उद्भूत होनी चाहिए, स्वय जगत् से नहीं, क्योंकि ईश्वर के स्वभाव में ही सभी वस्तुओं और प्रत्येक वस्तु का पर्याप्त हेतु रहता है, जगत् ससार की किसी वस्तु का पर्याप्त हेतु नहीं दे सकता। किर्चमैन के अनुसार,

उसमें है, और किस प्रकार न केवल वह रचित जगत् की यन्त्रवत्ता द्वारा अपनीमहत्ता और शक्ति प्रकट करता है, वल्कि रचना करने में निहित बुद्धिमत्ता और शुभता भी प्रकट करता है ।[1]

और कोई यह न समझे कि हम यहाँ नैतिक पूर्णता या शुभता और अतिलौकिक पूर्णता या महत्ता को एक समझने की भूल कर रहे हैं और द्वितीय को स्वीकार कर लेने पर प्रथम का निषेध करना चाहिए, इसलिए यह वताना है कि जो कहा जा चुका है उससे यह प्राप्त होता है कि यह जगत् न केवल भौतिक रूप में अत्यन्त पूर्ण है, अथवा, यदि तुम इसे अधिक पसन्द करो, अतिलौकिक रूप में, जो यह कहने के समान है कि वस्तुओ की वह श्रेणी अस्तित्व में आयी है जिसमें सत्यता की अधिकतम मात्रा वस्तुत व्यक्त हुई है, वल्कि यह भी कि नैतिक रूप में जगत् इसलिए अत्यधिक पूर्ण है कि सच्ची नैतिक पूर्णता मनो में ही स्थित भौतिक[2] पूर्णता है । जिससे यह प्राप्त होता है कि जगत् केवल अति अद्भुत यन्त्र ही नही है, वल्कि यह, जहाँ तक

तात्पर्य यह है कि जगत् की प्रत्येक अवस्था ईश्वर से उत्पन्न होती है, क्योंकि इसका कोई कारण समझ में नहीं आता कि वह किसी एक को क्यो उत्पन्न करेगा और दूसरी को नहीं । रावर्ट लैटा के अनुसार जॅनेट की व्याख्या 'अधिक स्वाभाविक' है ।

१ चिद्बिन्दु-विद्या, §§४७, ४८ और ५५ से तुलना करें ।

२ यहाँ 'भौतिक' का अर्थ 'स्वाभाविक', अथवा 'किसी वस्तु के विशिष्ट स्वभाव के अनुसार' है । इसके विपरीत 'अतिलौकिक' है, जिसका अर्थ 'निरपेक्ष ; किसी वस्तु के विशिष्ट स्वभाव से स्वतन्त्र' है । इस प्रकार, 'भौतिक रूप में जगत् अत्यधिक पूर्ण है' का तात्पर्य यह है कि इसका प्रत्येक अवयव, अथवा तत्त्व उतना पूर्ण है जितना पूर्ण होने की उसके स्वभाव में गुंजाइश है, जब कि यह कहने का कि 'जगत् अतिलौकिक रूप में अत्यधिक पूर्ण है' तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण जगत् उतना अधिक पूर्ण है जितना सम्भव है । इसी प्रकार, 'सच्ची पूर्णता मनो में ही स्थित भौतिक पूर्णता है, का अर्थ यह है कि मन की विशिष्ट स्वाभाविक पूर्णता नैतिक पूर्णता है ।

मनो से वना हुआ है, सर्वोत्तम सामान्य तन्त्र भी है, जिसके द्वारा मनो को अधिकतम सम्भव प्रसन्नता या हर्ष प्रदान किया गया है जिसमें उनकी भौतिक पूर्णता युक्त है।[1]

किन्तु, तुम कहोगे कि हमें तो जगत् में इससे विपरीत घटित होता हुआ मिलता है, क्योंकि प्राय सवसे अच्छे लोग सवसे अधिक दु ख भोगते हैं, और जो निरपराध हैं, दोनो पशुओ और मनुष्यो में, वही सताये जाते है और मार डाले जाते है, जहाँ तक कि यातनाएँ देकर, और सचमुच यह जगत्, मुख्य रूप में यदि हम मानव जाति के शासन पर विचार करें, किसी श्रेष्ठतम बुद्धिमत्ता द्वारा निर्दिष्ट कार्य की अपेक्षा एक उलझी हुई अव्यवस्था ही प्रतीत होता है । इसलिए, मै मानता हूँ कि पहली निगाह में ऐसा ही लगता है, किन्तु जव हम अधिक निकट से देखते है, तो स्पष्टत विरुद्ध निष्कर्ष उन्ही विचारो के पूर्वांग रूप में प्राप्त होता है जिन्हें प्रस्तुत किया जा चुका है, नामत , यह निष्कर्ष कि सभी वस्तुओ की अत सभी मनो की उच्चतम पूर्णता उत्पन्न की जाती है ।

और वस्तुत , जैसा कि विधिवक्ताओ का कथन है, जव तक सम्पूर्ण विधि का परीक्षण न किया जाय निर्णय देना उचित नही होता । हम चिरन्तनता के जिसका विस्तार अमेय है एक छोटे-से भाग को जानते हैं, क्योकि कुछ हजार वरसो का विवरण जिसे इतिहास हम तक पहुँचा देता है कितना लघु है । तो भी, इतने क्षीण अनुभव से हम सहसा अमेय और शाश्वत के प्रसग में निर्णय देते हैं, उन मनुष्यो की भाँति जो वन्दीगृह में या, शायद, सार्मेतिया की भूगर्भस्थित नमक की खानो में पैदा हुए और पाले गये इसलिए सोच सकते है कि ससार में उस मन्द दीप के अतिरिक्त और कोई दूसरा प्रकाश नही है जो उनके पग-निर्देश के लिए कठिनाई से पर्याप्त है । यदि तुम एक वहुत ही सुन्दर चित्र को देखो जिसके एक वहुत छोटे भाग को छोड कर शेप पूरा ढक दिया गया हो, तो वह तुम्हारी दृष्टि को क्या प्रस्तुत करेगा, चाहे जितनी अच्छी तरह तुम उसे जाँचो (क्यो न अधिक-से-अधिक समीप से उसका निरीक्षण करो), केवल रगो का एक उलझा हुआ ढेर विना किसी चुनाव और कला

१ चिद्विन्दु-विद्या, ९८६ और आगे के देखिए । 'व्यक्तियों के लिए आनन्द वही है जो सत्ताओं के लिए पूर्णता है ।'

के उँडेला हुआ। फिर भी यदि तुम आवरण को हटाकर उचित दृष्टि बिन्दु से पूरे चित्र को देखो, तो पाओगे कि जो फलक पर लापरवाही के साथ पुता हुआ मालूम होता था, वह सचमुच चित्रकार द्वारा बड़े कलात्मक ढग से बनाया गया था। चित्रकला में आँखो का अनुभव सगीत में कानो के अनुभव के समान है। प्रतिष्ठित सगीतकार बहुधा सगत के साथ असगत स्वरो को श्रोता को उत्तेजित करने के लिए मिला देते है, मानो उसे कोचना चाहते हो, जिससे वह यह जानने के लिए उत्सुक हो जाता है कि आगे क्या होगा और जब तुरन्त ही सब उचित क्रम में ला दिया जाता है तो वह बहुत अधिक प्रसन्न होता है। ठीक उसी प्रकार जैसे हम लघु हानियो या दुर्घटना की आशकाओ में केवल अपनी शक्ति या भाग्य की चेतना से, अथवा उनका प्रदर्शन करने की इच्छा से रुचि लेते है, या, फिर जैसे रस्से पर कलाबाजी करने या तलवार पर नाचने में शामिल खतरे के प्रदर्शन में हम रस लेते है। हम स्वय ही हँसी-खेल में बच्चे को आधी दूर उछाल देते है, मानो उसे फेंक देना चाहते हो, उस बन्दर की तरह जो डेन्मार्क के राजा क्रिश्चियर्न[1] को जब वह कपडो में लिपटा हुआ शिशु था कोठे पर उठा ले गया और फिर, मानो वह मजाक कर रहा था, पालने में वापस लाकर उसने सबकी उत्सुकता को दूर कर दिया। इसी सिद्धान्त पर मीठी चीजें बेमजा हो जाती है यदि हम और कुछ नही खाते, स्वाद को उत्तेजित करने के लिए, उनके साथ तीखी, खट्टी और कटु वस्तुएँ मिलायी जानी चाहिए। जिसने कटु वस्तुओ का स्वाद नही लिया है मधुर वस्तुओ का अधिकारी नही और, वस्तुत, उन्हें पसन्द नही करेगा। यही नियम है रसास्वाद का कि सुख मे एकरसता नही होती, क्योकि उससे अनिच्छा उत्पन्न होती है जो हमें कुण्ठित कर देती है, सुखी नही।[2]

१ डेनूमार्क की भाषा में 'क्रिश्चियन' का रूप। , यहाँ पर डेन्मार्क के प्रथम शासक क्रिश्चियन पचम (१६४६–९९) का सकेत है जो लाइबनित्स के लेखन-काल में राज्य कर रहा था।

२ 'तुम्हारे पुस्तकालय में वर्जिल की एक हजार पुस्तको की सुन्दर जिल्दें होना, सदैव कैड्मस और हर्मिऑन के ही नाटक की धुनें अलापना, मिट्टी के सारे

किन्तु जो हमारा कथन है कि सम्पूर्ण की सगति को नष्ट न करते हुए भी किसी भाग को विशृंखल किया जा सकता है, उसका अर्थ यह नही समझा जाना चाहिए कि भागो का कोई लेखा-जोखा नही लिया जाता अथवा यह कि जगत् के लिए समष्टि रूप में पूर्ण होना ही पर्याप्त है, यद्यपि यह हो सकता है कि मानव जाति हतबुद्धि है, और यह कि ससार में न्याय का कोई आदर नही, न हमारी किसी को परवाह, जैसी कुछ लोगो की सम्मति है जिनका वस्तु-समष्टि के विषय में निर्णय बहुत सही नही है। क्योकि इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि जिस प्रकार किसी पूर्णतया सुगठित सामान्य तन्त्र में, जहाँ तक सम्भव होता है व्यक्तियो की भलाई का ध्यान रखा जाता है, उसी प्रकार, ससार तब तक पर्याप्तत पूर्ण न होगा जब तक ससार-व्यापी सगति सुरक्षित करने में व्यक्तियो के लाभो की ओर ध्यान न दिया जायेगा।[१] और इसके लिए न्याय के उस नियम से बढ कर कोई मानदण्ड

वर्तन तोड देना जिससे तुम्हारे पास सिर्फ सोने के प्याले बच रहें, तीतर के अलावा और कुछ न खाना, हगरी या शीराज की ही शराब पीना—क्या तुम इसे युक्ति कहोगे?' देव विद्या, §१२४ (ए० ५३६ बी)। प्रकृति और महिमा के नियम, §१८ से तुलना कीजिए।

१. देवविद्या, §११८ (ए० ५३५ ए) से तुलना कीजिए 'कोई भी द्रव्य ईश्वर की दृष्टि में निरपेक्षत हेय अथवा श्रेय नहीं है यह निश्चित है कि ईश्वर एक सिंह की अपेक्षा एक मनुष्य को अधिक महत्त्व देता है, फिर भी मै यह नहीं जानता कि हमें निश्चय करना चाहिए कि ईश्वर सिंहो की पूरी जाति की तुलना में सब तरह से एक मनुष्य को श्रेष्ठ मानता है। किन्तु यदि ऐसा होता भी तो यह न प्राप्त होता कि रचित वस्तुओ की असीम सख्या में फैली हुई अव्यवस्था के मुकाबिले कुछ मनुष्यो के स्वार्थों को प्रबल होना चाहिए। यह सम्मति एक पुरानी कहावत का, जो अब अप्रसिद्ध हो चुकी है, कि जो कुछ होता है मनुष्य के कारण होता है, अवशेष है।' मेदितेशन् सुर् ला नोशन् कॉम्यून् द ला जस्तिस् (मॉलेट, पृ० ६३) से तुलना करें 'कुछ ऐसे लोग भी है जो यह समझते हैं कि असीम ईश्वर की दृष्टि में हमारी कोई गिनती नहीं कि वह हमारी परवाह करे ईश्वर के

के ढंग से हुआ । फिर भी यदि तुम आवरण को हटाकर उचित दृष्टि बिन्दु से पूरे चित्र को देखो, तो पाओगे कि जो फलक पर लापरवाही के साथ पुता हुआ मालूम होता था, वह सचमुच चित्रकार द्वारा बड़े कलात्मक ढंग से बनाया गया था । चित्रकला में आँखों का अनुभव संगीत में कानों के अनुभव के समान है । प्रतिष्ठित संगीतकार बहुधा संगत के साथ असंगत स्वरों को श्रोता को उत्तेजित करने के लिए मिला देते हैं, मानो उसे कोंचना चाहते हों, जिससे वह यह जानने के लिए उत्सुक हो जाता है कि आगे क्या होगा और जब तुरन्त ही सब उचित क्रम में ला दिया जाता है तो वह बहुत अधिक प्रसन्न होता है । ठीक इसी प्रकार जैसे हम लघु हानियों या दुर्घटना की आशंकाओं में केवल अपनी शक्ति या भाग्य की चेतना से, अथवा उनका प्रदर्शन करने की इच्छा से रुचि लेते हैं, या, फिर जैसे रस्से पर कलाबाजी करने या तलवार पर नाचने में शामिल खतरे के प्रदर्शन में हम रस लेते हैं । हम स्वयं ही हँसी-खेल में बच्चे को आधी दूर उछाल देते हैं, मानो उसे फेंक देना चाहते हों, उस बन्दर की तरह जो डेन्मार्क के राजा क्रिश्चियर्न[1] को जब वह कपड़ों में लिपटा हुआ शिशु था कोठे पर उठा ले गया और फिर, मानो वह मजाक कर रहा था, पालने में वापस लाकर उसने सबकी उत्सुकता को दूर कर दिया । इसी सिद्धान्त पर मीठी चीजें बेमजा हो जाती हैं यदि हम और कुछ नहीं खाते, स्वाद को उत्तेजित करने के लिए, उनके साथ तीखी, खट्टी और कड़ु वस्तुएँ मिलायी जानी चाहिए । जिसने कड़ु वस्तुओं का स्वाद नहीं लिया है मधुर वस्तुओं का अधिकारी नहीं और, वस्तुत, उन्हें पसन्द नहीं करेगा । यही नियम है रसास्वाद का कि सुख में एकरसता नहीं होती, क्योंकि इससे अनिच्छा उत्पन्न होती है जो हमें कुण्ठित कर देती है, सुखी नहीं ।[2]

१ डेनमार्क की भाषा में 'क्रिश्चियन' का रूप । सम्भवत, यहाँ पर डेनमार्क के प्रथम शासक क्रिश्चियन पंचम (१६४६–९९) का संकेत है जो लाइबनित्स के लेखन-काल में राज्य कर रहा था ।

२. 'तुम्हारे पुस्तकालय में वर्जिल की एक हजार पुस्तकों की सुन्दर जिल्दें होना, सदैव कैडमस और हर्मिओन के ही नाटक की धुनें अलापना, मिट्टी के सारे

किन्तु जो हमारा कथन है कि सम्पूर्ण की सगति को नष्ट न करते हुए भी किसी भाग को विशृंखल किया जा सकता है, उसका अर्थ यह नही समझा जाना चाहिए कि भागो का कोई लेखा-जोखा नही लिया जाता अथवा यह कि जगत् के लिए समष्टि रूप में पूर्ण होना ही पर्याप्त है, यद्यपि यह हो सकता है कि मानव जाति हतबुद्धि है, और यह कि ससार में न्याय का कोई आदर नही, न हमारी किसी को परवाह, जैसी कुछ लोगो की सम्मति है जिनका वस्तु-समष्टि के विषय में निर्णय वहुत सही नही है। क्योकि इस वात की ओर ध्यान देना चाहिए कि जिस प्रकार किसी पूर्णतया सुगठित सामान्य तन्त्र में, जहाँ तक सम्भव होता है व्यक्तियो की भलाई का ध्यान रखा जाता है, उसी प्रकार, ससार तव तक पर्याप्तत पूर्ण न होगा जव तक ससार-व्यापी सगति सुरक्षित करने में व्यक्तियो के लाभो की ओर ध्यान न दिया जायेगा।[1] और इसके लिए न्याय के उस नियम से बढ कर कोई मानदण्ड

वर्त्तन तोड देना जिससे तुम्हारे पास सिर्फ सोने के प्याले वच रहें, तीतर के अलावा और कुछ न खाना, हगरी या शीराज की ही शराव पीना—क्या तुम इसे युक्ति कहोगे?' देव विद्या, §१२४ (ए० ५३९ वी)। प्रकृति और महिमा के नियम, §१८ से तुलना कीजिए।

१ देवविद्या, §११८ (ए० ५३५ ए) से तुलना कीजिए 'कोई भी द्रव्य ईश्वर की दृष्टि में निरपेक्षत हेय अथवा श्रेय नहीं है यह निश्चित है कि ईश्वर एक सिह की अपेक्षा एक मनुष्य को अधिक महत्त्व देता है, फिर भी मै यह नहीं जानता कि हमें निश्चय करना चाहिए कि ईश्वर सिहो की पूरी जाति की तुलना में सब तरह से एक मनुष्य को श्रेष्ठ मानता है। किन्तु यदि ऐसा होता भी तो यह न प्राप्त होता कि रचित वस्तुओं की असीम सख्या में फैली हुई अव्यवस्था के मुकाबिले कुछ मनुष्यो के स्वार्थों को प्रबल होना चाहिए। यह सम्मति एक पुरानी कहावत का, जो अब अप्रसिद्ध हो चुकी है, कि जो कुछ होता है मनुष्य के कारण होता है, अवशेष है।' मेदितेशन् सुर् ला नोशन् कॉम्यून् द ला जस्तिस् (मॉलेट, पृ० ६३) से तुलना करें 'कुछ ऐसे लोग भी हैं जो यह समझते हैं कि असीम ईश्वर की दृष्टि में हमारी कोई गिनती नहीं कि वह हमारी परवाह करे ईश्वर के

नही स्थापित किया जा सकता था, जो घोपित करता है कि प्रत्येक को विश्व की पूर्णता का और अपने सद्गुण के तथा सामान्य शुभ का आदर करने में अपने सकल्प के अश के अनुपात में सुख का भागी होना चाहिए । और इसी के द्वारा वह, जिसे हम सदाशयता तथा ईश्वर के प्रति प्रेम करते है, पूर्ण होता है, केवल इसी में बुद्धिमान् धर्मशास्त्रियो के अनुसार ईसाई धर्म की प्रेरणा और शक्ति है । इसमें कोई आश्चर्य की बात नही कि विश्व में मन को इतना श्रेष्ठ स्थान दिया गया है, क्योकि वे महत्तम रचयिता के निकट प्रतिबिम्ब है, वे उससे सम्बद्ध है, उस प्रकार नही (दूसरी वस्तुओ की भाँति) जैसे यन्त्र अपने निर्माता से सम्बद्ध होते हैं, बल्कि जैसे नागरिक अपने राजा से, वे तब तक रहेंगे जब तक यह विश्व है, और वे विश्व को एक प्रकार से अभिव्यक्त और अपने में केन्द्रित करते है, जिससे यह कहा जा सकता है कि मन ही समस्त भाग हैं ।

किन्तु भले मनुष्यो की यातनाओ के मुख्य प्रश्न के प्रसग में यह निश्चित मानना चाहिए कि इन यातनाओ के परिणामस्वरूप जो यातनाएँ सहते है उनका अधिक शुभ प्राप्त होते है और न केवल धर्मशास्त्रीय विचार के अनुसार सत्य है बल्कि स्वाभाविक रूप में भी, जैसे जो दाना पृथ्वी में डाला जाता है वह फल लगने से पहले कष्ट सहता है । और सामान्य रूप में यह कहा जा सकता है कि यातनाएँ तत्काल अशुभ किन्तु अन्त में शुभ होती है, क्योकि वे महत्तर पूर्णता के

'हम वैसे ही गिने जाते है जैसे हमारे मुकाबले कीडे-मकोडे, जिन्हें बिना सोचे-विचारे हम कुचलते रहते हैं । किन्तु यह तो यह मानना हुआ कि ईश्वर किसी मनुष्य की भाँति है और प्रत्येक वस्तु के विषय में सोच नहीं सकता । ठीक इसलिए कि ईश्वर असीम है, वह बिना श्रम किये हुए ही अपने सकल्प के फलस्वरूप कार्यों को कर लेता है, जसे यह मेरे तथा मेरे मित्र के सकल्प का फल है कि हम सहमत हैं, उस सकल्प के आगे जो हम में से प्रत्येक ने कर लिया है, सहमति उत्पन्न करने के लिए किसी नये कार्य की आवश्यकता नहीं । अब यदि मानव जाति तथा छोटी-से-छोटी वस्तुएँ भी सुशासित न होतीं, तो विश्व भी सुशासित न होता क्योकि सम्पूर्ण अपने भागों में ही होता है ।'

निकट मार्ग है। इसी प्रकार भौतिकी में, जिन द्रव पदार्थों का खमीर धीरे-धीरे उठता है उन्हें शुद्ध होने में बहुत समय लग जाता है, जब कि वे जिनमें अधिक उथल-पुथल होती है अपने कुछ अवयवो को अधिक वेग से फेंक देते हैं और इस प्रकार अधिक शीघ्रता से शुद्ध हो जाते हैं। और इसी को तुम इस अभिप्राय से पीछे हटना कह सकते हो जिससे आगे उछलने में अधिक बल लगा सको। इन कारणों से ये तथ्य न केवल अनुकूल और सुखद, बल्कि सर्वाधिक सत्य समझे जाने चाहिए। और सामान्य रूप में मैं समझता हूँ कि सुख से अधिक सत्य कुछ नही, और सत्य से अधिक सुखद तथा मनोरम कुछ नही।

आगे, ईश्वर की रचनाओ की विश्वव्यापी सुन्दरता और पूर्णता का सम्पूर्ण रूप में अनुभव करने के लिए, हमें सम्पूर्ण विश्व में एक प्रकार की अनवरत तथा बहुत ही स्वतन्त्र अभिवृद्धि पहचाननी चाहिए, ऐसी जो सदैव महत्तर उत्कर्ष की ओर बढती जा रही है। अभी तक हमारी भूमि का एक बडा भाग कर्षित हुआ है और भविष्य में और अधिक होगा। और यद्यपि यह सच है कि कभी-कभी इसके कुछ भाग फिर से जगली हो जाते है, अथवा नाश या पतन से प्रभावित होते है, फिर भी इसे उसी प्रकार समझना चाहिए जैसे ऊपर हम यातनाओ की बात समझा चुके है, *कहने का भाव यह है कि यही नाश या पतन महत्तर अन्त की ओर* ले जाता है, जिससे हम किसी प्रकार हानि से लाभान्वित होते हैं।[1]

और इस सम्भावित विरोध का कि यदि यह ऐसा होता, तो ससार अब से बहुत पहले स्वर्ग बन चुका होता, उत्तर प्रस्तुत है। यद्यपि बहुत-से द्रव्य बडी पूर्णता प्राप्त कर चुके हैं, फिर भी अविराम की असीम विभाज्यता के कारण, वस्तुओ के

१ राजकुमारी सोफिया को पत्र (१७६) 'और चूंकि यह विचार करने में हेतु है कि ससार अधिक-से-अधिक वृद्धि करता रहता है और यह कि सभी कुछ किसी लक्ष्य की ओर प्रवृत्त होता है, क्योंकि सब एक रचयिता के यहाँ से आता है जिसकी बुद्धिमत्ता पूर्ण है, हम तदनुसार यह विश्वास कर सकते है कि आत्माएँ भी जो तब तक रहती हैं जब तक ससार रहता है, श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर होती रहती है, कम-से-कम प्राकृतिक रूप में और यह कि उनकी पूर्णताएं बढती जाती हैं, यद्यपि

गह्वर में सुषुप्त भाग पड़े रहते हैं जिन्हें आकार और मूल्य में वृद्धि करने के लि
और, एक शब्द में, एक अधिक पूर्ण अवस्था की ओर बढने के लिए अभी जगाना है
और इसलिए कभी भी उन्नति का अन्त नहीं होता ।

बहुधा यह अदृश्य रूप में होता है और कभी-कभी बड़े पृष्ठगामी वृत्तों के बाद ।
बोर्के को पत्र (१७१६) भी देखिए · 'यद्यपि ससार सदैव रूप में पूर्ण रहा
है' (अर्थात्, संसार की प्रत्येक क्षणिक अवस्था उतनी ही पूर्ण है जितनी उसी प्रकार
की दूसरी अवस्थाएं) 'वह कभी अन्तिम अर्थ में पूर्ण न होगा; क्योंकि वह सदैव
रहता है और नयी पूर्णताएँ प्राप्त करता है, यद्यपि वह पुरानी पूर्णताओं को
खो देता है ।' राबर्ट लैटा की पुस्तक, पृ० ३५०, टिप्पणी ४१ ।

प्रकृति और महिमा के नियम
(१७१४)

प्रकृति और महिमा के नियम

प्रारम्भिक टिप्पणी

प्रकृति और महिमा के नियम शीर्षक निबन्ध मे बहुत कुछ वही है जो चिद्बिन्दु विद्या में । इसे पढने पर लगता है कि यह एक प्रारम्भिक रूपरेखा है जिसका परिष्कार कर चिद्बिन्दु विद्या लिखी गयी है । गर्हार्ड्ट् के विचार से यही वह सक्षेप है, जिसे लाइबनित्स ने राजकुमार यूगिनी के लिए लिखा था । उससे पूर्ववर्ती सम्पादको का यही मत चिद्बिन्दु विद्या के पक्ष में था । गर्हार्ड्ट् ने अपने मत के पुष्टीकरण में यह दिखाया है कि १७१४ में जब निकोलस रेमाण्ड ने लाइबनित्स को पेरिस से पत्र लिख कर उसके दर्शन का सक्षेप माँगा था, तो लाइबनित्स ने उसे प्रकृति और महिमा के नियम की एक प्रति भेजी थी और सलग्न पत्र में लिखा था 'मै तुम्हें अभी अपने दर्शन पर एक छोटा-सा वक्तव्य भेज रहा हूँ, जिसे मैंने सेवॉय के राजकुमार यूगिनी के लिए लिखा है । मै आशा करता हूँ कि यह छोटी-सी कृति, मेरे लीपजिग, पेरिस और हालैण्ड की पत्रिकाओ में प्रकाशित लेखो के साथ पढे जाने पर, मेरे विचारो को अधिक अच्छी तरह समझने में सहायता करेगी । लीपजिग के लेख सभी कुछ ध्यान में रखते हुए सम्प्रदायवादियो की भाषा में हैं, दूसरे अधिकतर कार्तीय मतानुयायियो की शैली में है, और इस अन्तिम कृति में मैंने अपने विचारो को ऐसे ढग से व्यक्त करने का प्रयत्न किया है कि जो उपर्युक्त शैलियो में से किसी से भी पूर्णतया परिचित न हो इसे समझ सकें ।' (२६ अगस्त, १७१४ का पत्र, गर्हार्ड्ट् द्वारा उद्धृत) किचमैन का विचार है कि लाइबनित्स ने, सम्भवत राजकुमार यूगिनी के लिए प्रकृति और महिमा के नियम का ही प्रणयन किया था, किन्तु उसे अपर्याप्त समझ कर चिद्बिन्दु विद्या के रूप में विस्तार किया और इसी रूप में यूगिनी को भेंट की । प्रकृति और महिमा के नियम पहले पहल फ्रासीसी पत्रिका एल यूरोप सैवेंत में नवम्बर १७१८ में प्रकाशित हुए ।

इस पुस्तक की तीन पाण्डुलिपियां हैं । पहली पाण्डुलिपि बहुत छोटी है और अनेक गद्यखण्डो के बजाय दो अध्यायो में विभाजित है । विभाजन-बिन्दु छठे

गद्य-खण्ड का अन्त है जहाँ से 'भौतिकी' की 'अतिभौतिकी' में परिणति होने लगती है। शेप दो पाण्डुलिपियो में वर्ण्य वस्तु को गद्य-खण्डो में विभाजित किया गया है। अग्रेजी अनुवाद तीसरी पाण्डुलिपि से किया गया है, जो सब प्रकार पूर्ण है। प्रकृति और महिमा के नियम मे चिद्विन्दु विद्या की अपेक्षा विपय-क्रम अव्यवस्थित एव अस्पष्ट है। किन्तु, स्वय लाइवनित्स ने प्रारम्भ में जिन विभाजन रेखाओ का अनुसरण किया था उन्हें ध्यान में रखते हुए हम कह सकते है कि १ से ६ गद्य-खण्डो में रचित चिद्विन्दुओ को पृथक् एव एक-दूसरे के सन्दर्भ में लेते हुए विवरण दिया गया है, यदि इन्हें ईश्वर से पृथक् समझा जा सके। शेप गद्य-खण्डो में ईश्वर को ससार का हेतु मानते हुए उसके स्वभाव तथा शक्ति, बुद्धिमत्ता एव शुभता में उसकी पूर्णता से उत्पन्न होने वाले परिणामो पर विचार किया गया है। कुछ विचार-विन्दु जिन्हें चिद्विन्दु विद्या में प्रमुखता प्राप्त हुई है प्रकृति और महिमा के नियम में अछूते रह गये हैं, अथवा उनका स्पर्श मात्र किया गया है। उदाहरणार्थ, चिद्विन्दु विद्या में ज्ञान के जिन दो वडे नियमो पर वल दिया गया है प्रकृति और महिमा के नियम में उनकी कोई चर्चा नही की गयी, पूर्व-स्थापित सगति का नामोल्लेख मात्र हुआ है, उसकी कोई व्याख्या नही की गयी है। किन्तु, दोनो की ही शैली एव पदावली में इतना निकट सम्बन्ध है कि दोनो को साथ रखना बहुत आवश्यक है।

१ द्रव्य क्रिया की सामर्थ्य रखने वाली एक सत्ता है। यह सरल, अथवा यौगिक होती है। सरल द्रव्य वह है जिसमें भाग न हो। **यौगिक द्रव्य**[1] सरल द्रव्यो या चिद्विन्दुओ का योग है। **मॉनस**[2] एक यूनानी शब्द है जिसका अर्थ इकाई होता है। यौगिक अथवा पिण्ड

१ चिद्विन्दु विद्या, पृ० १३२, टिप्पणी २ देखिए। लाइवनित्स के अनुसार 'यौगिक द्रव्य' सयत अर्थ में 'द्रव्य' नहीं है। यह द्रव्य नहीं, द्रव्य से उत्पन्न वस्तु है। यही अन्तर न देख पाने के कारण वूल्फ ने लाइवनित्स के दर्शन की व्याख्या में भूल की हैं।

२. इसी यूनानी शब्द से 'मॉनेड' शब्द की रचना हुई है, जिसे प्रस्तुत अनुवाद में 'चिद्बिन्दु' कहा जा रहा है।

बहुताएँ है, और सरल द्रव्य जीव, आत्माएँ, भूतात्माएँ, अथवा इका-इयाँ है। और सब कही सरल द्रव्य होने चाहिए, क्योकि सरल द्रव्यो के बिना यौगिक न होगे, और फलत सम्पूर्ण प्रकृति जीवन से भरी हुई है।[1]

२ चिद्बिन्दुओ की, जिनमे भाग नही होते, न रचना की जा सकती है, न उनका नाश किया जा सकता है। प्राकृतिक साधनो से न तो उनका प्रारम्भ हो सकता है और न अन्त ही, और परिणामत वे तब तक रहते है जब तक ससार, जिसमे परिवर्तन हो जायेगा, किन्तु जिसका नाश नही होगा। उनमे कोई आकृति नही हो सकती, अन्यथा उनमे भाग होगे।[2] परिणामत कोई एक चिद्बिन्दु, अपने आप में तथा किसी दिये हुए क्षण में, किसी दूसरे से केवल अपने आन्तरिक गुणो और क्रियाओं[3] के आधार पर पृथक् किया जा सकता है, जो उसके प्रत्यक्षो (कहा जाय कि सरल में यौगिक, या जो बाहर

१ पदार्थ को असीमत विभाज्य कहने का अर्थ ही यह है कि सर्वत्र यौगिक द्रव्य है। विभाज्य होने का अर्थ यौगिक होना है। किन्तु, यौगिक द्रव्य सरल द्रव्यो से बने हैं। फलत, सर्वत्र सरल द्रव्य या जीवित सत्ताएँ ही हैं।

२ यदि उनमें आकृति होती तो वे विस्तृत या दैशिक होते। किन्तु, सभी विस्तृत वस्तुएं विभाज्य हैं और इसलिए वे सरल नहीं यौगिक ही हो सकती हैं, अथवा भागों वाली।

३ इस प्रकार हम चिद्बिन्दुओ का ऐंद्रिक प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। इन्द्रियाँ हमें द्रव्य का नहीं, बल्कि द्रव्य पर आधारित प्रातिभासिकता का ज्ञान कराती हैं। 'भूतात्माएं, आत्माएं तथा सरल द्रव्य अथवा चिद्बिन्दुओ को सामान्य रूप में इन्द्रियो और कल्पना के द्वारा नहीं जाना जा सकता, क्योकि उनमें भाग नहीं होते।' विएरलिंग-अम को पत्र (१७११)—ऐ० ६७८ ए।

है', के पुन प्रस्तुतीकरण) और रोचनो (कहा जाय कि एक प्रत्यक्ष से दूसरे प्रत्यक्ष तक जाने वाली प्रवृत्तियो) से भिन्न नही हो सकते, जो परिवर्तन के नियम है । क्योकि द्रव्य की सरलता का विकारो की वहुता से, जो उसी सरल द्रव्य में एक साथ पाये जाते हैं, किसी प्रकार का विरोध नही है, और इन विकारो का अस्तित्व वस्तुओ से, जो वाहर हैं, सम्वन्धो की प्रकारता मे है ।[2] यह उसी प्रकार है जैसे किसी केन्द्र या विन्दु मे, यद्यपि वह पूर्णतया सरल होता है, रेखाओ के मिलने से वनने वाले कोणो की असीम सख्या हो जाती है ।

१ यौगिक के रूप में, यौगिक में भागो के वाहर भाग होते हैं, किन्तु यौगिक के रूप में वह मात्र प्रातिभासिक है ।

२ 'द्रव्य की सरलता में, एक ही समय में, अपने भीतर अनेक विकारों को स्थान देने से, किसी प्रकार का विरोध नहीं उत्पन्न होता । उसमें क्रमिक प्रत्यक्ष होते हैं, किन्तु उसमें समकालिक प्रत्यक्ष भी होते हैं । क्योकि जव किसी पूर्ण वस्तु का प्रत्यक्ष होता है, तो उसी समय वास्तविक भागों के भी प्रत्यक्ष होते हैं, और प्रत्येक भाग में ही एकाधिक विकार होते हैं, और एक ही समय में न केवल प्रत्येक विकार का, प्रत्युत प्रत्येक भाग का भी प्रत्यक्ष होता है । ये गुणित प्रत्यक्ष एक-दूसरे से भिन्न होते हैं, यद्यपि हमारा अवधान सदैव उन्हें एक-दूसरे से पृथक् नहीं कर , और इस प्रकार हमें गुंफित प्रत्यक्ष मिलते हैं, जिनकी एक असीमता प्रत्येक स्पष्ट प्रत्यक्ष में, वाहर की सभी वस्तुओं से सम्वन्ध होने के कारण, समायी रहती है । सक्षेपत , वाह्य जगत् में भागों का सयोग चिद्विन्दु में उसके विकारो के सयोग द्वारा प्रस्तुत होता है, और इसके विना सरल सत्ताओ को एक-दूसरे से आन्तरिकत पृथक् न किया जा सकता, और वाहर की वस्तुओं से उनका कुछ भी सम्वन्ध न होता, और सक्षेप में, चूंकि सव कहीं केवल सरल द्रव्य है, यौगिक जिनक मात्र समूह हैं, वस्तुओं में कोई प्रकारता या वहुता न होती, यदि सरल द्रव्यों में कोई आन्तरिक प्रकारता या वहुता न होती ।' मैसन को पत्र (१७१६) · ग० ६ ६२८ । चिद्विन्दु-विद्या, §§८ और १३ देखें ।

३ सम्पूर्ण प्रकृति एक पूरित पिण्ड है । सब कही सरल द्रव्य हैं, जो अपने निजी[1] व्यापारो द्वारा एक दूसरे से वस्तुत अलग हो गये है, और जो निरन्तर अपने सम्बन्धो को बदलते रहते है, और प्रत्येक प्रमुखत महत्त्वपूर्ण सरल द्रव्य या चिद्विन्दु, जो एक यौगिक द्रव्य (उदाहरण के लिए, एक जन्तु)का केन्द्र तथा उसकी एकता का तत्त्व है, दूसरे चिद्विन्दुओ की असीमता से बने हुए एक पुंज से घिरा हुआ है, जो उस केन्द्रीय चिद्विन्दु का शरीर है, और वह चिद्विन्दु अपने शरीर के प्रभावो[2] के अनुसार केन्द्र की भाँति बाह्य वस्तुओ को पुन प्रस्तुत करता है । यह शरीर आंगिक है, यद्यपि यह एक प्रकार के स्वचालित या प्राकृतिक यन्त्र की भाँति कार्य करता है, जो केवल समग्र रूप मे ही नही, बल्कि उन छोटे-से-छोटे भागो तक यन्त्र है, जिनका ऐंद्रिक प्रत्यक्ष किया जा सकता है ।[3] चूंकि जगत् एक पूरित पिण्ड है, सब वस्तुएँ परस्पर सलग्न है और प्रत्येक पिण्ड सब दूसरे पिण्डो पर क्रिया करता है, कम या अधिक, उनकी दूरी के अनुसार, और प्रत्येक प्रतिक्रिया के माध्यम से दूसरे सभी पिण्डो से प्रभावित होता है । इससे यह प्राप्त होता है कि प्रत्येक चिद्विन्दु एक जीवित दर्पण, अथवा

१ प्रत्येक चिद्विन्दु में आत्मस्फूर्ति, अथवा ऐसी क्रियाएं करने की सामर्थ्य है जिनके लिए किसी दूसरे चिद्विन्दु के आश्रय की आवश्यकता न हो । यदि ऐसा न होता तो चिद्विन्दुओं में निरन्तरता होती और वे स्वतन्त्र इकाइयां न होते ।

२ इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पिण्ड का निर्माण करने वाले चिद्विन्दु सत्य अर्थ में बाहरी वस्तुओं से प्रभावित होते हैं । यहां 'प्रभाव' शब्द का सामान्य अर्थ में प्रयोग किया गया है ।

३ चिद्विन्दु विद्या, §६४ से तुलना करें ।

ऐसा दर्पण है जिसे आतरिक क्रियाशीलता' प्रदान की गयी है, जो उसके दृष्टिविन्दु के अनुसार ससार की प्रतिरूपक है और नियम के उतना ही अधीन है जितना स्वय ससार । और चिद्‌विन्दुओ में प्रत्यक्ष उत्पन्न होते है, एक से दूसरा, इच्छा के नियमो अथवा शुभ और अशुभ के अन्तिम कारणो के नियमो के अनुसार, जो निरीक्ष्य प्रत्यक्षो मे पाये जाते है, व्यवस्थित अथवा अव्यवस्थित, जव कि दूसरी ओर पिण्डो के परिवर्तन तथा वाह्य घटनाएं, एक से दूसरी निमित्त कारणों के, कहा जाय, गतियो के नियमो के अनुसार उत्पन्न होती है ।[२] इस प्रकार चिद्‌विन्दु के प्रत्यक्षो और पिण्डो की गतियो में एक पूर्ण सगति है, वह सगति जो निमित्त कारणो और अतिम कारणो के सस्थानो के वीच प्रारम्भ से ही पूर्व-स्थापित है । और इस प्रकार ऐसा है कि आत्मा और शरीर एक-दूसरे के अनुकूल है और प्रकृत रूप में सयोजित है, जव कि एक के लिए दूसरे के नियमो को परिवर्तित कर देना सम्भव नही ।[३]

१ 'यह "दर्पण" एक लाक्षणिक पद है , किन्तु यह पर्याप्त रूप में उपयुक्त है और इसका प्रयोग धर्मशास्त्रियो तथा दार्शनिको द्वारा पहले ही किया जा चुका है, जव उन्होने असीमत अधिक पूर्ण दर्पण, नाम लेने के लिए, उस प्रभु के दर्पण की चर्चा की, जिसे उन्होने दिव्य दर्शन का विषय वनाया था ।' मैस्न को पत्र (१७१६) गा० ६ ६२६ ।

२. गतियाँ और इच्छाएँ, अन्तिम अर्थ में, एक ही तत्त्व की विभिन्न कोटियाँ है, उदाहरणार्थ रोचन, अथवा चेतन या अचेतन प्रत्यक्षों का एक दूसरे में परिणत हो जाना । अचेतन रोचन गति अथवा निमित्त कारण है, क्योकि इसके समक्ष कोई लक्ष्य नहीं रहता, जव कि चेतन रोचन अथवा इच्छा में एक लक्ष्य होता है, शुभ अथवा अशुभ, जो एक अन्तिम कारण है ।

३ चिद्‌विन्दु-विद्या, §§७८ तथा आगे देखें ।

४ एक विशिष्ट शरीर सहित प्रत्येक चिद्विन्दु एक जीवित वस्तु का निर्माण करता है। इस प्रकार न केवल सव कही भागो या अगो के साथ जीवन है, वल्कि चिद्विन्दुओ मे अशो की एक असीमता है, जिसमें से प्रत्येक दूसरे पर न्यूनाधिक अधिकार रखता हे। किन्तु जव चिद्विन्दु के अग इस प्रकार व्यवस्थित होते है कि वे जिन सस्कारो को प्राप्त करते है उन्हे, और परिणामत उन प्रत्यक्षो को जो इन्हे पुन प्रस्तुत करते है स्पष्टता या तीव्रता प्रदान करते है (जैसे, उदाहरण के लिए, जव आँख के द्रवो के आकार द्वारा प्रकाश की किरणे केन्द्रित हो जाती है और अधिक सवल क्रिया करने लगती है) तो इससे भावना[1] उत्पन्न हो सकती है, या कहे कि स्मृति सहित प्रत्यक्ष, दूसरे शब्दो में, ऐसा प्रत्यक्ष जिसकी गूंज एक लम्वे अरसे तक वनी रहती है, जिससे वह आवश्यकता पडने पर सुनी जाती है। इस प्रकार की जीवित सत्ता को जन्तु कहा जाता है, जव कि उसके चिद्विन्दु को आत्मा कहा जाता है। और जव यह आत्मा बुद्धि तक उन्नत हो जाती है, तो कुछ अधिक योग्य होती है और इसकी गणना भूतात्माओ (एस्प्रिट्स्) में की जाती है, जैसा अभी समझाया जायेगा। यह सत्य है कि जन्तु कभी-कभी मात्र (सरल) जीवधारियो की अवस्था मे

१ अचेतन प्रत्यक्ष की चेतन प्रत्यक्ष में परिणति का विचार स्पष्ट नहीं है। उसे यह मानना चाहिए था कि चेतन चिद्विन्दुओ के प्रत्यक्ष अचेतन चिद्विन्दुओं के प्रत्यक्षों की तुलना में कम गुम्फित होते हैं और उनके अधिकृत पिण्डों की अग-व्यवस्था भी भिन्न होती है। किन्तु, उसके मत में एक चिद्विन्दु का दूसरे पर क्रिया करना मात्र वैचारिक है, और ससार में चिद्विन्दुओं के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस सदर्भ में चिद्विन्दु-विद्या, §२५ देखें।

और उनकी आत्माएँ मात्र चिद्विन्दुओ की अवस्था में रहती है, नामत जव उनके प्रत्यक्ष इतने जागरूक नही होते कि उनका स्मरण किया जा सके, जैसा गम्भीर स्वप्नरहित निद्रा मे अथवा मूर्च्छा में होता है। किन्तु जो प्रत्यक्ष पूरी तरह गुफित हो जाते है, निश्चय ही जन्तुओ में परिणत हो जाते है[२], जिसके कारण मै अभी (§१२) वताऊँगा। इस प्रकार, यह उचित है कि प्रत्यक्ष, जो चिद्विन्दु की वाह्य वस्तुओ की प्रतिरूपक अतर्दशा है, और अन्त -प्रत्यक्ष मे, जो चेतना या इस अतर्दशा का प्रतिक्षेपक ज्ञान है और जो न सभी आत्माओ को, न उसी आत्मा को सव कालो में दिया जाता है, भेद किया जाय। इस भेद के अभाव में ही कार्तीय मतानुयायियो[३] ने उन प्रत्यक्षो की उपेक्षा करने की भूल की है जिनकी हमें चेतना नही रहती, जैसे साधारण लोग अप्रत्यक्ष्य (अतीन्द्रिय)[४] पिण्डो की उपेक्षा करते है। यह उन कारणो

१ अर्थात् अचेतन जीवधारी और ` चिद्विन्दु।

२ प्रत्यक्षों का गुफन, आवरण, सकोच, सव एक ही है। यही कारण है कि लघु प्रत्यक्ष गुफित होते है। इसके विपरीत, प्रत्यक्षो की स्पष्टता ही विकास या विस्तार है।

३ चिद्विन्दु-विद्या, §१४ देखिए।

४ 'जैसे हम यह मानते है कि पिण्ड में सामान्यत प्रतिरूप और आकृति होती है, यद्यपि हम अदृश्य पिण्डों की आकृति कैसी होती है, नहीं जानते। इसी प्रकार, हम आत्मा में प्रत्यक्ष और रोचन का भाव मानते है, यद्यपि गुफित प्रत्यक्षों के उन अदृश्य तत्त्वों को नहीं जानते जिनके द्वारा पिण्डों के अदृश्य तत्त्वों की अभिव्यक्ति होती है तुम पूछते हो कि मै उन पिण्डो का अस्तित्व मानता हूँ या नहीं जो दिखाई नहीं देते। मै इन्हें क्यो न मानूं ? मै इन पर सन्देह करना असम्भव समझता हूँ। सूक्ष्मवीक्षक यन्त्रो से हम इतने लघु जन्तुओ को जो वैसे दिखाई नहीं देते, और इन लघु जन्तुओं के स्नायुओ को, इनके द्रवीय भागों में शायद दूसरे लघु

मे से भी एक है जिन्होने इन्ही कार्तीय मतानुयायियो को यह मानने के लिए बाध्य किया कि केवल मन ही चिद्‌विन्दु है, कि लघु जन्तुओ में आत्मा नही होती, और यह कि जीवन के अन्य तत्त्वो[1] की सम्भावना तो बहुत ही कम है। और जिस प्रकार लघु जन्तुओ मे भावना की अस्वीकृति मे वे सामान्य सम्मति के वहुत वडे विरोधी वन गये, उसी प्रकार दूसरी ओर एक दीर्घकालिक अचेतनता को, जो प्रत्यक्षों के अत्यधिक गुफन से उत्पन्न होती है, पूर्ण मृत्यु, जिसमे सभी प्रत्यक्षों का बाध होगा, के साथ मिलाने मे वे भीड की धारणाओ के वहुत वडे समर्थक वने। इससे अशक्त आधारो पर स्वीकृत मत का, कि कुछ आत्माएँ नष्ट हो जाती है और कुछ के बुरे विचारो का जो अपने को स्वतन्त्र चिन्तक कहते है और जिन्होने हमारी आत्मा के अमरत्व का विरोध किया है, पुष्टीकरण हुआ है।[2]

५ जन्तुओ के प्रत्यक्षो के बीच एक सम्वन्ध है जो बुद्धि से कुछ समानता रखता है, किन्तु यह केवल तथ्यो की स्मृति अथवा परिणामो पर आधारित है, ज्ञान के कारणो पर विलकुल नही। इस प्रकार कुत्ता उस छडी से किनारा करता है जिससे वह मारा गया था, क्योकि स्मृति उस पीडा को पुन प्रस्तुत कर देती है जो इस छडी के कारण उत्पन्न हुई थी। और मनुष्य, जहाँ तक वे अनुभवाश्रयी है, कहे कि अपने तीन-चौथाई व्यापारो में, छोटे पशुओ से भिन्न व्यवहार नही

जन्तुओं को तैरते हुए देखते हैं। प्रकृति में लघुता असीमत व्याप्त है।' विपर-लिंगियम को पत्र (१७११)

१ सम्भवत, लाइवनित्स वही अर्थ व्यक्त करना चाहता है, जिसके लिए अन्य सदर्भों में उसने 'आकार' (फॉर्म्‌स्) का प्रयोग किया है।

२ चिद्‌विन्दु विद्या, §१३ से तुलना करें।

करते । उदाहरण के लिए, हम आकाक्षा करते है कि कल दिन में प्रकाश होगा क्योकि हमारा अनुभव सदा ऐसा ही रहा है वह तो ज्योतिषी ही है जो यौक्तिक आधारो पर इसका पूर्वानुमान करता है, और उसका भविष्यकथन भी अन्त में निष्फल हो जायेगा जब दैनिक प्रकाश का कारण, जो नित्य नही है, समाप्त हो जायेगा।[1] किन्तु सत्य तर्क अनिवार्य अथवा नित्य सत्यो पर निर्भर है, जैसे तर्क-विद्या, सख्या, या ज्यामिति के सत्य, जो विचारो और निर्दोष उपपत्तियो मे असदिग्ध सयोग पैदा करते है । वे जन्तु जिनमे ये अनुमान नही प्रकट होते, निम्नस्तरीय जन्तु कहे जाते है, किन्तु जो इन अनिवार्य सत्यो को जानते है उन्हे उचित अर्थ में बुद्धिमान् जन्तु कहा जाता है और उनकी आत्माओ को मन कहा जाता है । इन आत्माओ में चिन्तन सम्बन्धी व्यापारो को सपन्न करने की शक्ति होती है और उसे देखने की जिसे अह, द्रव्य, आत्मा, मन, एक शब्द में, सूक्ष्म वस्तुएँ एव सत्य कहा जाता है । और यही वह तथ्य है जो हमारे लिए विज्ञान अथवा प्रदर्शनात्मक ज्ञान सम्भव बनाता है ।[2]

६ आधुनिक अनुसधान ने हमें सिखाया है, और बुद्धि समर्थन करती है कि वे जीवधारी जिनके अग हमें ज्ञात[3] है, या कहें कि वनस्प-

१ चिद्‌बिन्दु विद्या, §§२६–२८ देखें ।

२ चिद्‌बिन्दु विद्या, §§२९ और ३० देखें । चिद्‌बिन्दु विद्या में ईश्वर को आत्म-चेतन आत्मा के विषय के रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

३ सभी चिद्‌बिन्दुओं के अधीन आगिक पिण्ड होते हैं और चिद्‌बिन्दुओ तथा अगियों की शृखलाएँ निम्नतम चिद्‌बिन्दु से, जिनके अधिकृत अगी अप्रत्यक्ष हैं, चिद्‌बिन्दुओं के चिद्‌बिन्दु, ईश्वर तक चली जाती हैं । इस प्रकार, चिद्‌बिन्दु-शृखला के दोनो सिरों पर ऐसी सत्ताएँ हैं जिनके अगों का पता नहीं ।

तियाँ और जन्तु, विगलन अथवा मिश्रण से नही उत्पन्न होते जैसा कि प्राचीनो ने सोचा था, वल्कि पूर्वनिर्मित वीजो से, और परिणामत पूर्व स्थित प्राणियो के रूपान्तर से। वडे जन्तुओ के वीज में इस प्रकार के जीवाणु होते है जो गर्भाधान द्वारा एक नवीन वाह्य आकार प्राप्त करते है, जिसे वे अपना लेते है और जो उन्हे वढने और वडे वनने मे सहायता करता है जिससे वे एक वडी रगशाला में प्रवेश करते है और वडे जन्तु का विस्तार करते है।[1] यह ठीक है कि मानव शुक्राणु-जन्तुओ की आत्माएँ वौद्धिक नही होती, और यह कि वे तभी इस प्रकार की होती है जव गर्भाधान इन जन्तुओ को मानवीय प्रकृति प्रदान करता है।[2] और चूंकि सामान्यत जन्तुओ की गर्भाधान या सर्जन में पूर्ण रूप मे उत्पत्ति नही होती, हम जिसे मृत्यु कहते है उसमे पूर्ण विनाश भी नही होता, क्योकि यह युक्तियुक्त है कि प्राकृतिक विधि से जिसकी उत्पत्ति नही होती प्रकृति के विस्तार में उसका अन्त भी नही हो सकता। इस प्रकार, अपना आवरण, अथवा अपने पुराने चीथडे फेक कर, वे केवल एक सूक्ष्म रगशाला मे वापस चले जाते है,

१ चिद्‌विन्दु विद्या, §§७४ और ७५ देखें।

२ चिद्‌विन्दु विद्या, §८२ देखिए। लाइवनित्स के सामान्य सिद्धान्तो के अनुसार, यह नहीं माना जा सकता कि शुक्राणु में स्थित जन्तु में वौद्धिक आत्मा होती है, हां, उसमें वौद्धिक विकास का वोज या क्षमता मान सकते है। लाइवनित्स के अर्थ में आत्मा को वौद्धिकता का अर्थ उसमें प्रत्यक्ष-सम्वन्धी उच्चस्तरीय स्पष्टता और पृथक्ता होना है। प्रत्यक्षों की स्पष्टता ही उसे प्रभु चिद्‌विन्दु वनाती है और इसी से उसके अधिकृत शरीर का स्वभाव निश्चित होता है। परिणामत, वौद्धिक आत्मा का सयोग मानव शरीर, अथवा किसी और अधिक उन्नत शरीर से ही, जैसे देवदूतों के शरीर से हो सकता है।

जहाँ वे उतने ही सवेदशील और उतने ही सुव्यवस्थित रह सकते हैं जितने कि वडी रगशाला में थे।[1] और जो अभी वडे जन्तुओ के प्रसग मे कहा गया है, शुक्राणवीय जन्तुओ की उत्पत्ति और मृत्यु पर भी घटित होता है, कहा जाय कि वे अपने से लघु शुक्राणवीय जन्तुओ से, जिनकी तुलना मे उन्हे वडा कहा जा सकता है, विकसित होते है, क्योकि प्रकृति में सभी कुछ असीमत[2] सम्पन्न होता है। इस प्रकार, न केवल आत्माएँ वल्कि जन्तु भी अजननीय एव अमरणीय हे वे केवल विकसित, आवृत, आच्छादित, अनाच्छादित, रूपान्तरित होते है। आत्माएँ कभी अपना पूरा शरीर नही छोडती है और एक शरीर से दूसरे शरीर मे, जो उनके लिए विलकुल नवीन होता है, नही जाती है। तदनुसार, कही आत्मान्तरण नही होता, किन्तु रूपान्तरण होता है। जन्तु केवल भागो का ही परिवर्तन करते है, ग्रहण करते है और त्याग करते है।[3] पोपण में यह धीरे-धीरे और छोटे अदृश्य अशो मे, किन्तु निरन्तर होता रहता है, और, दूसरी ओर, गर्भाधान या मृत्यु मे, जिसमें वहुत कुछ एक साथ ही प्राप्त किया जाता है या खो दिया जाता है, यह एकाएक हो जाता है और ऐसे ढग से कि उसे कदाचित् ही देखा जा सकता है।

७ यहाँ तक हम केवल शुद्ध भौतिकशास्त्री[4] के रूप मे वोलते

१ चिद्बिन्दु-विद्या, §§७३, ७६ तथा ७७ से तुलना करें।

२ 'असीम के भीतर असीमताओं' का विचार लाइवनित्स के दर्शन में आद्योपान्त व्याप्त है। उसके चलन कलन (गणित) के आधारभूत विचार इसके लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी हैं। चिद्विन्दु विद्या, §§६५ और ७० देखें।

३. चिद्बिन्दु-विद्या, §§७१, ७२ और ७७ देखिए। अरस्तू ने अपनी 'डि एनिमा' नामक पुस्तक में आत्माओं के देहान्तरण का खण्डन किया है।

४ अर्थात् प्रकृति का करने वाले।

रहे है अब हमे अतिभौतिकी तक पहुँचना चाहिए, जिसके लिए उस उच्च नियम के प्रयोग की आवश्यकता है, जिसका सामान्यत कम ही प्रयोग किया जाता है और जो बताता है कि **बिना पर्याप्त हेतु के कुछ भी घटित नहीं होता,** या यह कहे कि कुछ भी घटित नही होता बिना उस व्यक्ति के लिए जो वस्तुओ को पर्याप्त रूप मे जानता हो कोई ऐसा हेतु देना सम्भव हुए जो यह निर्धारित करने के लिए पर्याप्त हो कि वस्तुएँ क्यो इस प्रकार की है और क्यो किसी अन्य प्रकार की नही है। इस नियम की स्थापना कर लेने पर, पहला प्रश्न, जिसे उठाने के हम अधिकारी है, इस प्रकार होगा—**कुछ न होने की अपेक्षा कुछ है क्यो ?** क्योकि **'कुछ होने'** की अपेक्षा **'कुछ न होना'** सरल[1] है। आगे, मान लें कि वस्तुओ का अस्तित्व अनिवार्य है, तो हममें कोई हेतु देने की योग्यता अवश्य होनी चाहिए कि **क्यो उन्हें इसी प्रकार स्थित होना चाहिए और अन्यथा क्यो नहीं।**[2]

८ अब, विश्व के अस्तित्व का यह पर्याप्त हेतु आकस्मिक वस्तुओ के, कहा जाय, पिण्डो और आत्मा मे उनके प्रतिरूपण के अनुक्रम में पाया नही जा सकता क्योकि गति और विराम तथा एक या दूसरी गति से पदार्थ के तत्स्थ होने से हम उसमें गति का और इससे भी कम किसी विशिष्ट गति[3] का हेतु पा सकते है। और यद्यपि जो गति किसी

१ यहाँ प्रश्न यह है कि यदि हम 'जो कुछ नहीं है' की 'जो कुछ है' से तुलना कर सकते है और उसे अपेक्षाकृत 'सरल' जान सकते है तो जिसे हम कुछ नहीं कह रहे है वह भी कुछ है, मात्र अभाव नहीं है।

२ चिद्बिन्दु-विद्या, §३२ से तुलना करें।

३ लाइबनित्स के विचार में वस्तुओं में पायी जाने वाली गति एक वस्तु से दूसरी वस्तु में स्थानान्तरित होकर स्थित रहती है, किन्तु इस दृश्य जगत् में उसका

पदार्थ मे इस समय पायी जाती है, वह किसी पूर्ववर्ती गति से आयी है, और फिर वह भी किसी अन्य पूर्ववर्ती गति से आयी थी, इस प्रकार हम कुछ भी आगे नही वढ पा रहे है, हम चाहे जितना आगे वढें क्योकि वही प्रश्न वरावर हमारे सामने रहता है। इस प्रकार पर्याप्त हेतु जिसे अन्य किसी हेतु की आवश्यकता नही, अवश्य ही आकस्मिक वस्तुओ के इस अनुक्रम से वाहर होना चाहिए और किसी ऐसे द्रव्य में होना चाहिए जो इस अनुक्रम का हेतु है, अथवा जो अपने अस्तित्व का हेतु अपने आप मे लिये हुए एक अनिवार्य सत्ता है, अन्यथा हमें वह पर्याप्त हेतु न मिल सकेगा जिस पर हम रुकें। और वस्तुओ के इस अन्तिम हेतु को ही ईश्वर कहा जाता है।[1]

९ इस प्राथमिक सरल द्रव्य में अवश्य ही व्युत्पादित द्रव्यो की, जो उसी के परिणाम है, पूर्णताएँ प्रतिष्ठित[2] रूप में समाहित होनी चाहिए। इस प्रकार, उसमें शक्ति, ज्ञान और इच्छा की पूर्णता होगी, अथवा कहें कि उसमें परम सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता और शुभता होगी। और चूँकि न्यायशीलता, वहुत व्यापक रूप में लिए जाने पर, वुद्धिमत्ता से अनुकूलित शुभता के अतिरिक्त कुछ नही है, ईश्वर मे सर्वोच्च न्यायशीलता भी अवश्य ही होनी चाहिए।[3] जिस हेतु ने वस्तुओ के

स्रोत नहीं है। देकार्त ने भी इस विचार को अरस्तू के दर्शन के आधार पर प्रश्रय दिया था। लाइवनित्स देकार्त से सहमत है, किन्तु वह इसकी और गहन व्याख्या की आवश्यकता समझता है।

१ चिद्विन्दु-विद्या, §§३६-३८ तथा वस्तुओ का प्रथम आरम्भण, पृ० २१५ देखिए।

२ चिद्विन्दु-विद्या, §३८, पाद-टिप्पणी देखिए।

३ 'क्योंकि ईश्वर पूर्ण और समग्र रूप में न्यायशील है, और मनुष्यो को

अस्तित्व को उसके (ईश्वर के) माध्यम से सम्पन्न किया है, वही उन्हें अपने सतत अस्तित्व और कार्य-कारिता के लिए उस पर (ईश्वर पर) निर्भर करता है, और वे निरन्तर उससे (ईश्वर से) वह प्राप्त करती है जो उन्हें कोई भी पूर्णता पाने देता है। किन्तु उनमें जो भी अपूर्णता रह जाती है, उसका कारण रचित वस्तुओ की सारभूत एव मौलिक उपाधियो मे है।[1]

१० ईश्वर की परम पूर्णता से यह प्राप्त होता है कि विश्व के

न्यायशीलता, मानव स्वभाव की अपूर्णता के कारण, अन्याय, त्रुटियों और पापों से युक्त होती है। ईश्वर की पूर्णताएं असीमित हैं और हमारी सीमित है। न्यायशीलता उससे भिन्न कुछ नहीं, जो बुद्धिमत्ता और शुभता से, दोनों के एक साथ लिए जाने पर, सगत है। शुभता का अन्त ही परम शुभ है, किन्तु इसे स्वीकार करने के लिए बुद्धिमत्ता की आवश्यकता है, जो शुभ के ज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं। इसी प्रकार, शुभता सब की भलाई करने और अशुभ का प्रतिकार करने की प्रवृत्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं, जब तक वह किसी बृहत्तर शुभ की प्राप्ति या वृहत्तर अशुभ के प्रतिकार के लिए आवश्यक न हो। इस प्रकार, बुद्धिमत्ता बोध में है और शुभता इच्छा में। और परिणामत, न्यायशीलता दोनों में है।' देखिए, रावर्ट लैटा की पुस्तक, पृ० २८३।

१ चिद्‌विन्दु विद्या, ९४२ से तुलना करें। यह देव विद्या, में आये हुए एक विस्तृत परिसवाद का सक्षेप है, जिसमें लाइवनित्स जगत् के दुर्गुणों के ईश्वर की शुभता की स्थापना का प्रयास करता है। उसकी विचार-रेखाएँ इस प्रकार हैं ईश्वर प्रत्येक चिद्‌विन्दु की पूर्णताओं का कारण है। किन्तु, प्रत्येक चिद्‌विन्दु में कुछ सारभूत अपूर्णताएँ हैं, जिनके विना वह ईश्वर से भिन्न नहीं हो सकता था। और ईश्वर किसी चिद्‌विन्दु का सार नहीं वदल सकता, जो उसके बोध में है। वह केवल सृष्टि कर सकता है और सरक्षण कर सकता है, अथवा इन्हें स्थगित कर दे सकता है।

निर्माण में उसने सम्भवत सर्वोत्तम योजना अपनायी है, जिसमे अधिकतम व्यवस्था के साथ अधिकतम विविधता है, आधार, स्थान, समय सव की उतनी भली व्यवस्था है जितनी कि सम्भव है[१], सरलतम विधियो से श्रेष्ठतम प्रभाव उत्पन्न किये गये है, रचित वस्तुओ मे अधिकतम शक्ति, ज्ञान, सुख और शुभता है, जितनी कि ससार मे सम्भव थी ।[२] क्योकि चूंकि सभी सम्भव वस्तुएँ ईश्वर के वोध मे अपनी पूर्णताओ के अनुपात में अस्तित्व का अधिकार माँगती है, इन सभी माँगो का परिणाम यथासम्भव पूर्णतम वास्तविक जगत् होना चाहिए । और इसे न मानने पर, इस तथ्य का कोई हेतु देना सम्भव न होगा कि वस्तुएँ अन्यथा होने की अपेक्षा ऐसी क्यो हुई है ।[३]

११ ईश्वर की श्रेष्ठतम वुद्धिमत्ता ने उसे मुख्य रूप में गति के नियमो का चयन करने के लिए प्रेरित किया, जो अत्यधिक उपयुक्त है और जो अमूर्त अथवा अतिभौतिक हेतुओ के अधिकतम अनुकूल है । जगत् में सम्पूर्ण और निरपेक्ष ऊर्जा की, अथवा क्रिया की वही मात्रा, आपेक्षिक ऊर्जा या प्रतिक्रिया की भी वही मात्रा, और अन्त में दिशा के ऊर्जा की भी वही मात्रा सचित होती है ।[४] आगे, क्रिया सदा प्रतिक्रिया के वरावर, और सम्पूर्ण परिणाम सदा अपने सम्पूर्ण कारण के वरावर

१ वस्तुओं के प्रथम आरम्भण, पृष्ठ २१६ से तुलना करें ।

२ चिद्‌विन्दु विद्या, §§५५–५८ से तुलना करें ।

३ चिद्‌विन्दु विद्या, §§५३ और ५४ से तुलना करें ।

४ विश्व का सम्पूर्ण पदार्थ एक स्वतन्त्र समष्टि है, जिससे किसी अन्य समष्टि की प्रतिमुखता कल्पित नहीं की जा सकती । अत, विश्व समष्टि की सम्पूर्ण ऊर्जा सदैव उतनी ही रहती है । सम्पूर्ण ऊर्जा दो आशिक ऊर्जाओं से वनती है । ये आशिक ऊर्जाएँ आपेक्षिक ऊर्जा, अथवा प्रतिक्रिया की ऊर्जा और दिशा की ऊर्जा है । इनमें से प्रथम समष्टि का निर्माण करने वाले भागों के पारस्परिक ?

होता है। और यह ध्यान देने योग्य है कि निमित्त कारणो अथवा पदार्थ के सम्पूर्ण विवेचन से इन गति के नियमो की व्याख्या करना सम्भव न था, जिन्हें हमारे ही समय मे खोजा गया है और जिनका एक अश तो मैंने ही मालूम किया है। क्योकि मैने पाया है कि हमे अन्तिम कारणो की शरण लेनी चाहिए, और यह कि ये नियम तर्कशास्त्र, अकगणित और ज्यामिति के सत्यो की भाँति, अनिवार्यता के नियम पर नही, वल्कि योग्यता के नियम पर, कहा जाय कि वुद्धिमत्ता द्वारा चुनाव पर निर्भर है। और जो गहराई तक इन तथ्यो मे जा सकते है, उनके लिए यह ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाणो मे एक सर्वाधिक परिणामपूर्ण एव विलक्षण प्रमाण है।[1]

१२ फिर, महत्तम स्रष्टा की पूर्णता से यह प्राप्त होता है कि न केवल सम्पूर्ण विश्व की व्यवस्था उतनी अधिक पूर्ण है जितनी कि वह हो सकती है, वल्कि यह भी कि अपने दृष्टि-विन्दु के अनुसार विश्व को प्रतिरूपित करने वाले प्रत्येक जीवित दर्पण, या कहे कि प्रत्येक चिद्‌विन्दु, प्रत्येक सारवान् केन्द्र के प्रत्यक्ष, उसकी इच्छाएँ उतनी सुव्यवस्थित होनी चाहिए जितना होना शेष सभी के साथ

१ लाइवनित्स चिद्‌विन्दुओं की व्यवस्था में एक विचित्र विरोधाभास पाता है। परमार्थत सभी चिद्‌विन्दु स्वतन्त्र सत्ताएँ है। उनके पारस्परिक अन्तरो का कोई अन्त नहीं, सब एक दूसरे से भिन्न। किन्तु, उनमें कितना पारस्परिक सयोजन है कि सव मिल कर एक जगत् का निर्माण करते है, जिसके नियमो को समझा जा सकता है और वताया जा सकता है। यह अपने आप, अथवा किसी अधी अनिवार्यता द्वारा तो नहीं हो सकता था। अत, अवश्य ही एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एव असीमत शुभाशसी ईश्वर ने इस व्यवस्था को, सभी सभाव्य व्यवस्थाओं से इसे श्रेष्ठ पाकर योजना की होगी। चिद्‌विन्दु विद्या, §५१ देखें।

सगत हो। जिससे यह प्राप्त होता है कि आत्माएँ, या कहें कि सबसे अधिक प्रभुतापूर्ण चिद्बिन्दु, अथवा स्वय जन्तु ही मूर्च्छा की अवस्था से, जिसमें उन्हें मृत्यु अथवा कोई दूसरी आकस्मिक घटना धकेल दे सकती है, फिर जाग उठने में विफल नही हो सकते।[1]

१. चेतन चिद्बिन्दुओं का कुछ समय के लिए अचेतनता में पतन हो सकता है, किन्तु वे सदैव उसी दशा में रहें यह वस्तुओ के सामान्य क्रम के विरुद्ध है। क्योंकि सभी रचित चिद्बिन्दुओं की सामान्य प्रवृत्ति उच्चतर प्रत्यक्षो की ओर अग्रसर होने की है। इस उन्नति में प्रत्येक चिद्बिन्दु तत्त्वत किसी सीमा तक ही जा सकता है, किन्तु इस तात्त्विक सीमा से पृथक् जो ईश्वर की इच्छा से स्वतन्त्र है, वह किसी अन्य स्थायी उपाधि से बाधित नहीं। इस प्रकार, यदि कोई चिद्बिन्दु एक बार चेतन रह चुका है तो वह फिर चेतन हो सकता है, क्योंकि यह स्पष्ट है कि वह तत्त्वत किसी अचेतन अवस्था में रहने के लिए बाधित नहीं है। लाइबनित्स अन्यत्र ससार के विषय में यह कहता है - 'तुम ठीक कहते हो कि हमारे भू-गोलक को एक प्रकार का स्वर्ग होना चाहिए था, और मैं यह जोड देता हूँ कि यदि ऐसा है तो वह अभी भी एक स्वर्ग हो सकता है, और हो न हो इसीलिए वह पीछे हट गया है कि आगे को अच्छी छलांग लगा सके।' वोर्गुएत को पत्र (१७१५) ए० ७३१ ए। १७०२ में ला मेंतिएर को लिखे हुए पत्र से तुलना कीजिए 'सर्वत्र, जब भी हम किन्हीं वस्तुओं की गहराई में जाते है, हम पाते हैं कि उनमें उतनी सर्वाधिक सुन्दर व्यवस्था मौजूद है जितनी होने की इच्छा की जा सकती थी, जैसी हमने कल्पना की थी उससे भी बढ कर, जसा कि उन सबको पता है जो विज्ञानों की गहराई में गये है, और तदनुसार हम यह मान सकते है कि दूसरी वस्तुओं के प्रसग में भी वही बात है, और यह कि न केवल अमूर्त्त द्रव्य सदा अपना अस्तित्व बनाये रखते है बल्कि उनके जीवन, उनकी उन्नति, और उनके परिवर्तनों की ऐसी व्यवस्था होती है कि वे कोई लक्ष्य प्राप्त कर सकें, अथवा उसके अधिक-से-अधिक समीप पहुँच सकें, जैसा अनन्तस्पर्शी रेखा करती है।'

सगत हो । जिससे यह प्राप्त होता है कि आत्माएँ, या कहें कि सबसे अधिक प्रभुतापूर्ण चिद्‌विन्दु, अथवा स्वय जन्तु ही मूर्च्छा की अवस्था से, जिसमे उन्हें मृत्यु अथवा कोई दूसरी आकस्मिक घटना धकेल दे सकती है, फिर जाग उठने मे विफल नही हो सकते ।[१]

१. चेतन चिद्‌विन्दुओ का कुछ समय के लिए अचेतनता में पतन हो है, किन्तु वे सदैव उसी दशा में रहें यह वस्तुओ के सामान्य क्रम के विरुद्ध है । क्योंकि सभी रचित चिद्‌विन्दुओ की सामान्य प्रवृत्ति उच्चतर प्रत्यक्षों की ओर अग्रसर होने की है । इस उन्नति में प्रत्येक चिद्‌विन्दु तत्त्वत किसी सीमा तक ही जा सकता है; किन्तु इस तात्त्विक सीमा से पृथक् जो ईश्वर की इच्छा से स्वतन्त्र है, वह किसी अन्य स्थायी उपाधि से वाधित नहीं । इस प्रकार, यदि कोई चिद्‌विन्दु एक वार चेतन रह चुका है तो वह फिर चेतन हो सकता है, क्योंकि यह स्पष्ट है कि वह तत्त्वत किसी अचेतन अवस्था में रहने के लिए वाधित नहीं है । लाइवनित्स अन्यत्र ससार के विषय में यह कहता है - 'तुम ठीक कहते हो कि हमारे भू-गोलक को एक प्रकार का स्वर्ग होना चाहिए था, और मैं यह जोड देता हूँ कि यदि ऐसा है तो वह अभी भी एक स्वर्ग हो सकता है, और हो न हो इसीलिए वह पीछे हट गया है कि आगे को अच्छी छलाँग लगा सके ।' वोर्गुएत को पत्र (१७१५) ए० ७३१ ए । १७०२ में ला मेतिएर को लिखे हुए पत्र से तुलना कीजिए 'सदैव, जव भी हम किन्हीं वस्तुओ की गहराई में जाते हैं, हम पाते हैं कि उनमें उतनी सर्वाधिक सुन्दर व्यवस्था मौजूद है जितनी होने की इच्छा की जा सकती थी, जैसी हमने कल्पना की थी उससे भी वढ़ कर, जसा कि उन सवको पता है जो विज्ञानो की गहराई में गये हैं, और तदनुसार हम यह मान सकते हैं कि दूसरी वस्तुओं के प्रसग में भी वही वात है, और यह कि न केवल अमूर्त्त द्रव्य सदा अपना अस्तित्व वनाये रखते है वल्कि उनके जीवन, उनकी उन्नति, और उनके परिवर्तनों की ऐसी व्यवस्था होती है कि वे कोई लक्ष्य प्राप्त कर सकें, अथवा उसके अधिक-से-अधिक समीप पहुँच सकें, जैसा अनन्तस्पर्शी रेखा करती है ।'

१३ क्योकि वस्तुओ मे सभी कुछ की, एक ही वार सर्वदा के लिए, उतनी व्यवस्था और पारस्परिक सम्वद्धता के साथ जितनी सम्भव थी, व्यवस्था कर दी गयी है, कारण कि सर्वोच्च वुद्धिमत्ता और शुभता पूर्ण सगति के सहित ही कार्य कर सकती है। वर्तमान भविष्य में मिलकर महान् हो जाता है, भविष्य को भूत मे पढा जा सकता है, दूरस्थ की अभिव्यक्ति समीपस्थ में होती है। हम प्रत्येक आत्मा में विश्व के सौन्दर्य की झलक पा लेते, यदि हम उस सवका उद्घाटन कर पाते जो उसमें अर्तहित रहता है और जो प्रत्यक्ष रूप मे समय के माध्यम से ही विकसित होता है। किन्तु चूंकि आत्मा के प्रत्येक स्पष्ट प्रत्यक्ष में गुफित प्रत्यक्षो की, जिनमें सम्पूर्ण विश्व आ जाता है, एक असीम सख्या निहित है, आत्मा अपने आप उन्ही वस्तुओ को जानती है जिनके उसे प्रत्यक्ष होते है, केवल वही तक जहाँ तक उसे उनके स्पष्ट और उन्नत (अथवा अनावृत)[1] प्रत्यक्ष होते है, और उसमे अपने स्पष्ट प्रत्यक्षो के अनुपात मे पूर्णता होती है। प्रत्येक आत्मा असीम को जानती है, सव कुछ जानती है, किन्तु गुफित रूप मे, जैसे जव मै समुद्र-तट पर टहलता हूँ और समुद्र द्वारा उत्पन्न किये हुए तुमुल रव को सुनता हूँ तो, मै विशिष्ट स्वरो को सुनता हूँ, जो विशिष्ट लहरो से निकलते है और एक सम्पूर्ण स्वर में मिल जाते है, किन्तु मै उन्हें एक-दूसरे से पृथक् नही कर पाता। हमारे गुफित प्रत्यक्ष उन प्रभावो के परिणाम है जो सम्पूर्ण विश्व हम पर डालता है। ऐसा ही प्रत्येक चिद्विन्दु के साथ होता है।[2] एकमात्र ईश्वर को ही सव का ज्ञान होता है, क्योकि वह सव का स्रोत है। यह वहुत ही अच्छा कहा

१ चिदविन्दु विद्या, §२५ देखिए।

२ चिद्विन्दु विद्या, §६० और ६१ देखिए।

गया है कि वह केन्द्र के रूप मे सर्वत्र है, किन्तु उसकी परिधि[1] कही नही, क्योकि प्रत्येक वस्तु, इस केन्द्र से किसी दूरी के विना, उसके सन्निकट प्रस्तुत है।

१४ जहाँ तक वौद्धिक आत्मा या मन का सम्वन्ध है, उसमे चिद्विन्दुओ अथवा मात्र (सरल) आत्माओ की भी अपेक्षा कुछ अधिक है।[2] वह न केवल रचित सत्ताओ के विश्व का दर्पण है, वल्कि ईश्वर का प्रतिरूप भी है। मन ईश्वर की रचनाओ का प्रत्यक्ष ही नही करता है, वल्कि वह उनसे मिलता-जुलता कुछ उत्पन्न करने मे भी सक्षम है, यद्यपि केवल लघु रूप में। क्योकि, स्वप्नो के आश्चर्यों के विपय मे तो कुछ कहना ही नही, जिनमे हम विना श्रम (वल्कि विना सकल्प के भी(ऐसी घटनाओ का आविष्कार कर डालते है, जिन पर ध्यान जाने के लिए, जाग्रत के घटो में हमें वहुत देर सोचना पडता, अपने ऐच्छिक व्यापारो में भी हमारी आत्मा शिल्पीय कौशल प्रदर्शित करती है और, उन वैज्ञानिक सिद्धान्तो को खोज कर जिनके अनुसार ईश्वर ने वस्तुओ की व्यवस्था की है, वह अपने निजी क्षेत्र तथा लघु जगत् मे जिसमे क्रिया करने की उसे अनुमति प्राप्त है उसका अनुकरण करती है जिसे ईश्वर वृहत् जगत् मे करता है।[3]

१ 'जगत् एक असीम वृत्त है, जिसका केन्द्र सव कहीं है, परिधि कहीं नहीं।' पैस्कल, पॅन्सीज, १ (हैवेट का सस्करण) हैवेट ने इस कथन को रॅवेले (पु० ३, अ० १३) में पाया, जहाँ उसे गेर्सन् और वोनावेंचुरा के ग्रन्थो के सकेत मिले, फिर विन्सॅट डि व्यूवे (१३वीं शती के प्रारम्भ में) के ग्रन्थों में पाया और व्यूवे ने इसका श्रेय एम्पीडॉक्लीज को दिया।

२ यहाँ 'चिद्विन्दु' का अर्थ ` चिद्विन्दु तथा 'मात्र ' का अर्थ चेतन , किन्तु आत्म-चेतन नहीं है।

३ चिद्विन्दु-विद्या, ८२ से तुलना करें।

१५ यही कारण है कि सभी भूतात्माएँ, चाहे मनुष्यो की ह अथवा देवदूतो की, बुद्धि और नित्य सत्यो के वल से ईश्वर के साथ एक प्रकार का सगी-भाव प्राप्त करती हुई, ईश्वर के नगर की सदस्य वन जाती है, कहा जाय, सर्वाधिक पूर्ण राज्य की, जो महत्तम और सर्वश्रेष्ठ शासक द्वारा स्थापित और शासित है जिसमे कोई अपराध अदण्डित नही, कोई शुभ कर्म विना आनुपातिक पुरस्कार के नही, और सक्षेप में उतना सुकृत और सुख जितना सम्भव है, और यह प्रकृति के पथ मे किसी हस्तक्षेप द्वारा नही, मानो ईश्वर आत्माओ के लिए मार्ग वनाता है वह पिण्डो के नियमो मे बाधा डालने के लिए हो, वल्कि प्राकृतिक वस्तुओ की व्यवस्था द्वारा सम्पन्न होता है, उस सगति के वल जो सर्व काल से प्रकृति और महिमा के क्षेत्रो के बीच, शिल्पी रूपी ईश्वर और शासक रूपी ईश्वर के बीच पूर्व-स्थापित है, जिससे कि प्रकृति स्वय ही महिमा की ओर ले जाती है, और महिमा प्रकृति का उपयोग कर उसे पूर्णता तक पहुँचाती है ।[१]

१६ इस प्रकार बुद्धि यद्यपि हमें उस वैभवशाली भविष्य के अवयवो का ज्ञान (जो दिव्य दृष्टि के लिए सुरक्षित है) नही करा सकती, इसी बुद्धि द्वारा हमें निश्चय हो सकता है कि वस्तुएँ एक ऐसे रूप में वनायी गयी है जो हमारी इच्छाओ का अतिक्रमण कर जाता है । और, चूंकि ईश्वर सभी द्रव्यो से अधिक पूर्ण और अधिक सुखकर और अधिक प्रेय है और चूंकि सत्य अर्थ में शुद्ध प्रेम[२] उस अवस्था में पाया जाता है जिसमें हमे प्रिय की पूर्णताओ और प्रसन्नता मे सुख

१ चिद्‌विन्दु विद्या, §८४–८६ से तुलना करें ।

२ चिद्‌विन्दु विद्या, §६० देखें ।

मिलता है, यह प्रेम यदि उसका विषय ईश्वर हो निश्चय ही हमें वह वडे-से-वडा सुख दे सकता है जिसका उपभोग करने की हम सामर्थ्य रखते हो।

१७ और ईश्वर से प्रेम करना, जैसा कि हमे करना चाहिए, सरल है, यदि हम उसे जानते हो, जैसा मैंने अभी कहा है।[1] क्योकि यद्यपि हमारी वाह्य इन्द्रियो द्वारा ईश्वर का प्रत्यक्ष नही किया जा सकता, फिर भी वह अति प्रेय है और वह वहुत अधिक सुख देता है। हम देखते हैं कि प्रतिष्ठाएँ मनुष्यो को कितना सुख देती है, यद्यपि वे किसी ऐसी वस्तु मे नही रहती, जो वाह्य इन्द्रियो को प्रभावित कर सके। हुतात्मा तथा हठधर्मियो (यद्यपि अपर कथित का सवेग अपव्यवस्थित होता है) के देखने से मालूम होता है कि मानसिक सुख मे कितना प्रभाव हो सकता है और, इससे भी वढ कर, इन्द्रियो के सुख भी गुफित रूप में ज्ञात वौद्धिक सुख हैं।[2] सगीत हमें मुग्ध कर देता है, यद्यपि उसका सौन्दर्य स्वरो की सगतियो में रहता है और आघातो की अथवा मुखर पिण्डो के स्पदनो की गणना (जिससे हम अचेतन रहते है किन्तु जिसे हमारी आत्मा करती है) में, वे आघात या स्पदन जो समय के निश्चित अन्तरो पर एक साथ होते हैं। जो सुख दृष्टि को भले अनुपातो में मिलता है उसी प्रकार का है, और दूसरी इन्द्रियो के द्वारा उत्पन्न किये हुए सुख भी वहुत कुछ उसी प्रकार

१ 'ईश्वर प्रेम है, जिसे प्रेम के द्वारा ही जाना जाता है और जानने में ही जो प्रीत होता है।' निकोलस ऑव क्यूजा, एक्साइटेशनस् एक्स् सर्मोनिवस्, १०, १८८ वी०।

२ इन्द्रिय वोध गुफित प्रत्यक्ष है, इसलिए।

के पाये जायेंगे, यद्यपि हम उन्हे उतने स्पष्ट रूप मे शायद समझा न सके ।[1]

१८ यह कहा भी जा सकता है कि इस समय से आगे ईश्वर का प्रेम हमें भावी आनन्द के पूर्वास्वाद का आनन्द लेने में सहायता करता है । और यद्यपि यह प्रेम स्वार्थरहित है, यह अपने आप में हमारा परम शुभ और स्वार्थ है, चाहे हम इसमें इन्हे पाने की कामना न करे और विना इससे प्राप्त होने वाले लाभ की आकाक्षा के केवल उसी सुख का उपक्रम करे जो वह हमें देता है, क्योकि यह हमे अपने वनाने वाले और प्रभु की शुभता का पूर्ण विश्वास दिलाता है, जो सच्ची मानसिक शाति उत्पन्न करता है, स्टोइको[2] जैसी नही जो अपने को

१ लाइबनित्स यह नहीं मानता है, जैसा उसके कुछ आलोचकों ने समझा है (उदाहरणार्थ, किर्चमैन) कि सगीत में मिलने वाला सुख या चित्रकला में मिलने वाला सुख शुद्ध ऐन्द्रिक सुख है । वह कहना चाहता है कि कलात्मक सुख में सम्मिलित ऐन्द्रिक तत्त्व भी वस्तुत बौद्धिक है और ऐसा करने के लिए वह यह दिखाता है कि उक्त ऐन्द्रिक तत्त्व का आधार अनुपात, मान या लय का, अपरिचित प्रत्यक्ष है । इसी को अन्यत्र वह 'ढका हुआ अकगणित' कहता है । ग०, ४ ५५१ ।

२ 'वास्तविक नैतिकता और स्टोइको एव एपीक्योरियनों की नैतिकता में वही अन्तर है जो हर्ष और सतोष में है, क्योकि उनकी मानसिक शान्ति केवल आवश्यकता पर आधारित थी, जब कि हमारी पूर्णता और वस्तुओं के सौन्दर्य पर आधारित की जानी चाहिए, अपने निजी उल्लास पर ।' देव-विद्या, ६२५४, ए० ५८० बी , ग० ६ २६८ । 'जिसे स्टोइकों की नियति कहते हैं उतनी काली न थी जितनी चित्रित की गयी है । वह मनुष्यों को अपने काम-काज की देख-रेख से विमुख नहीं करती थी, वल्कि उसमें उनको घटनाओं के सदर्भ में शान्ति प्रदान करने की प्रवृत्ति थी, कारण कि वे उन्हें आवश्यक समझते थे, जो विचार हमारी उत्सुकताओं और अनुतापों को बेकार कर देती है स्टोइको की शिक्षाएं (और

वलात् सतोप की शिक्षा देते थे, वल्कि एक प्रस्तुत सतोप के माध्यम से जो हमे भावी सुख का विश्वास दिलाता है। । और उस प्रस्तुत सुख के अतिरिक्त जो यह हमे देता हे, भविष्य के लिए ईश्वर-प्रेम से अधिक लाभदायक कुछ भी नही हो सकता, क्योकि यह हमारी प्रत्याशाओ को भी सतुष्ट करता है और हमे परमानन्द के मार्ग पर ले जाता है, क्योकि विश्व मे स्थापित पूर्ण व्यवस्था के माध्यम से सभी कुछ उतना भला होता है जितना सम्भव है, दोनो के लिए, सामान्य शुभ और उनके अधिकतम व्यक्तिगत शुभ के लिए जो इसमें विश्वास करते है और जो ईश्वरीय शासन से सतुष्ट हे । और निस्सन्देह यह विश्वास और सतोप अनिवार्य रूप में उनकी विशेषता है जिन्होने

शायद हमारे समय के भी कुछ प्रसिद्ध दार्शनिको की) इस कल्पित आवश्यकता तक सीमित होने के कारण केवल सतोष प्राप्त करा सकती हैं; जिसके स्थान पर हमारा प्रभु हमें अधिक उच्च विचारो द्वारा प्रेरित करता है और हमें सतोष प्राप्त करने का भी मार्ग बताता है, जव वह हमें विश्वास दिलाता है कि ईश्वर पूर्णतया शुभ और वुद्धिमान् है और सब को अपनी शरण में लेता है, यहाँ तक कि वह हमारे सिर के एक वाल की भी उपेक्षा नहीं करता तो उसमें हमारा पूरा विश्वास होना चाहिए, इस प्रकार कि हम देखें यदि हम इसे समझ सकते हैं, कि जो वह करता है उससे श्रेष्ठतर (न निरपेक्षत , न अपने लिए) किसी वस्तु की इच्छा भी करना असम्भव है। यह इस प्रकार है जैसे हम मनुष्यो से कहें . "अपना कर्तव्य करो और जो उससे मिले उसी में सतुष्ट रहो, न केवल इसलिए कि तुम दैवी नियति का विरोध नहीं कर सकते, अथवा वस्तुओं की प्रकृति (जो हमें शान्त रखने के लिए पर्याप्त है, किन्तु हमें सतुष्ट रखने के लिए नहीं) का, वल्कि इसलिए भी कि तुम्हें एक नेक स्वामी के अधीन रहना है।" और इसे 'ईसाई नियति' कहना चाहिए। देव-विद्या, भूमिका, ए० ४७० बी, ग० ६ ३०।

सम्पूर्ण शुभ के स्रोत से प्रेम करना सीखा है ।[१] यह ठीक है कि परमानन्द (चाहे वह जिस प्रकार की अन्तर्दृष्टि या ईश्वर के प्रेम के साथ उत्पन्न हो) कभी पूर्ण नही हो सकता क्योकि ईश्वर, असीम होने के कारण कभी पूर्णत जाना नही जा सकता ।[२] इस प्रकार हमारे आनन्द में (और यह उचित है कि ऐसा न हो) कभी पूर्ण भोग नही आ सकता, अन्यथा आगे कुछ भी चाहने के लिए शेष न रहेगा और हमारा मन मूढ हो जायगा, किन्तु इसमे सदैव नये सुखो और नयी पूर्णताओ की ओर विकास होता रहेगा ।[३]

१ 'हमें सदैव विगत व्यवस्था से सतुष्ट रहना चाहिए, क्योकि वह ईश्वर की पूर्ण इच्छा के अनुकूल है, जिसे हम जो घटित हो चुका है उसके माध्यम से जानते हैं, किन्तु हमें भविष्य बनाने का जहाँ तक वह हम पर निर्भर है, ईश्वर की सम्भाव्य इच्छा या उसके आदेशों के अनुसार, अपने स्पार्टा को सजाने और भलाई करने के लिए परिश्रम करने का प्रयत्न करना चाहिए, पर सफलता न मिलने पर बिना विक्षुब्ध हुए, इस दृढ विश्वास के कारण कि ईश्वर सुधार के लिए परिवर्तन करने का अधिकतम उपयुक्त अवसर खोज सकेगा । जो जगत् की व्यवस्था से सतुष्ट नहीं हैं वे इस बात के लिए अपनी प्रशसा नहीं कर सकते कि ईश्वर से उतना प्रेम करते हैं जितना उन्हें करना चाहिए ।' आर्नौल्ड को पत्र (१६६०), ए० १०८ ए, ग० ३ १३६ ।

२ लाइबनित्स के मत में ईश्वर का पूर्ण ज्ञान रखने वाला चिद्बिन्दु स्वय ईश्वर हो जा सकता है, जो असम्भव है । इसीलिए, वह उन्हें 'महान् देव के अधीन लघु देव' कहता है ।

३ 'व्यक्तियों के लिए आनन्द उसी प्रकार है जैसे सत्ताओं के लिए पूर्णता ।' शीर्षक रहित लेख (१६८६), ग० ४ ४६२ ।

परिशिष्ट—१

लाइबनित्स से अपने सम्बन्ध पर कान्ट का स्पष्टीकरण[1]

क्रिश्चियन वुल्फ के अनुयायियो ने यह स्थापित करने का प्रयत्न किया था कि कान्ट का दर्शन लाइबनित्स के चिन्तन का ही एक विकृत रूप है । एबरहार्ड को उत्तर देते हुए कान्ट ने १७९० में लाइबनित्स के दर्शन से अपने दर्शन का सम्बन्ध इस प्रकार स्पष्ट किया था (देखिए, रोजेनक्रज, १, पृ० ४७८ से आगे)

'लाइबनित्स की अध्यात्म-विद्या में तीन महत्त्वपूर्ण मौलिक नियम हैं (१) पर्याप्त हेतु का नियम, विशेषत जहाँ तक वह अनिवार्य सत्यो के ज्ञान के निमित्त विरोध के नियम की अपर्याप्तता प्रदर्शित करता है, (२) चिद्बिन्दु विद्या, (३) पूर्व-स्थापित सगति का सिद्धान्त (१) क्या यह मानना पडेगा कि लाइबनित्स का आशय अपने पर्याप्त हेतु के वास्तविक अर्थ में (प्रकृति के एक नियम की भाँति) समझे जाने का था, जब कि उसने अपने इस नियम को पूर्ववर्ती दर्शन के नियमो में कुछ नया जोडने के अर्थ में महत्त्व दिया था ? वस्तुत , यह इतना सर्वविदित तथा (उचित सीमाओ के भीतर) प्रत्यक्षत स्पष्ट है कि निकृष्ट-तम बुद्धि भी इसके नवीन आविष्कार की कल्पना नहीं कर सकती । अत इसका अधिक उपहास उन समीक्षको ने ही किया है जिन्होने इसे समझने में भूल की है । किन्तु लाइबनित्स के लिए यह नियम केवल आत्मगत था, कहा जाय, एक ऐसा नियम जिसका सदर्भ केवल बुद्धि की समालोचना है । अन्यथा यह कहने का *अभिप्राय ही क्या कि विरोध के नियम के अतिरिक्त कुछ और प्राथमिक नियम* होने चाहिए ? यह इस कथन के समान है कि विरोध के नियम के अनुसार केवल उतना ही जाना जा सकता है जितना वस्तु की धारणा में समाविष्ट है, किन्तु यदि हम वस्तु के विषय में कुछ और कहना चाहें, तो इस धारणा में कुछ और

१ रावर्ट लैटा की पुस्तक, पृ० २०८–११ ।

जुडना चाहिए, और इस प्रकार हमें विरोध के नियम से भिन्न कोई विशेष नियम खोजना चाहिए, क्योकि हमारे कथनो में उनका अपना विशेष हेतु होना चाहिए। आजकल इस उत्तरवर्ती प्रकार के हेतुवाक्यो को समन्वयात्मक (सिन्थेटिक्) कहा जाता है, और इस प्रकार लाइवनित्स का अभिप्राय इसके अतिरिक्त कुछ नही कि "विरोध के नियम (जो विश्लेषणात्मक निर्णयो का नियम है) के अतिरिक्त एक दूसरा नियम भी होना चाहिए, नामत समन्वयात्मक निर्णयो का।" अध्यात्म-विद्या के क्षेत्र में छान-वीन के निमित्त जिसका तब तक प्रारम्भ नही किया गया था (और वस्तुत जिसे अभी निकट भूतकाल में प्रारम्भ किया गया है) यह एक नवीन और प्रशसनीय निर्देश था। (२) क्या यह माना जाय कि लाइवनित्स-जैसे महान् गणितज्ञ ने यह प्रतिपादित किया था कि पिण्डो की रचना चिद्विन्दुओ से हुई है (और फलत यह कि देश सरल भागो से बना हुआ है) ? उसने शारीर जगत् की ओर सकेत नही किया था, वल्कि उसके आधार की ओर जो हमारे लिए अदृश्य है, नामत वोधगम्य जगत् जिसका सम्बन्ध केवल वुद्धि के प्रत्यय से है, और जिसमें निस्सदेह हमें उन वस्तुओ में से प्रत्येक को जिन्हे हम यौगिक द्रव्य समझते हैं, इस प्रकार अपने समक्ष रखना चाहिए मानो वह सरल द्रव्यो से निर्मित हो। वह, प्लेटो की भाँति मानव मन पर इन अतीन्द्रिय सत्ताओ के एक मूलभूत वौद्धिक अन्तर्बोध का, जो यद्यपि वर्तमान स्थिति में धूमिल ही है, आरोप करता हुआ प्रतीत होता है। किन्तु ऐसा करने में वह इन्द्रियो के विषयो की ओर सकेत नही करता, जिनको वह एक ऐसे विशिष्ट प्रकार के अतर्बोध के हवाले कर देता है, जिसकी हममें उन्ही वस्तुओ के प्रसग में क्षमता है जिन्हें हम वस्तुत जान सकते हैं, और वह इन्द्रियो के विषयो को दृश्य मात्र (जैसा इस पद के सयत प्रयोग में समझा जाना चाहिए), अतर्बोध के विशिष्ट प्रकार, जो केवल हम में ही पाये जाते है, समझता है। इस प्रसग में हमें एक प्रकार के गर्भित प्रत्यक्ष के रूप में उसकी सवेदना की व्याख्या के लिए अपने को किंकर्तव्यविमूढ नही होने देना चाहिए, वल्कि उसके प्रयोजन से अधिक सगत किसी दूसरी व्याख्या को स्थानापन्न कर लेना चाहिए , अन्यथा उसका दर्शन अपने आप में असगत होगा। इस दोष को लाइवनित्स का इच्छित एव सचेत चिन्तन मान लेने के लिए (जैसे प्रतिलिपिकार अपनी प्रतिलिपि को ठीक मूल-जैसी बनाने के लिए रचना और

भाषागत दोषो को भी उतार लेते है) उसके अनुयायियो को अपने गुरु की ख्याति के प्रति किसी सेवा का श्रेय नही दिया जा सकता । इसी प्रकार, यदि इसे बहुत शाब्दिक अर्थ में लिया जाता है, तो लाइबनित्स के कुछ धारणाओ की अन्तर्जातता* के प्रसग में व्यक्त किये हुए मत की अशुद्ध व्याख्या होती है—अतर्जातता, जिससे वह एक आधारभूत विभाग अर्थ समझता है, जिसको हमारे ज्ञान के प्रागनुभविक नियमो का स्रोत माना जा सकता है इस विचार का वह लॉक के विरुद्ध प्रयोग करता है, जिसने इन नियमो के आनुभविक स्रोत के अतिरिक्त कोई अन्य स्रोत स्वीकार नही किया था । (३) क्या यह मानना सम्भव है कि आत्मा और शरीर के बीच पूर्व-स्थापित सगति से लाइबनित्स का अर्थ किन्ही ऐसी दो सत्ताओ के बीच पारस्परिक सहमति था, जो अपने स्वभाव की दृष्टि से एक दूसरे से बिलकुल स्वतन्त्र तथा अपनी निजी शक्तियो द्वारा सयुक्त हो पाने में असमर्थ है ? यह तो प्रत्ययवाद की घोषणा होती , क्योकि सामान्य रूप में पिण्डो के अस्तित्व को क्यो स्वीकार किया जाय, यदि यह मानना सम्भव है कि आत्मा में जो कुछ घटित होता है उसकी निजी शक्तियो का परिणाम है, जो वह बिलकुल पृथक् होने पर भी सम्पन्न कर सकती थी ? आत्मा और दृश्य का आधार (जिसे हम बिलकुल नही जानते) जिसे हम पिण्ड कहते है वस्तुत दो बिलकुल भिन्न सत्ताएँ है, किन्तु ये दृश्य, विषयी (आत्मा) के स्वभाव पर निर्भर अपने अतर्बोध के मात्र प्रकार होने से केवल प्रत्यक्ष है । अत बाह्य वस्तुओ को प्रत्ययवाद की भेंट किये बिना ही, एक ही विषयी में बोध और इन्द्रिय सम्बन्ध को, कुछ प्रागनुभविक नियमो तथा बाह्य वस्तुओ पर इन्द्रिय की अनिवार्य एव स्वाभाविक निर्भरता के आधार पर, समझा जा सकता है । इस बोध और इन्द्रिय की सगति के पक्ष में, जहाँ तक यह प्रागनुभविक रूप में प्रकृति के सामान्य नियमो का ज्ञान सम्भव बनाती है, समीक्षावाद ने युक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है कि इस सगति के बिना कोई भी अनुभव सम्भव नही । किन्तु हम कोई भी कारण नही बता सकते कि हम में इस प्रकार की इन्द्रिय और इस स्वभाव का बोध क्यों है कि उनके सयोग से अनुभव सम्भव

*Innateness

होता है। आगे, हम कोई भी कारण नही पा सकते कि वे ज्ञान के इतने बेमेल स्रोत होते हुए भी आनुभविक ज्ञान को सम्भव बनाने में सामान्यत और मुख्य रूप में (जैसा कि निर्णय की समीक्षा प्रदर्शित करती है) प्रकृति के अनुभव को, अपने अनेक विशेष और केवल आनुभविक नियमो के अधीन, सम्भव बनाने में, जिसके सम्बन्ध में प्रागनुभविक रूप से बोध हमें कुछ भी ज्ञान नही कराता, सामजसित होते हैं। न हम और न कोई दूसरा ही इस बात को समझा सकता है कि यह सगति इतनी पूर्ण क्यो है, मानो प्रकृति की व्यवस्था विशेष रूप से हमारी समझने की शक्ति के अनुसार की गयी है। लाइबनित्स ने सयोग के इस विधान को (विशेषत पिण्डो के ज्ञान के सदर्भ में और मुख्यत इस सम्बन्ध में शरीर के मध्य अवयव होने के सदर्भ में) पूर्व-स्थापित सगति कहता है। स्पष्ट है कि उसने इस प्रकार उक्त सयोग की कोई व्याख्या नही की और न व्याख्या करने की प्रतिज्ञा ही की। उसने केवल सकेत किया था कि हमें यह मानना चाहिए कि हमारे और हमसे बाहर की सभी वस्तुओ के परम कारण के द्वारा इस प्रकार की व्यवस्था की गयी है कि उसमें अतिम लक्ष्य के प्रति अनुकूलता हो। यह प्रयोजन सृष्टि के समय वर्तमान (पूर्व-स्थापित) माना गया है, फिर भी यह पूर्व-स्थापित अनुकूलता उन वस्तुओ के बीच नही है, जिन्हें एक-दूसरे से बाह्य समझा जा सकता है, बल्कि हमारी सवेद और बोध की मानसिक शक्तियो के बीच, प्रत्येक के दूसरे से सम्बन्धित विशिष्ट गठन के अनुसार है। इस प्रकार समीक्षावाद की शिक्षा यह है कि वस्तुओ के प्रागनुभविक ज्ञान के निमित्त, ये शक्तियाँ मन में एक-दूसरे से सम्बद्ध होनी चाहिए। यही लाइबनित्स का अर्थ था यद्यपि उसने इसे स्पष्टतया विकसित नही किया इससे भी प्रतीत होता है कि वह पूर्व-स्थापित सगति के उपयोग को आत्मा और शरीर के सम्बन्ध से आगे प्रकृति के राज्य और महिमा के राज्य (परम लक्ष्य से सम्बन्धित लक्ष्यो का राज्य अर्थात्, नैतिक नियमो के अधीन मनुष्य) के बीच स्थित सम्बन्ध तक बढाता है। यहाँ सगति का अर्थ हमारी प्रकृति-सम्बन्धी धारणाओ और हमारी स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणाओ से निगमित तथ्यो के बीच सगति समझा जाना चाहिए, और इस प्रकार इसे हमारे भीतर स्थित दो पूण रूप में भिन्न शक्तियो के बीच, जिनके नियम पूर्णतया असमान है, स गति समझना चाहिए, उन दो भिन्न वस्तुओ के बीच की सगति नही, जिन्हें एक-

दूसरे से बाह्य माना जा सकता है । और यह सगति, जैसी समीक्षा की शिक्षा है, किसी भी प्रकार रचित वस्तुओ के स्वभाव से नही समझी जा सकती, किन्तु चूकि वह हमारे लिए सारत एक आकस्मिक सगति है, उसे जगत् के एक चेतन कारण के सकेत द्वारा समझा जा सकता है ।'

परिशिष्ट–२

लाइवनित्स और बेली के बीच परिसवाद[1]

प्रसग चिद्बिन्दु मे वहुता

चिद्बिन्दु विद्या के १६ वें अवतरण में, लाइवनित्स ने चिद्बिन्दु में बहुता की स्थापना की है। बेली ने अपने कोश में, 'रोरेरियस' लेख के अतर्गत उक्त स्थापना की कठिनाइयो को विविध रूपो मे व्यक्त किया है। वह कहता है

"चूंकि लाइवनित्स प्रचुर युक्तियो के साथ कल्पित करता है कि सभी आत्माएँ सरल और अविभाज्य हैं, यह समझ पाना असम्भव है कि फिर घडी से उनकी समानता कैसे मानी जा सकती है। कथन का तात्पर्य यह है कि उस मौलिक गठन के बावजूद वे अपने स्रष्टा से प्राप्त स्वत स्फूर्त क्रिया द्वारा अपने व्यापारो में विविधता किस प्रकार ला सकती है। हम भली भाँति समझते है कि एक सरल सत्ता, यदि कोई बाह्य कारण उसके साथ सघर्ष न करे तो सदैव समरूप व्यवहार करेगी। यदि वह किसी यन्त्र की भाँति अनेक भागो से बनी होती तो विविध व्यवहार कर सकती थी, क्योंकि प्रत्येक भाग की क्रिया किसी क्षण दूसरे भागो की क्रिया का मार्ग बदल देती । किन्तु, किसी स्वतन्त्र सरल द्रव्य में आपको उसके व्यापार में विविधता उत्पन्न करने वाला कारण कहाँ मिलेगा ?"

लाइवनित्स का उत्तर, जो १७०२ में प्रकाशित हुआ था, इस प्रकार है

"मैंने घडी से आत्मा की तुलना केवल उसके परिवर्तनो में एक निर्धारित नियमाग्रह की दृष्टि से की थी। बढिया से बढिया घडियो में यह अपूर्ण ही रहता है, किन्तु ईश्वर-निर्मित वस्तुओ में पूर्ण होता है। और आत्मा को एक सर्वोच्च प्रकार का अपदार्थ स्वयचालित यन्त्र कहा जा सकता है। जब यह कहा जाता है

1 रावर्ट लैटा की पुस्तक, पृ० २७२–७४।

कि एक सरल सत्ता सदा एक ही रूप में व्यापार करेगी, तो एक भेद करने की आवश्यकता होती है कि एक रूप में व्यापार करने का अर्थ निरन्तर क्रम के उसी नियम का पालन करना है अथवा क्रम मे परिवर्तन करते रहना, जैसा सख्याओ के किसी क्रम या श्रेणियो मे होता है। मै मानता हूँ कि अपने आप में प्रत्येक सरल सत्ता, यहाँ तक कि यौगिक सत्ता भी, समरूप व्यवहार करती है, किन्तु यदि समरूप का अर्थ 'ठीक उसी प्रकार' है तो मैं नही मानता आत्मा यद्यपि पूर्णतया सरल है, फिर भी उसमें सदैव एक भाव विद्यमान रहता है, जो बहुत-से प्रत्यक्षो के मिलने से बनता है, और यह हमारे लिए उसी प्रकार हं जैसे वह यन्त्र की भाँति बहुत-से भागो के मिलने से बनी हो। क्योकि प्रत्येक पूर्ववर्ती प्रत्यक्ष उत्तरवर्ती प्रत्यक्षो को एक नियम के अनुसार प्रभावित करता है जो प्रत्यक्षो में उसी प्रकार पाया जाता है जैसे स्पदनो में।"

बेली यह मान लेता है कि लाइबनित्स के मत में एक ऐसे सिद्धान्त की प्रतिज्ञा छिपी है जो सभी कठिनाइयो को सरल कर देगा, फिर भी वह इस विचार से सतुष्ट नहीं होता कि मनुष्य की आत्मा के समान सरल द्रव्य में विचार सम्बन्धी सम्पूर्ण विविधता को स्वत विकसित करने की शक्ति है। वह यह नहीं मानता कि उसमें ऐसा करने के लिए 'आवश्यक साधन' हैं। वह कहता है "अच्छा, हम एक ऐसे जन्तु की स्वतन्त्र कल्पना कर लेते हैं, जिसे ईश्वर ने लगातार गाते रहने के लिए पैदा किया है। तो, वह हमेशा गाता रहेगा, इसमें कुछ भी सन्देह नही, किन्तु यदि ईश्वर उसके गाने के लिए सगीत का कोई टुकडा निश्चित कर देता है, तो वह अवश्य ही या तो उसे उसकी आँखो के सामने रख देगा, या उसकी स्मृति पर छाप देगा, या उसमें मासपेशियो का ऐसा विन्यास करेगा कि एक स्वर दूसरे का, यन्त्रशास्त्र के नियमो के अनुसार, ठीक सगीत की स्वरलिपि के क्रम में अनुगमन करता रहे। अन्यथा यह अचिन्त्य है कि वह जन्तु ईश्वर द्वारा सकेतित सम्पूर्ण स्वर-विधान का कभी भी निर्वाह कर सकेगा। अब हम इसे ही मनुष्य की आत्मा पर घटित करें। मॉ० लाइबनित्स सोचते हैं कि उसने न केवल अपने आप को निरन्तर विचारों से पूरित रखने वाला अधिकाय प्राप्त किया है, बल्कि वह अधिकाय भी प्राप्त किया है, जिससे वह अपने विचारों में एक इस प्रकार दिये हुए क्रम का निर्वाह करती है जो शरीर-यन्त्र में निरन्तर होने वाले परिवर्तनो

के अनुरूप है। विचारो का यह क्रम उसी प्रकार है जैसी सगीत की स्वरलिपि जो उस गाने वाले जन्तु के लिए जिसकी हम अभी चर्चा कर रहे थे निर्धारित थी। इसलिए कि आत्मा एक क्षण से दूसरे क्षण तक अपने प्रत्यक्षो या अपने विकारो को विचारो की "स्वरलिपि" के अनुसार बदल सके, क्या आत्मा के लिए स्वरो के क्रम को जानना और इस विषय पर वास्तविक रूप मे विचार करना आवश्यक नही है? पर अनुभव हमें बताता है कि वह इस प्रकार का कुछ भी नही करती। और इस ज्ञान के अभाव में, क्या आत्मा में विशिष्ट यन्त्रो की किसी ऐसी परम्परा की आवश्यकता नही है जिसमें से प्रत्येक यन्त्र इस या उस विचार का अनिवार्य कारण बन सके? क्या इन यन्त्रो का इस प्रकार स्थित होना आवश्यक नहीं है कि उनमें से प्रत्येक दूसरे पर, शारीरिक यन्त्र-प्रणाली के परिवर्तनो और आत्मा के विचारो के बीच पूर्व-स्थापित सगति के ठीक अनुरूप, क्रिया कर सके? पर, यह सन्देहरहित है कि कोई भी अपदार्थ, सरल और अविभाज्य द्रव्य असख्य विशिष्ट यन्त्रो के इस प्रकार के जन्तु से बना हुआ नही हो सकता जिसमें एक यन्त्र दूसरे के सामने उसी क्रम में रखा हो जो उक्त "स्वरलिपि" के लिए आवश्यक है। तदनुसार मानवीय आत्मा के लिए इस नियम का पालन कर पाना असम्भव है।"

बेलो की ईश्वर द्वारा निरन्तर गाते रहने वाले जन्तु की रचना की कल्पना की ओर सकेत करते हुए, १७०२ में, लाइबनित्स ने अपना उत्तर इस प्रकार प्रस्तुत किया

"इतना ही मान लेना पर्याप्त है कि किसी गायक को किसी गिर्जाघर या नाट्यशाला में दिये हुए समय पर गाने के लिए नियुक्त किया जाता है और यह कि वहाँ उसे गीतो की एक पुस्तक मिलती है, जिसमें सगीत के वे टुकडे या 'स्वरलिपियाँ' दी हुई हैं, जिन्हें उसे विशेष दिनो और घण्टो में गाना है। गाने वाला खुली हुई किताब सामने रखकर गाता है, उसकी आँखें पुस्तक से निर्देश प्राप्त करती हैं, और उसकी जिह्वा और कण्ठ आंखो से निर्देश प्राप्त करते हैं, किन्तु उसकी आत्मा, कह सकते हैं, स्मृति या किसी स्मृति-जैसी वस्तु की सहायता से गाती है, क्योकि सगीत की पुस्तक, आँखें और कान चूंकि आत्मा पर क्रिया नही कर सकते, अवश्य ही वह अपने आप, और सचमुच बिना किसी कठिनाई या किसी अन्य वस्तु के

प्रयोग के और विना खोजे हुए, उन तथ्यो को पा जाती है, जिन्हें मस्तिष्क और इन्द्रियाँ पुस्तक की सहायता से पाते हैं। कारण यह है कि प्रयुक्त पुस्तक की सम्पूर्ण स्वर-पद्धति या उन पुस्तको की जो आगे चल कर, एक के वाद दूसरी, गाने में प्रयुक्त होगी, उसकी आत्मा में, अव्यक्त रूप में अपने अस्तित्व के प्रारम्भ से अकित है, जैसे यह 'स्वर-लिपि' किसी प्रकार अपने उपादान कारणो में, सगीत के टुकडो की रचना और उनसे पुस्तक निर्मित होने से पहले से ही अकित थे। किन्तु, आत्मा इससे अवगत नही हो सकती, क्योकि वह आत्मा के उन उलझे हुए प्रत्यक्षो में आवृत रहती है जो जगत् के सभी अवयवो को अभिव्यक्त करते है। और आत्मा इसे स्पष्ट रूप में तभी जानती है जव उसके अग 'स्वर-लिपि' में सम्मिलित स्वरो से गहन रूप में प्रभावित होते हैं। मैं अनेक बार यह दिखा चुका हूँ कि आत्मा वहुत-से कार्य विना यह जाने हुए ही करती है कि वह उन्हें कैसे करती है, क्योकि वह इन्हें गुफित प्रत्यक्षो और अचेतन प्रवृत्तियो या रोचनो के माध्यम से करती है जिनकी हमेशा इतनी वडी सख्या होती है कि आत्मा के लिए उन सव का जानना या स्पष्ट उद्घाटन असम्भव होता है। आत्मा में वे सव यन्त्र हैं जिन्हें मॉ० वेली आवश्यक समझते हैं और उसी प्रकार व्यवस्थित हैं जैसे उन्हें होना चाहिए। किन्तु, वे भौतिक यन्त्र नही है। वे पूर्ववर्ती प्रत्यक्ष है, जिनसे रोचन के नियमो के अनुसार अनुवर्ती प्रत्यक्ष प्रकट होते हैं।

परिशिष्ट–३

ईश्वर की सत्ता के प्रमाण[1]

"लाइबनित्स के मत को, जिसे उसने चिद्बिन्दु-विद्या के ४४–४५ वें अवतरणो में व्यक्त किया है, देकार्त की युक्ति (जिसे उसने एन्सेल्म से प्राप्त किया था कि ईश्वर के विचार में उसकी सत्ता निहित है, क्योंकि यदि उसकी सत्ता नही है, तो एक उससे अधिक पूर्ण सत्ता की कल्पना की जा सकती है, नामत वह जिसकी सत्ता है।) से पृथक् समझने की सतर्कता करनी चाहिए। उसके मत को स्पिनोजा के मत से भी भिन्न समझना चाहिए, जिसका तात्पय यह है कि ईश्वर के सार में सत्ता निहित है, क्योंकि सभी सारोका अस्तित्व है, सभी कुछ जो सम्भव है वास्तविक भी है। देकार्त के प्रमाण के विरुद्ध लाइबनित्स का तर्क यह है कि वह अपूर्ण है, क्योंकि सबसे अधिक पूर्ण सत्ता का विचार, तीव्रतम सम्भाव्य गति या बृहत्तम सम्भाव्य सख्या के विचार की भाँति स्वविरोधी हो सकता है। इस प्रकार कार्त्तीय युक्ति कथन के बाद लाइबनित्स कहता है "किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि युक्तियुक्त निष्कर्ष केवल यही है 'यदि ईश्वर सम्भव है, तो यह प्राप्त होता है कि उसकी सत्ता है।' क्योंकि हम निर्विघ्न होकर किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के निमित्त परिभाषाओ का प्रयोग तब तक नही कर सकते जब तक यह न जानते हो कि ये परिभाषाएँ सत्य है, अथवा इनमें कोई विरोध अतर्भूत नही है। इसका कारण यह है कि उन धारणाओ से, जिनमें विरोध अतर्भूत है, एक ही साथ दो विरोधी परिणाम प्राप्त किये जा सकते है, जो करना निरर्थक है। इसे उदाहृत करने के लिए मै प्राय तीव्रतम सम्भव गति का दृष्टान्त रखता हूँ, जिसमें असगति छिपी है। क्योंकि मान लीजिए एक पहिया तीव्रतम सम्भव गति से घूमता हो, तो क्या यह स्पष्ट नही है कि यदि उसकी एक तीली लम्बी कर दी जाय (गणित

१ राबर्ट लेटा की पुस्तक, पृ० २७४–७७।

के अर्थ में, वढा दी जाय) तो उसका सिरा पहिये की परिधि पर स्थित किसी कीली से तेज घूमेगा, जिससे परिधि की गति तीव्रतम सम्भव नही रह जाती, जैसा कल्पित किया गया था । फिर भी, पहली निगाह में ऐसा ही लगता है कि हम तीव्रतम सम्भव गति का विचार रखते हैं, क्योकि हमें लगता है कि हम जो कह रहे हैं उसका अर्थ समझते है, और कम-से-कम असम्भव वस्तुओ के विचार तो हममें नही होते ।"—ज्ञान, सत्य और विचार पर चिन्तन (१६८४) ए० ८० ए, ग० ४ ४२४ ।

"अत , निश्चय ही यह सन्देह करने योग्य है कि सभी सत्ताओ की अपेक्षा महत्तम सत्ता का विचार अनिश्चित तो नही है, और यह कि इसमें कोई विरोध तो नही है । क्योकि, उदाहरणार्थ, मैं गति और वेग की प्रकृति भलीभाँति समझता हूँ, और यह भी कि "महत्तम" क्या होता है, किन्तु मैं यह नही समझता कि ये परस्पर सगत हैं या नही, और इन्हें आपस में मिलाकर, अधिकतम वेग का, जिसकी गति में सामर्थ्य हो, एक विचार वना लेना सम्भव है अथवा नही । उसी प्रकार यद्यपि मैं जानता हूँ 'सत्ता' क्या है और 'महत्तम' तथा 'सर्वाधिक पूर्ण' क्या है, फिर भी मैं यह नहीं जानता कि इन्हें आपस में मिला देने में कोई विरोध निहित नहीं है, जैसा कि उन उदाहरणो में जो मैंने अभी प्रस्तुत किये हैं वस्तुत प्राप्त है । फिर भी मैं यह मानता हूँ कि ईश्वर को अन्य वस्तुओ की अपेक्षा इस प्रसग में वहुत सुविधा है । क्योकि, यह सिद्ध करने के लिए कि उसकी सत्ता है, यह सिद्ध कर देना पर्याप्त है कि वह सम्भव है, जो करना किसी दूसरी वस्तु के सदर्भ में जिसे मैं जानता हूँ उचित नही है । सरल आकार (अथवा, जीवित प्राणी) वस्तुओ के स्रोत हैं । अव मैं यह स्थापना करता हूँ कि सभी सरल आकार परस्पर सगत हैं। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय, तो यह प्राप्त होता है कि ईश्वर की प्रकृति, जिसमें सभी सरल आकार सम्पूर्ण रूप से गृहीत होने पर भी अतर्भूत हैं, सम्भव है । ऊपर हम सिद्ध कर चुके हैं कि ईश्वर है, यदि वह सम्भव है । इसलिए उसकी सत्ता है ।" ग० ४ २९४ तथा २९६ इस प्रकार लाइवनित्स, जैसा वह स्वय कहता है, उन दोनो के वीच की स्थिति का निर्वाह करता है जो कार्तीय प्रमाण को छल-युक्ति समझते है और जो कहते है कि वह पूर्ण न्याय है । लाइवनित्स के अनुसार, ईश्वर की सत्ता अपरोक्षत उसकी सम्भावना से अनुगमित होती है,

क्योंकि सम्पूर्ण सत्य की सम्भावना में सत्ता की प्रवृत्ति सम्मिलित है, और एक ऐसी सत्ता में जिसे पूर्ण माना जाता है, इस प्रवृत्ति का कोई बाधक नहीं हो सकता। 'द्वितीय प्रतिवादो के उत्तर' में देकार्त एक पूर्णतम सत्ता के विचार की सम्भावना स्थापित करता है। किन्तु, जैसा लाइबनित्स करता है, वह इसे अपने प्रमाण का मुख्य, अथवा अश नही बनाता। देकार्त चिन्तन, ५, दर्शन के मूल सिद्धान्त, भाग १, अवतरण १४ के आगे देखिए।

लाइबनित्स ने 'देकार्त के सामान्य सिद्धान्तों के आंशिक खण्डन' (१६९२) में यह सकेत किया है कि देकार्त की युक्ति को, बिना 'पूर्णता' की चर्चा के ही, केवल यह कह कर सरल रूप मे व्यक्त किया जा सकता है कि 'एक अनिवार्य सत्ता स्थित है, अथवा एक सत्ता जिसका सार अस्तित्व है, अथवा आत्म-स्थ सत्ता (एन्स ए से) स्थित है—जैसा पदो से स्पष्ट है। चूंकि ईश्वर इस प्रकार की सत्ता है (ईश्वर की परिभाषा से), इसलिए ईश्वर का अस्तित्व है। यह युक्ति स्थिर रहती है यदि यह मान लिया जाय कि एक अनिवार्य सत्ता सम्भव है और उसमें कोई विरोध निहित नही है, अथवा यह, जो वही, बात है, कि वह सार, जिससे सत्ता अनुगमित होती है, सम्भव है।' अन्यत्र लाइबनित्स सकेत करता है कि 'जो लोग यह मानते हैं कि केवल धारणाओ, विचारो, परिभाषाओ या सम्भव सारो से वास्तविक अस्तित्व हम कभी अनुमित नही कर सकते आत्मस्थ सत्ता की सम्भावना का निराकरण करते हैं। किन्तु 'यदि आत्मस्थ सत्ता असम्भव है, तो अन्य से प्राप्त सभी सत्ताएँ (एन्तिया अब एलिओ) असम्भव है, क्योंकि वे आत्म-स्थ सत्ता के माध्यम से ही स्थित हैं इस प्रकार कोई अस्तित्व नही रह सकता।'

स्पिनोज़ा के विरुद्ध लाइबनित्स की युक्ति इस प्रकार होती कि सभी कुछ जो सम्भव है वास्तविक नही है, बल्कि केवल अनुगुण अथवा सगत है। ऐसे भी 'सम्भव' या सार हैं जिनमे अस्तित्व सम्मिलित नही, और परिणामत अनिवार्य सत् जिसके सार में अस्तित्व सम्मिलित है, सब नहीं केवल जगत् की रचित वस्तुओ से पृथक् कुछ है। किसी रचित सत्ता के सार में अस्तित्व नही सम्मिलित रहता है, क्योंकि वह सीमित है, और इसलिए उसका अस्तित्व दूसरे सारो के साथ इस प्रकार सगत होने पर निर्भर रहता है कि वह उनके साथ मिल कर श्रेष्ठतम सम्भव जगत् का निर्माण करे। किन्तु किसी अनिवार्य सत्ता के सार में अस्तित्व सम्मिलित

रहता है, क्योंकि वह असीम है—उसके अस्तित्व को कोई बाधित या सीमित नहीं कर सकता । इसलिए यदि वह सम्भव है तो उसका होना आवश्यक है । लाइब-नित्स की युक्ति का मूल्य उसके 'सम्भव' और 'अनुगुण' के बीच किये हुए अन्तर के मूल्य पर निर्भर है, अथवा तात्त्विक या निरपेक्ष अनिवार्यता और नैतिक या इच्छित अनिवार्यता के अन्तर पर । किन्तु, ये दोनो अनिवार्यताएँ परस्पर किस प्रकार सम्बद्ध हैं ? एक का सम्बन्ध बुद्धि से और दूसरी का ईश्वर की इच्छा से स्थापित करना दोनो के बीच विरुद्धता का कठिनाई से सतोषप्रद हल है । यहाँ हमें फिर लाइबनित्स के दर्शन की मौलिक त्रुटि मिलती है अविरोध और पर्याप्त हेतु के नियमो के बीच सम्बन्ध की अनिश्चितता ।

युक्तिशून्य मान कर कान्ट इस पूरे तर्क का इस आधार पर तिरस्कार कर देता है कि 'अस्तित्व' कभी विधेय नही हो सकता । इस कथन का तात्पर्य यह है कि तार्किक दृष्टि से हम किसी विचार मात्र से उसकी अन्तर्वस्तु के अस्तित्व की स्थापना करने में न्यायसगत नही हो सकते ।(देखिए, शुद्ध बुद्धि की समीक्षा, माइक्ल्जॉन का अनुवाद, ३६४) यह सत्य है कि हम कभी भी किसी विचार मात्र से उसकी अतर्वस्तु के अस्तित्व पर नही जा सकते, किन्तु यहाँ इसे युक्ति रूप में प्रस्तुत करना तो प्रश्न की याचना करना है । क्योकि मात्र-विचार उस वस्तु का विचार है जो अनस्तित्ववान् भी हो सकती है, जब कि अनिवार्य सत्ता का विचार उस वस्तु का विचार है जो कभी अनस्तित्ववान् नही हो सकती ।

गौनिलो ने अपने 'लिबर प्रो इन्सीपिएन्ते' में कान्ट के विरोध की अपेक्षा की थी, और ऐन्सेलम ने 'लिबर ऐपॉलोजेतिकस काम्रा रेस्पान्देंतेम प्रो इन्सीपिएन्ते' में, अन्य तथ्यो के साथ, यह कह कर उत्तर दिया था 'आओ, हम यह मान लें कि परम ज्ञेय का अस्तित्व इसलिए आवश्यक नही है कि उसका विचार किया जाता है । किन्तु इसके परिणाम की ओर ध्यान दीजिए । बिना सत्य अर्थ में अस्तित्व हुए जिसका विचार किया जा सकता है, वह यदि है भी तो परम ज्ञेय नही है । इस प्रकार, इस परिकल्पना के आधार पर परम ज्ञेय है और वह परम ज्ञेय नही है, जो अततोगत्वा अर्थशून्य है । (रिग सेंट ऐन्सेलम ऑव कैन्टर्बरी, पृ० ७१, पाँचवाँ अध्याय सम्पूर्ण देखिए)।